दर्शनशास्त्र

कक्षा 12

माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान, अजमेर

पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति

दर्शनशास्त्र

कक्षा 12

संयोजक

डॉ. चित्रा अरोड़ा
सेवानिवृत प्राचार्य
राजकीय सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर

लेखकगण

डॉ. सुमित्रा चारण
व्याख्याता, दर्शनशास्त्र
डूंगर कॉलेज, बीकानेर

डॉ. नीलम
व्याख्याता, दर्शनशास्त्र
से.मु.मा. कन्या महाविद्यालय
भीलवाड़ा

डॉ. अरुण कुमार शर्मा
सहायक निदेशक
माध्यमिक शिक्षा निदेशालय, बीकानेर

पाठ्यक्रम समिति

दर्शनशास्त्र

कक्षा 12

संयोजक

प्रो. चन्द्र शेखर चौधरी
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर

सदस्यगण

डॉ. रेखा यादव
एसो. प्रोफेसर
सम्राट पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय
अजमेर

डॉ. निर्मल गर्ग
व्याख्याता, राजकीय कन्या महाविद्यालय
खैरवाड़ा, उदयपुर

प्राक्कथन

अध्ययन विषय के रूप में दर्शन शास्त्र अपने विषय–वस्तु की दृष्टि से अन्य विषयों से भिन्न प्रकृति का विषय है। विषय को शुष्क एवं कठिन समझकर अल्प विद्यार्थी ही इसका चयन करते है, किन्तु यह भी सर्वविदित है कि शिक्षा का ध्येय केवल रोजगार दिलवाना और महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति करवाना मात्र नही होता। मानवीय जीवन का मूल स्वरूप चिन्तनात्मक, मूल्य एवं नीतिपरक है। निःसंदेह दर्शनशास्त्र ही वह विषय है, जिसके अध्ययन से विद्यार्थी में बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास सम्भव होता है। मनुष्य को मनुष्य बनाए रखने में इस विषय का बहुत बड़ा योगदान रहा है।

दर्शनशास्त्र की उपादेयता इस दृष्टि से भी प्रमाणित होती है कि इस विषय को सभी प्रशासनिक प्रतियोगियों परीक्षाओं, रेलवे, बैंक, बी.एड. आदि में होने वाली परीक्षाओं में आवश्यक विषय के रूप में किसी न किसी अंश में सम्मिलित किया गया है।

माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान, अजमेर ने विषय की उक्त सार्थकता को दृष्टिगत रखते हुए विद्यार्थियों के लिए विषय कों सुगम, सरल एवं जीवनोपयोगी बनाने हेतु बोर्ड द्वारा गठित, इस विषय की पाठ्यक्रम समिति द्वारा नवीन पाठयक्रम अनुसार पुस्तक–लेखन का उत्तरदायित्व लेखन मण्डल को पूर्ण विश्वास के साथ सौंपा। लेखन मण्डल इसके लिए माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान, अजमेर को आभार ज्ञापित करता है।

लेखन मण्डल द्वारा उक्त उत्तरदायित्व का निर्वहन करते हुए, पाठयक्रमानुसार भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन के दार्शनिक, नैतिक एवं धार्मिक चिन्तन को सरल, सुगम बनाने का पूर्ण प्रयास किया गया है। प्रत्येक अध्याय से सम्बधित वस्तुनिष्ठ, अति लघुत्तरात्मक, लघुत्तरात्मक एवं निबंधात्मक प्रश्नों का उल्लेख भी किया गया है, ताकि विद्यार्थी को परीक्षा की तैयारी में मार्गदर्शन मिल सके।

विश्वास है कि यह पुस्तक शिक्षकों एवं विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। फिर भी शिक्षाविंदों, विषय–विशेषज्ञो एवं विद्यार्थीयों का अमूल्य सुझाव यदि हमें मिला तो हम उनके अभारी रहेंगे।

संयोजक एवं लेखन मण्डल

पाठ्यक्रम (Syllabus)

दर्शनशास्त्र

कक्षा-12

खण्ड (अ)

			अंक
1.	भारतीय दर्शन :		10
	(i)	परिभाषा, स्वरूप एवं सामान्य विशेषताएँ	
	(ii)	भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों का वर्गीकरण (नास्तिक एवं आस्तिक दर्शन एवं ईश्वरवादी एवं अनीश्वरवादी दर्शन	
	(iii)	चार्वाक दर्शन - जड़वाद	
2.	औपनिषदिक दर्शन :		10
	(i)	उपनिषद् - पारिभाषिक स्वरूप एवं प्रमुख उपनिषद् (एकादश)	
	(ii)	ब्रह्म का स्वरूप, जीवात्मा का स्वरूप एवं अवस्थाएँ (जाग्रत, स्वप्न, सुश्रुप्ति एवं तूरीय)	
	(iii)	श्रीमद्भगवद्गीता-कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग	
3.	बौद्ध एवं जैन दर्शन :		10
	(i)	बौद्ध दर्शन - चार आर्य सत्य एवं प्रतीत्यसमुत्पाद	
	(ii)	जैन दर्शन - स्याद्वाद व अनेकान्तवाद	
	(iii)	बौद्ध दर्शन एवं जैन दर्शन के नैतिक सिद्धान्त (अष्टांगिक मार्ग-मध्यम प्रतिपदा पंचमहाव्रत, त्रिरत्न)	
4.	योग दर्शन एवं वेदान्त दर्शन :		10
	(i)	योग दर्शन - योग की परिभाषा एवं अष्टांग योग	
	(ii)	वेदान्त दर्शन - शंकराचार्य का अद्वैतवाद, ब्रह्म एवं माया दर्शन	
	(iii)	स्वामी विवेकानन्द - व्यावहारिक वेदान्त की धारणा	
5.	पाश्चात्य दर्शन :		10
	(i)	पाश्चात्य दर्शन का परिचय एवं दर्शन शास्त्र की शाखाएँ (तत्वमीमाँसा एवं ज्ञानमीमाँसा)	
	(ii)	सुकरात एवं प्लेटो - सुकरात की दार्शनिक समस्या एवं पद्धति प्लेटो - ज्ञानमीमांसा, प्रत्यय सिद्धान्त	
	(iii)	अरस्तु एवं डेकार्ट - अरस्तु का कारणता सिद्धान्त, देकार्ट की पद्धति	

खण्ड (ब)

अंक

6. धर्म की भारतीय अवधारणा : 10

(i) धर्म का अर्थ एवं स्वरूप

(ii) रिलिजन का अर्थ एवं स्वरूप, धर्म एवं रिलिजन में अंतर

(iii) इहलौकिकवाद (सेक्यूलेरिज्म) की परिभाषा, अर्थ एवं स्वरूप

7. हिन्दू, जैन एवं बौद्ध धर्म पंथ : 10

(i) हिन्दू धर्म : हिन्दू धर्मपंथ का सामान्य परिचय, विशेषताएँ

(ii) जैन धर्म : जैन धर्मपंथ का सामान्य परिचय, विशेषताएँ

(iii) बौद्ध धर्म : बौद्ध धर्मपंथ का सामान्य परिचय, विशेषताएँ

8. यहूदी, ईसाई एवं इस्लाम धर्मपंथ :

(i) यहूदी धर्मपंथ का सामान्य परिचय, विशेषताएँ

(ii) ईसाई धर्मपंथ का सामान्य परिचय, विशेषताएँ

(iii) इस्लाम धर्मपंथ का सामान्य परिचय, विशेषताएँ

9. पारसी, सिख एवं ताओ धर्मपंथ : 10

(i) पारसी धर्मपंथ का सामान्य परिचय, विशेषताएँ

(ii) सिख धर्मपंथ का सामान्य परिचय, विशेषताएँ

(iii) ताओ धर्मपंथ का सामान्य परिचय, विशेषताएँ

10. धर्मसहिष्णुता एवं सर्वधर्म समभाव : 10

(i) धर्मसहिष्णुता का अर्थ एवं स्वरूप

(ii) धर्मसमभाव का अर्थ एवं स्वरूप

(iii) धर्मसहिष्णुता एवं धर्मसमभाव में अन्तर, विभिन्न धर्मपंथों में सार्वभौमिक जीवन दृष्टि

अनुक्रमणिका

	अध्याय	पृष्ठ
	खण्ड–अ	
1.	भारतीय दर्शन :	01–13
	(i) परिभाषा, स्वरूप एवं सामान्य विशेषताएँ	
	(ii) भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाओं का वर्गीकरण (नास्तिक एवं आस्तिक दर्शन एवं ईश्वरवादी एवं अनीश्वरवादी दर्शन)	
	(iii) चार्वाक दर्शन–जड़वाद	
2.	औपनिषदिक दर्शन :	14–22
	(i) उपनिषद–परिभाषिक स्वरूप एवं प्रमुख उपनिषद् (एकादश)	
	(ii) ब्रह्म का स्वरूप, जीवात्मा का स्वरूप एवं अवस्थाऐं (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय)	
	(iii) श्रीमद्भागवदगीता– कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग	
3.	बौद्ध एवं जैन दर्शन :	23–30
	(i) बौद्ध दर्शन–चार आर्य सत्य एवं प्रतित्यसमुत्पाद	
	(ii) जैन दर्शन–स्याद्वाद व अनेकान्तवाद	
	(iii) बौद्ध दर्शन एवं जैन दर्शन के नैतिक सिद्धान्त (अष्टांगिक मार्ग, मध्यम प्रतिपदा, पंचमहाव्रत, त्रिरत्न)	
4.	योग दर्शन–वेदान्त दर्शन :	31–41
	(i) योग दर्शन–योग की परिभाषा एवं अष्टांगयोग	
	(ii) वेदान्त दर्शन–शंकराचार्य अद्वैतवाद, ब्रह्म एवं माया की अवधारणा	
	(iii) स्वामी विवेकानन्द–व्यवहारिक वेदान्त की धारणा	
5.	पश्चात्य दर्शन :	42–56
	(i) पश्चात्य दर्शन का परिचय एवं दर्शन शास्त्र की शाखाएं (तत्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा)	
	(ii) सुकरात एवं प्लेटो– सुकरात की दार्शनिक समस्या एवं पद्धति प्लेटो–ज्ञानमीमांसा, प्रत्ययसिद्धान्त	
	(iii) अरस्तू एवं देकार्त– अरस्तू का कारणतासिद्धान्त, देकार्त की पद्धति	

	अध्याय	पृष्ठ
	खण्ड–ब	
6.	धर्म की भारतीय अवधारणा :	57–63
	(1) धर्म का अर्थ एवं स्वरूप	
	(2) रिलिजन का अर्थ एवं स्वरूप, धर्म एवं रिलिजन में अन्तर	
	(3) इलौकिकवाद (सेक्यूलेरिज्म) की परिभाषा, अर्थ एवं स्वरूप	
7.	हिन्दू, जैन एवं बौद्ध धर्म–पंथ	64–79
	(1) हिन्दू धर्म–पंथ का सामान्य परिचय एवं विशेषताएं	
	(2) जैन धर्म–पंथ का सामान्य परिचय एवं विशेषताएं	
	(3) बौद्ध धर्म–पंथ का सामान्य परिचय एवं विशेषताएं	
8.	यहूदी, ईसाई एवं इस्लाम धर्म–पंथ :	80–88
	(1) यहूदी धर्म–पंथ का सामान्य परिचय एवं विशेषताएं	
	(2) ईसाई धर्म–पंथ का सामान्य परिचय एवं विशेषताएं	
	(3) इस्लाम धर्म–पंथ का सामान्य परिचय एवं विशेषताएं	
9.	पारसी, सिख एवं ताओ धर्म–पंथ :	89–97
	(1) पारसी धर्म–पंथ का सामान्य परिचय एवं विशेषताएं	
	(2) सिख धर्म–पंथ का सामान्य परिचय एवं विशेषताएं	
	(3) ताओ धर्म–पंथ का सामान्य परिचय एवं विशेषताएं	
10.	धर्म सहिष्णुता एवं धर्मसमभाव समभाव :	98–106
	(1) धर्मसहिष्णुता का अर्थ एवं स्वरूप	
	(2) धर्मसमभाव का अर्थ एवं स्वरूप	
	(3) धर्मसहिष्णुता एवं धर्मसमभाव समभाव में अन्तर, विभिन्न धर्मपंथों में सार्वभौमिक जीवन दृष्टि	

अध्याय–1
भारतीय दर्शन

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। सोचना मनुष्य का विशिष्ट गुण हैं। इसी गुण के कारण वह पशुओं से भिन्न समझा जाता है।विवेक अर्थात सही गलत में भेद करने वाली बुद्धि से युक्त होने के कारण मनुष्य विश्व की विभिन्न वस्तुओं को देखकर उनके स्वरूप को जानने का प्रयास करता हैं।मनुष्य की बौद्धिकता उसे कई प्रश्नों के उतर जानने हेतु प्रेरित करती है जो कि निम्नलिखित अनुसार है–

विश्व का स्वरूप क्या है?इसकी उत्पत्ति किस प्रकार तथा क्यों हुई?विश्व का कोई प्रयोजन है अथवा यह प्रयोजनहींन है?आत्मा क्या है?जीव क्या है?ईश्वर है अथवा नहीं?ईश्वर का स्वरूप क्या है?ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण क्या है? जीवन का चरम लक्ष्य क्या है?सत्ता का स्वरूप क्या है?ज्ञान का साधन क्या है?सत्य ज्ञान का स्वरूप और सीमाऍ क्या है?शुभ और अशुभ क्या है?उचित और अनुचित क्या है?नैतिक निर्णय का विषय क्या है?व्यक्ति और समाज में क्या सम्बन्ध है? आदि।

दर्शन इन प्रश्नों का युक्तिपूर्वक उतर देने का प्रयास करता है।दर्शन में इन प्रश्नों का उतर देने के लिए भावना या विश्वास का सहारा नहीं लिया जाता है,बल्कि बुद्धि का प्रयोग किया जाता है।इन प्रश्नों के लिए मानव का प्रेम या उत्कंठा का भाव व्यक्त होता है।इन प्रश्नों से यह भी सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण विश्व दर्शन का विषय हैं।

इन प्रश्नों का उतर मानव अनादिकाल से देता रहा है और भविष्य में भी निरन्तर देता रहेगा। इन प्रश्नों का उत्तर जानना मानवीय स्वभाव का अंग है। यही कारण है कि यह प्रश्न हमारे सामने नहीं उठता कि हम दार्शनिक बने अथवा नहीं क्योंकि दार्शनिक तो हम हैं ही। इस सम्बन्ध में दार्शनिक हक्सले का यह कथन उल्लेखनीय है कि–'हम सबों का विभाजन दार्शनिक और अदार्शनिक के रूप में नहीं कर सकते बल्कि कुशल और अकुशल दार्शनिक के रूप में ही सम्भव हैं।

(1) परिभाषा, स्वरूप एवं सामान्य विशेषताएं :–

भारतीय दर्शन अर्थ एवम परिभाषा–दर्शन शब्द की उत्पत्ति दृश् धातु से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ है–देखना। यह देखना आन्तरिक अथवा बाहरी हो सकता है। प्रायः दर्शन का अर्थ आलोचनात्मक अभिव्यक्ति,तार्किक मापदण्ड अथवा प्रणाली होता है।यह भी माना जाता रहा है कि बुद्धि की सहायता से मनुष्य जो भी युक्तिपूर्वक तत्वज्ञान प्राप्त करता है उसे दर्शन कहते है।वास्तव में दर्शन में देखना का अर्थ है परम तत्व को देखना अथवा उसका साक्षात्कार करना।इस परम तत्व का साक्षात्कार मोक्ष की अवस्था में ही होता है।इस प्रकार से भारत का दार्शनिक केवल तत्व की बौद्धिक व्याख्या से ही सन्तुष्ट नहीं होता है,बल्कि वह तत्व की अनुभूति प्राप्त करता है।

दार्शनिक तौर पर स्वयं के आन्तरिक अनुभव को प्रमाणित करना तथा उसे तर्कसंगत ढंग से प्रमाणित करना तथा उसे तर्कसंगत ढंग से प्रचारित करना ही दर्शन कहलाता है।जगत में चेतन और अचेतन दो ही पदार्थ है।इसके बाहरी और स्थूल भाव पर बाहर से विचार करने वाले शास्त्र को विज्ञान और सूक्ष्म भाव पर भीतर से निर्णय करने वाले शास्त्र को दर्शन कहते है।

भारतीय दर्शन का स्वरूप–भारतीय दर्शन के अर्थ के पश्चात यह जानना आवश्यक है कि इस दर्शन का स्वरूप कैसा है?इस सम्बन्ध में प्रथम दृष्टया यह तो कहा ही जा सकता है कि भारतीय दर्शन एक व्यावहारिक दर्शन है जिसकी उत्पति आध्यात्मिक असन्तोष से हुई है। प्रो0 मैक्समूलर ने इसी कारण कहा था –'भारत में दर्शन का अध्ययन मात्र ज्ञान प्राप्ति के लिए नहीं किया जाता है बल्कि जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु किया जाता था।'

भारत के दार्शनिकों ने विश्व में विभिन्न प्रकार के दुःखों को पाकर उनके उन्मूलन के लिए दर्शन की शरण ली थी।इस कारण कई आलोचक भारतीय दर्शन के स्वरूप पर एक आक्षेप लगा देते है कि यह एक निराशावादी दर्शन है।यह ठीक है कि अधिकांश भारतीय दर्शनों इस संसार को दुखःमय माना तथा दुःख और संसार से मुक्ति को समानार्थक माना किन्तु दुःखों से मुक्ति सम्भव है और दुःख मुक्ति के उपाय क्या है यह उल्लेख करके भारतीय दर्शन मनुष्य के जीवन में आशा का संचार करता है जिससे सिद्ध होता है कि भारतीय दर्शन निराशावादी नहीं है बल्कि इसका स्वरूप आशावादी है।

भारतीय दर्शन के स्वरूप के सम्बन्ध में एक अन्य स्पष्टीकरण यह भी आवश्यक है कि भारतीय दर्शन का अर्थ हिन्दू दर्शन नहीं है। प्राचीन तथा अर्वाचीन, हिन्दू और अहिन्दू, आस्तिक और नास्तिक तथा ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी जितने प्रकार के भारतीय दार्शनिक विचार है उन सभी को संयुक्त रूप से भारतीय दर्शन कहते है।भारतीय दर्शन के स्वरूप की इस विशेषता को हम माधवाचार्य के ग्रन्थ सर्वदर्शन–संग्रह की विषयवस्तु के माध्यम से समझ सकते है।माधवाचार्य स्वयं वेदानुयायी हिन्दू थे, किन्तु उन्होने अपने उपयुर्क्त ग्रन्थ में

चार्वाक,बौद्ध तथा जैन मतों को भी दर्शन में स्थान दिया था जो कि हिन्दू धर्मानुयायी नहीं है।

भारतीय दर्शन के स्वरूप के सम्बन्ध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारतीय दर्शन की दृष्टि अत्यंत व्यापक तथा उदार है।यद्यपि भारतीय दर्शन की अनेक शाखाएँ है तथा उनमें मतभेद भी है किन्तु फिर भी एक–दूसरे कि उपेक्षा नहीं करते है। भारतीय दर्शन की सभी शाखाएँ एक–दूसरे को समझने का प्रयास करती है।वे विचारों की युक्तिपूर्वक समीक्षा करती है,तभी किसी सिद्धान्त पर पहुँचती है।इसी उदार मनोवृति का परिणाम है कि भारतीय दर्शन में विचार–विमर्श के लिए एक विशेष प्रणाली की उत्पत्ति हुई जिसमें पहले पूर्वपक्ष होता है,तब खण्डन होता है और अन्त में उतर पक्ष अथवा सिद्धान्त होता है।पूर्वपक्ष में विरोधी मत की व्याख्या होती है।उसके बाद उसका खण्डन अथवा निराकरण होता है और अन्त में उतर–पक्ष आता है जिसमें दार्शनिक अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है।

भारतीय दर्शन के स्वरूप के सम्बन्ध में एक सामान्य तत्व यह है कि भारतीय दर्शन की प्रायःप्रत्येक शाखा अत्यन्त समृद्ध रही है। उदाहरण के लिए वेदान्त में चार्वाक, बौद्ध, जैन, सांख्य, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक आदि मतों पर विचार किया गया है। यह रीति केवल वेदान्त में ही नहीं है बल्कि अन्य दर्शनों में भी पाई गयी है। इस प्रकार से भारत का प्रत्येक दर्शन ज्ञान का एक भण्डार है।

भारतीय दर्शन के स्वरूप के सम्बन्ध में एक तथ्य यह भी है कि भारतीय दर्शन का चरम उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति में सहायता प्रदान करना है। इस प्रकार से भारतीय दर्शन एक साधन के रूप में दिख पडता है जिसके द्वारा मोक्षानुभूति प्राप्त होती है।भारतीय दर्शन का स्वरूप ऐसा है कि इसमें इहलोक से भी ज्यादा रूचि परलोक में दिखाई गयी है।

भारतीय दर्शन के स्वरूप के सम्बन्ध में एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है इसका धार्मिक स्वरूप।इसका कारण यह है कि भारतीय दर्शन पर धर्म कि अमिट छाप है।दर्शन और धर्म दोनो का उद्देश्य व्यावहारिक है।मोक्षानुभूति दर्शन और धर्म का सामान्य लक्ष्य है। धर्म से प्रभावित होने के कारण भारतीय दर्शन में आत्मसंयम पर बहुत बल दिया गया है। भारतीय दर्शन धार्मिक होने के साथ–साथ अध्यात्म के रंग में भी रंगा हुआ है। भारतीय दर्शन में आध्यात्मिक ज्ञान को प्रधानता दी गयी है। यहॉ का दार्शनिक सत्य के सैद्धान्तिक विवेचन से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता है बल्कि वह सत्य की अनुभूति भी करना चाहता है।आध्यात्मिक ज्ञान, तार्किक ज्ञान से उच्च है क्योकि तार्किक ज्ञान में ज्ञाता,ज्ञान और ज्ञेय का द्वैत पाया जाता है जबकि आध्यात्मिक ज्ञान में वह द्वैत मिट जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान निश्चित तथा संशयरहित होता है।

भारतीय दर्शन के स्वरूप के सम्बन्ध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह कही जा सकती है कि यह एक प्रकार का संश्लेषणात्मक दर्शन है जिसमें समग्र चिन्तन पर बल मिलता है। भारत के प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय में प्रमाण विज्ञान, तर्कविज्ञान, नीति विज्ञान, ईश्वर विज्ञान आदि की समस्याओं पर एक ही साथ विचार किया गया है।

भारतीय दर्शन के स्वरूप को समझने का एक अन्य माध्यम है इसकी पाश्चात्य दर्शन अर्थात फिलोसोफी से तुलना के माध्यम से दोनो दृष्टिकोणों के भेदज्ञान को जानना जो कि निम्नलिखित अनुसार है–

भारतीय दर्शन	पाश्चात्य दर्शन
दर्शन शब्द की उत्पति दृश धातु से हुई है जिसका शाब्दिक एवॅ वास्तविक अर्थ है–परम तत्व का साक्षात्कार तथा अनुभूति।	फिलोसोफी शब्द की उत्पति दो यूनानी शब्दों फिलॉस अर्थात प्रेम और सोफिया अर्थात ज्ञान से हुई है।इस प्रकार से फिलोसोफी का शाब्दिक अर्थ है ज्ञान के प्रति अनुराग।
भारतीय दर्शन का प्रारम्भ आध्यात्मिक असन्तोष से हुआ है।भारत के दार्शनिकों ने विश्व में अनेक प्रकार के दुःखों को पाकर के उनके उन्मूलन के लिए दर्शन की शरण ग्रहण की है।	पश्चिमी दर्शन का प्रारम्भ आश्चर्य तथा उत्सुकता से हुआ है।इसी कारण से पाश्चात्य दर्शन को मानसिक व्यायाम भी कहा जाता है।
भारतीय दर्शन का दृष्टिकोण जीवन और जगत् के प्रति मुख्य रूप से दुःखात्मक तथा अभावात्मक है।	पाश्चात्य दर्शन में जीवन और जगत् के प्रति दुःखात्मक दृष्टिकोण की उपेक्षा की गयी है तथा भावात्मक दृष्टिकोण को प्रधानता दी गयी है।
भारतीय दर्शन एक प्रकार का व्यावहारिक दर्शन है जिसका उद्देश्य केवल ज्ञान प्राप्त करना नहीं है बल्कि जीवन के चरम उद्देश्य अर्थात मोक्ष की प्राप्ति करना है।	पाश्चात्य दर्शन मुख्य रूप से एक प्रकार का सैद्धान्तिक चिन्तन मात्र है जिसमें केवल अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के उद्देश्य से विश्व,ईश्वर और आत्मा के सम्बन्ध में चिन्तन किया जाता है।
भारतीय दर्शन का चरम उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति में सहायता प्रदान करना है।इस प्रकार से भारत में दर्शन एक साधन के रूप में दिखाई पडता है जिससे मोक्षानुभूति होती है।	पाश्चात्य दर्शन में दर्शन का अनुशीलन किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए न होकर के केवल स्वयं के ज्ञान हेतु किया जाता है।इस प्रकार पश्चिम में दर्शन को साध्य रूप में स्वीकार किया गया है।
भारतीय दर्शन का स्वरूप मुख्य रूप से धार्मिक है।इसका कारण यह है कि भारतीय दर्शन पर धर्म की अमिट छाप है।दर्शन तथा धर्म दोनों का उद्देश्य व्यावहारिक है।मोक्षानुभूति दर्शन और धर्म दोनो का सामान्य लक्ष्य है।धर्म से प्रभावित होने के कारण भारतीय दर्शन में आत्मसंयम पर बल दिया गया है।	पश्चिमी दर्शन को मुख्य रूप से वैज्ञानिक कहा जाता है क्योंकि पश्चिम के अधिकांश दार्शनिकों ने वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया था।पश्चिमी दर्शन में विज्ञान की प्रधानता होने के कारण दर्शन और धर्म का सम्बन्ध विरोधात्मक माना जाता है।
भारतीय दर्शन का स्वरूप मुख्य रूप से आध्यात्मिक है क्योकि भारतीय दार्शनिक केवल सैद्धान्तिक ज्ञान से ही सन्तुष्ट नहीं होता है बल्कि वह सत्य की अनुभूति पर भी बल देता है।आध्यात्मिक ज्ञान तार्किक ज्ञान से उच्च स्तर का होता है क्योकि ज्ञाता–ज्ञान और ज्ञेय का द्वैत नहीं पाया जाता है।	पाश्चात्य दर्शन का स्वरूप मुख्यतः बौद्धिक है क्योकि इसमें यह माना गया है कि बुद्धि के माध्यम से ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।बुद्धि जब भी किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करती है तब वह भिन्न–भिन्न अगों के विश्लेषण के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करती है।

उपयुर्क्त सम्पूर्ण बिन्दुओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय दर्शन का स्वरूप पाश्चात्य दर्शन से भिन्न है। इन विभिन्नताओं से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि भारतीय और पाश्चात्य दर्शन का मिलन असम्भव है, सर्वथा अनुचित है। गत पचास वर्षो से यूरोप और भारत के विद्वान पूर्वी और पश्चिमी दर्शन के संयुक्त आधार पर एक विश्व दर्शन के सम्पादन के लिए प्रयत्नशील है। विश्व दर्शन के निर्मित हो जाने के बाद दर्शन भी विज्ञान की तरह से सर्वमान्य हो जायेगा।

भारतीय दर्शन की विशेषताएँ–दर्शन ही किसी देश की सभ्यता और संस्कृति को गौरवान्वित करता है। दर्शन की उत्पति स्थान विशेष के प्रचलित विचारों से होती है। अतः दर्शन में स्थानीय विचारों की छाप अवश्य पाई जाती है। भारतीय दर्शनों में मतभेद पाया जाता है, किन्तु भारतीय संस्कृति की छाप रहने के कारण उनमें साम्य भी पाया जाता है। इस साम्य को हम भारतीय दर्शन की सामान्य विशेषता कह सकते है जो कि निम्नलिखित अनुसार है–

(1) आध्यात्मिक असन्तोष से दर्शन की उत्पति– भारतीय दर्शन की जो सामान्य विशेषता आस्तिक–नास्तिक तथा ईश्वरवादी–अनीश्वरवादी सब को एक सूत्र में बांधती है वह यह है कि इन सब दर्शनों की उत्पति दुःख निवारण हेतु ही हुई है। मनुष्य के दुःखों का क्या कारण है? इसे जानने के लिए भारत के सभी दर्शन प्रयत्न करते है।

(2) कर्म सिद्धान्त में विश्वास– सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों को एकता के सूत्र में बॉधने वाली एक महत्वपूर्ण कडी है–कर्म विचार की स्वीकार्यता। कर्म विचार की यह मान्यता है कि हम जो कर्म करते है उसका फल हमें अवश्य मिलता है अर्थात किए गये कर्म का फल कभी भी नष्ट नहीं होता है तथा बिना किए गए कर्म का फल हमे कभी भी प्राप्त नहीं होता है।

कर्मफल से जुडी इस नैतिक सार्वभौम व्यवस्था को वैदिक साहित्य में 'ऋत' कहा गया था। ऋत का नियन्त्रक वरूण देव को माना गया था। यही देवताओं में, ग्रह–नक्षत्रों में तथा अन्यान्य वस्तुओं में वर्तमान व्यवस्था है। ऋग्वेद की ऋचाएँ इसे प्रमाणित करती है।

वैदिक काल के बाद मीमांसा में इसे 'अपूर्व' कहा गया था। वर्तमान के कर्मो का उपभोग परवर्ती जीवन में 'अपूर्व' के द्वारा ही किया जाता है। न्याय–वैशेषिक में इसें 'अदृष्ट' कहा गया था क्योकि यह दृष्टिगोचर नहीं होता है। वस्तुओं का उत्पादन तथा घटनाओं का उपकम इसी के अनुसार होता है।इसी नैतिक व्यवस्था को बाद में कर्मवाद के रूप में स्वीकार किया गया जिसे प्रायः भारत के सभी दार्शनिक सम्प्रदाय स्वीकार करते है।नास्तिक दर्शनों में जैन तथा बौद्ध भी कर्मवाद को स्वीकार करते है यद्यपि चार्वाक इस सम्बन्ध में एक अपवाद है।

कर्म शब्द के दो अर्थ स्वीकार किए गए है जिसमें से प्रथम अर्थ तो इसे एक नैतिक नियम के रूप में स्थापित करता है जबकि इसका दूसरा अर्थ इसे एक ऐसी शक्ति के रूप में स्थापित करता है जो कि विभिन्न कर्मफल उत्पन्न करती है।कर्म के इस दूसरे रूप के अनुसार ही इसके तीन भेद स्वीकार किए गए है जो कि निम्नलिखित अनुसार है–

(अ) संचित कर्म– ये वे कर्म है जो पूर्व जन्म के कर्मो के कारण उत्पन्न होते है किन्तु जिसके फल मिलना अभी भी प्रारम्भ नहीं हुआ है।

(ब) प्रारब्ध कर्म– पूर्व जन्म के वे कर्म, जिनका फल मिलना इस जन्म में प्रारम्भ हो चुका है। वर्तमान शरीर तथा धन–सम्पति आदि प्रारब्ध कर्म के ही फल है।

(स) संचीयमान अथवा कियमाण कर्म– इन कर्मो का संचय वर्तमान जीवन के कार्यो के कारण होता है तथा इनका फल मिलना भी प्रारम्भ नहीं होता है।

(3) बंधन का कारण अज्ञान है– सभी भारतीय दर्शन, चार्वाक को छोडकर यह मानते है कि जीव या आत्मा के बन्धन का सबसे प्रमुख कारण है–अज्ञान अथवा अविद्या। अज्ञान के निम्नलिखित दो प्रभावों के कारण जीव बन्धन में पड जाता है–

(अ) अज्ञान के कारण जीव को तत्वज्ञान नहीं हो पाता हैं जिसके कारण वह अनित्य को नित्य तथा अयथार्थ को यथार्थ समझ बैठता है।

(ब) अज्ञान के कारण जीव या आत्मा शरीर या जड को अपना वास्तविक स्वरूप मान बैठती है जिसके कारण वह शरीर को दुःखों को अपना मानकर के उसके दुःखों को भोगती है।

सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय यह मानते है कि अविद्या का अन्त केवल ज्ञान और संयम के माध्यम से ही सम्भव है।

(4) अज्ञान के निराकरण हेतु ज्ञान तथा ध्यान की स्वीकार्यता– चार्वाक के अतिरिक्त सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय इस बात पर एकमत है कि अज्ञान का निराकरण केवल ज्ञान अथवा ध्यान के माध्यम से ही सम्भव है।जैन दर्शन में सम्यक ज्ञान को अज्ञान के निराकरण में सहायक बताते हुए यह कहा गया है कि इसके माध्यम से जीव तथा अजीव के भेद ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

जैन ही की भॉति बौद्ध दर्शन में भी ज्ञान तथा ध्यान के महत्व को स्वीकार करते हुए अष्टांगिक मार्ग के प्रथम अंग के रूप में अज्ञान के विरोधी सम्यक दर्शन को शामिल करते हुए कहा गया है कि सम्यक दर्शन का अर्थ है वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना। इसी प्रकार से समाधि के रूप में ध्यान को अष्टांगिक मार्ग के अंतिम चरण के रूप स्थापित करते

हुए कहा गया है कि चित्त को एकाग्र करने की योग्यता ही सम्यक समाधि है जिसके चार चरण है–

(अ) सम्यक समाधि के प्रथम चरण में चार आर्य सत्यों का चिंतन किया जाता है।

(ब) सम्यक समाधि की दूसरी अवस्था में चार आर्य सत्यों के सम्बन्ध में सभी प्रकार के संदेहों का निराकरण हो जाता है तथा इस अवस्था में आनंद एवं शांति का ज्ञान भी साथ–साथ होता है।

(स) सम्यक् समाधि की तीसरी अवस्था में आनंद के प्रति उदासीनता का भाव उत्पन्न हो जाता है।

(द) इस अवस्था में चित्तवृति का पूर्ण निरोध हो जाता है तथा यह अवस्था पूर्ण शांति,पूर्ण विराग तथा पूर्ण निरोध की अवस्था है।

न्याय–वैशेषिक तथा मीमांसा और उतर–मीमांसा दर्शन भी श्रवण–मनन–निद्धिध्यासन के रूप में अज्ञान निवारण हेतु ज्ञान तथा समाधि को स्वीकार कर लेते है।मोक्ष प्राप्ति अथवा ज्ञान के लिए सर्वप्रथम धर्म–ग्रन्थों के आत्म–विषयक उपदेशों को श्रवण करना चाहिए।इसके पश्चात मनन के माध्यम से आत्मविषयक ज्ञान को सुदृढ करना चाहिए और सबसे अन्त में निद्धिध्यासन के माध्यम से आत्मा का निरन्तर ध्यान करना चाहिए।

सांख्य तथा योग दर्शन भी अज्ञान के निराकरण हेतु ज्ञान एवं ध्यान के महत्व को स्वीकार करते किन्तु जहाँ सांख्य दर्शन ज्ञान पर अधिक महत्व देता है वही योग दर्शन ध्यान को अधिक महत्वपूर्ण मानता है।सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति तथा पुरूष के भेदज्ञान को जान लेने अर्थात विवेकज्ञान के माध्यम से ही अज्ञान का अन्त सम्भव है।योग दर्शन मानता है कि विवेक ज्ञान की उत्पत्ति के लिए अष्टांगिक योग की पालना आवश्यक है जिसका अन्तिम सोपान सम्यक् समाधि है जिसका अर्थ है–ध्याता, ध्येय तथा ध्यान का एकाकार हो जाना।इस प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि अज्ञान के निवारण में सांख्य सैद्धान्तिक मार्ग को तथा योग व्यावहारिक मार्ग को प्रस्तुत करता है।

(5) आत्मसंयम पर विषेश बल– भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि चार्वाक के अतिरिक्त सभी दार्शनिक सम्प्रदाय जिनमें जैन तथा बौद्ध जैसे नास्तिक दर्शन भी शामिल है ने जीवन में आत्मसंयम के महत्व को स्वीकार्य किया है तथा आत्म–निग्रह को जीवन का आधार माना है।

सर्वप्रथम यदि बात की जाये जैन दर्शन की तो जैन दर्शन सम्यक चरित्र के माध्यम से आत्मसंयम के महत्व को स्थापित करता है । जैन दर्शन के सम्यक् चरित्र में जैन भिक्षुओं के लिए पंच महाव्रत तथा जैन गृहस्थों के लिए पंच अणुव्रत इसी संयम को स्पष्ट करते है।इसके अतिरिक्त जैन दर्शन के पंच महाव्रत में शामिल समिति,गुप्ति,अनुप्रेक्षा,परीषह तथा धर्म विचार भी संयम के महत्व को स्पष्ट करते है।

बौद्ध दर्शन में भी संयम के महत्व को स्वीकार करते हुए इसे अष्टांगिक मार्ग में पर्याप्त महत्व दिया गया है।अष्टांगिक मार्ग में सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम तथा सम्यक् स्मृति के माध्यम से जीवन में आत्मसंयम के महत्व को स्थापित किया गया है।

सांख्य दर्शन ने आत्म संयम के सैद्धान्तिक आधार को प्रस्तुत किया है जिस पर योग दर्शन ने आत्मसंयम के व्यावहारिक महल को निर्मित किया है जिसे कि अष्टांगिक योग कहते है तथा जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम ,प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि जैसे आत्मसंयम के उपायों का वर्णन किया गया है।

मीमांसा दर्शन भी आत्मसंयम को अत्यन्त आवश्यक मानता है तथा इसी कारण विभिन्न प्रकार के कर्मो के वर्णन के माध्यम से आत्मसंयम की अवधारणा को समझाता है।मीमांसा दर्शन में पांच प्रकार के कर्मो का उल्लेख किया गया है।ये कर्म इस प्रकार है–नित्य कर्म,नैमितिक कर्म,काम्य कर्म,निषिद्ध कर्म तथा प्रायश्चित कर्म।

वेदान्त में भी संयम के महत्व को स्थापित करते हुए साधन चतुष्टय के माध्यम से इस प्रकट किया गया है।

(6) मोक्ष ही जीवन का चरम लक्ष्य– चार्वाक के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दर्शन मोक्ष को जीवन का लक्ष्य मानते है। मोक्ष का सामान्य अर्थ है–जीवन–मरण के चक्र से मुक्ति तथा दुःखों का अन्त। इसके अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शन यह भी स्वीकार करते है कि मोक्ष,बन्धन का विपरितार्थी है जिसमें अज्ञान अथवा अविद्या का अन्त हो जाता है।

जैन दर्शन में मोक्ष के साधन के रूप में त्रिरत्न की सता स्वीकार की गयी है जिसमें सम्यक दर्शन,सम्यक ज्ञान तथा सम्यक चरित्र शामिल है।जैन दर्शन में मोक्ष के दो भेद स्वीकार किये गये है–भाव मोक्ष तथा द्रव मोक्ष।

बौद्ध दर्शन में मोक्ष को निर्वाण नाम से सम्बोधित किया गया है जिसका शाब्दिक अर्थ है दुःख रहित अवस्था।बौद्ध दर्शन मोक्ष की प्राप्ति हेतु अष्टांगिक मार्ग की पालना को आवश्यक मानता है।

न्याय तथा वैशेषिक मोक्ष के लिए अपवर्ग शब्द का प्रयोग करते है। न्याय तथा वैशेषिक मोक्ष को आन्नदरहित तथा दुःख रहित अवस्था मानते है जिसकी प्राप्ति श्रवण,मनन तथा निदिध्यासन के माध्यम से सम्भव है। न्याय–वैशेषिक के मत का समर्थन ही मीमांसा करता है।

सांख्य–योग मत में मोक्ष को कैवल्य कहा गया है जिसकी परिभाषा करते हुए कहा योगसूत्र में कहा गया है–'जब सभी गुणों–सत्व,रजस तथा तमस के कार्य समाप्त हो जाते है और उससे जो विकार रहित स्थिति उत्पन्न होती है जो प्रकृति–पुरूष भेदजन्य ज्ञान है।' सांख्य दर्शन विवेक ज्ञान को तथा योग दर्शन अष्टांगिक योग को मोक्ष का मार्ग मानते है।सांख्य–योग के अनुसार मोक्ष की अवस्था में तीन प्रकार के दुखों–आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक का अन्त हो जाता है तथा पुरूष या आत्मा अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप को पुन प्राप्त कर लेती है। इसी कारण कैवल्य को परिभाषित करते हुए कहा गया है–'कैवल्य की स्थिति आन्नद से रहित विशुद्ध चैतन्य की अवस्था है।'

वेदान्त में मोक्ष को अन्य सभी दर्शनों के विपरीत सत्,चित और आंनद से युक्त अवस्था माना गया है जिसमें जीवात्मा,बह्म से एकाकार हो जाती है। वेदान्त में वेदान्त ज्ञान को ही मोक्ष की प्राप्ति का एकमात्र उपाय माना गया है जिससे पूर्व साधक को साधन चतुष्टय का पालन करना होगा जिसमें निम्नलिखित शामिल है–

(अ) नित्यानित्य वस्तुविवेक–साधक को सबसे पहले नित्य तथा अनित्य पदार्थो की विवेचना करनी चाहिए।

(ब) इहामूत्रार्थ भोगविराग–साधक को लौकिक तथा अलौकिक भोगों की कामना का त्याग कर देना चाहिए।

(स) शमदमादि साधन–इसमें निम्नलिखित शामिल है–

- शमन–मन का संयम
- दम–इन्द्रियों का नियन्त्रण
- श्रद्धा–शास्त्र में निष्ठा रखना ही श्रद्धा है।
- समाधान–चित को ज्ञान के साधनों में लगाना ही समाधान है।
- उपरति–विक्षेपकारी कार्यो से विरत रहना
- तितिक्षा–शीत और गर्मी जैसे कष्टों को सहन करने की योग्यता

(द) मुमुक्षुत्व–साधक को मोक्ष प्राप्त करने के लिए दृढ संकल्प होना चाहिए।

वेदान्त दर्शन में मोक्ष के दो भेद स्वीकार किए गये है– जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति। जीवन रहते हुए मोक्ष की प्राप्ति जीवन्मुक्ति है जिसका कारण है प्रारब्ध कर्म जिनका फलभोग प्रारम्भ हो जाने के कारण जीवन का बना रहना आवश्यक हो जाता है। प्रारब्ध कर्मो के पूर्ण फलभोग के बाद जब जीवन नष्ट हो जाता है तो इसी अवस्था को वास्तविक मोक्ष अथवा विदेह मुक्ति कहते है।

(7) आत्मा की सत्ता में विश्वास– भारतीय दर्शन की एक अन्य विशेषता है नित्य तत्व आत्मा की स्वीकार्यता। यद्यपि चार्वाक तथा बौद्ध दर्शन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते है। चार्वाक जहॉं शरीर को ही आत्मा घोषित कर शरीर से भिन्न किसी भी नित्य आत्म तत्व को स्वीकार नहीं करते है वही बौद्ध दार्शनिक भी किसी नित्य आत्म तत्व को स्वीकार नहीं करते है तथा क्षणिक चेतना के प्रवाह को ही आत्मा घोषित कर देते है।

चार्वाक तथा बौद्ध दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते है। न्याय तथा वैशेषिक दर्शन आत्मा को द्रव्य के रूप में स्वीकार करते है तथा यह मानते है कि चैतन्य अथवा चेतना आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है बल्कि यह आत्मा का आगन्तुक गुण है अर्थात आत्मा का जब शरीर से सम्पर्क स्थापित होता है तभी उसमें चेतना का उदय होता है। इसी मत का समर्थन मीमांसा दर्शन भी करता है।

जैन दर्शन चेतन द्रव्य को जीव अथवा आत्मा कहता हैं। जीव का स्वरूप चेतना है अर्थात उसमें चेतना हमेशा पायी जाती है। जैन दर्शन में जीव को चेतना के अतिरिक्त अनंत चतुष्ट्य से भी युक्त माना गया है। अनंत चतुष्ट्य में अनंत ज्ञान, अनंतशक्ति ,अनंतदर्शन तथा अनंत आनंद को शामिल किया गया है।

जैन दर्शन की ही भॉंति सॉंख्य तथा योग दर्शन भी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते है । सांख्य दर्शन में पुरूष या आत्मा का स्वरूप लक्षण चेतना को माना गया है। वह शरीर, मन, इन्द्रियों और बुद्धि से भिन्न है। वह अभौतिक है। उसका न आदि है और नहीं अन्त है। सांख्य दर्शन में पुरूष को चेतन मानते हुए भी निष्क्रिय माना गया है। वह सदैव ज्ञाता है और कभी भी ज्ञान का विषय नहीं बनता है। वह निस्त्रैगुण्य है। इसी कारण से सांख्य पुरूष को आन्नद–स्वरूप भी नहीं मानता है। सांख्य का पूरक कहे जाने वाला योग दर्शन भी आत्मा को स्वीकार करता हैं। सांख्य के समान योग भी यह स्वीकार करता है कि पुरूष स्वभावतः शुद्ध चैतन्य स्वरूप हैं।

वेदान्त दर्शन में भी आत्मा को शुद्ध चैतन्य से युक्त घोषित किया गया है। इसके अतिरिक्त आत्मा को विभु, अद्वेत, निरवयव, देश कालातीत, परमार्थ और परम्सत घोषित किया गया है।

(8) कारणता पर चिन्तन– दर्शनशास्त्र के विभिन्न विषयों जैसे तत्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा आदि में कारण–कार्यवाद प्रमुख चर्चा का विषय रहता है क्योकि परमतत्व की खोज असल में आदि कारण की खोज है। यह कहना भी अतिश्योक्ति नहीं होगा कि भारतीय दर्शनों में भेद प्रायः इसी वाद के आधार पर प्रस्तुत किए गये है और प्रतिपक्षियों द्वारा उनकी आलोचना भी मुख्यतः कारण–कार्यवाद की आलोचना के साथ चलती है।

चार्वाक के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शन कारण–कार्य सम्बन्धों को स्वीकार करते है किन्तु भारतीय दश्नन में इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण विवाद का प्रश्न यह है कि कारण तथा कार्य के मध्य क्या सम्बन्ध है?इस प्रश्न की संरचना कुछ इस प्रकार है कि क्या उत्पति से पूर्व कार्य, कारण में निहींत होता है?इस प्रश्न के भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायो द्वारा बताए गये समाधानों के आधार पर निम्नलिखित वर्ग दिखायी देते है–

(अ) सत्कार्यवाद– इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य अपनी उत्पति के पूर्व कारण में अव्यक्त रूप से निहित रहता है।इस प्रकार कारण तथा कार्य एक ही है किन्तु व्यक्त–अव्यक्त रूप में उनमे भेद पाया जाता है। कार्य व्यक्त कारण है तथा कारण अव्यक्त कार्य है। इस दृष्टिकोण का समर्थन सांख्य, योग, उतर मीमांसा के अद्वैत वेदान्ती तथा विशिष्टाद्वैतवादी करते है।

(ब) असत्कार्यवाद–इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य अपनी उत्पति के पूर्व कारण में निहींत नहीं होता है।असत्कार्यवाद कार्य को एक नया निर्माण मानता है इसी कारण यह दृष्टिकोण आरम्भवाद भी कहलाता है।इस मत का समर्थन न्याय–वैशेषिक के अतिरिक्त मीमांसा दर्शन भी करता है।

(स) असत्कारणवाद– बौद्ध दर्शन कार्य–कारण सम्बन्धों पर एक अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार असत् कारण से सत् कार्य उत्पन्न होता है।

(द) सत्–असत्कार्यवाद– जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य और पर्याय के भेद से कार्य सत् और असत् दोनो है।

(9) प्रमाण विचार– भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि सभी भरतीय दार्शनिक सम्प्रदायों ने ज्ञान प्राप्ति के स्त्रोत कहे जाने वाले प्रमाणो पर विस्तृत चर्चा की है। अन्य दर्शनों से सदैव पृथक रहने वाले नास्तिक शिरोमणि चार्वाक ने भी अपनी ज्ञान–मीमांसा में इस विषय पर विस्तृत चर्चा की । चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है तथा अन्य प्रमाणों जैसे कि अनुमान,उपमान और शब्द का खण्डन भी प्रस्तुत करता है।

बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो प्रकार के प्रमाण स्वीकार किये गयें है। जैन दर्शन तथा सांख्य–योग त्रिविध प्रमाण का समर्थन करते हुए प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण को स्वीकार करते है। भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में सबसे विस्तृत प्रमाण मीमांसा न्याय दर्शन की है जिसमें प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान कुल चार प्रमाण स्वीकार किए है।

प्रभाकर मीमांसक प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान के अतिरिक्त अर्थापति को भी प्रमाण रूप में स्वीकार करते है जबकि भाट्ट मीमांसक और अद्वैत वेदान्त के समर्थक प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति के अतिरिक्त अनुपलब्धि को भी प्रमाण रूप में स्वीकार करते है।

उपयुक्त सम्पूर्ण विवेचन के पश्चात यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी भारतीय दर्शनों में कुछ विषयों पर मतैक्य है। जिन विषयों पर लगभग सभी भारतीय दर्शन एकमत है उन्हे ही भारतीय दर्शन की विशेषताओं के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस मतैक्य में एक अपवाद के रूप में चार्वाक दर्शन को पृथक रखा जा सकता है क्योकि चार्वाक दर्शन गहरे दार्शनिक सिद्धान्तों के स्थान पर सामान्य जनमानस के ही दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। जनमानस में लोकप्रिय इस दर्शन को इस कारण से लोकायत भी कहते हैं। भारतीय दर्शन की सामान्य विशेषताओं के विपरीत चार्वाक दर्शन जडवाद, भौतिकवाद, स्वभाववाद जैसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त चार्वाक दर्शन अपनी ज्ञानमीमांसा तथा नीति मीमांसा में भी सामान्य भारतीय दृष्टिकोण के विरोधी विचारों का ही प्रचलन करता है।

भारतीय दर्शन की इन सामान्य विशेषताओं में एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि सभी भारतीय कई महत्त्वपूर्ण विषयों पर एकमत तो है किन्तु इनकी व्याख्या को लेकर उनका दृष्टिकोण भिन्न–भिन्न है।इस भिन्नता का कारण इन दर्शनों कि तत्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा में पाया जाने वाला भेद है।

(2) भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों का वर्गीकरण

भारत में कुल नौ दर्शनों को उदय हुआ जो कि निम्नलिखित अनुसार है–चार्वाक, जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा तथा उतर मीमांसा। इन सभी नौ दर्शनों को विभिन्न आधारों पर निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया गया है–

(अ) वेदों की प्रमाणिकता के आधार पर–भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों को वेदों की प्रामाणिकता के आधार पर आस्तिक और नास्तिक दो भागों में बांटा गया है।जो भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय वेदों को प्रामाणिक ज्ञान के स्त्रोत के रूप में स्वीकार करते है वे सभी दार्शनिक सम्प्रदाय आस्तिक कहलाते है। आस्तिक दर्शनों की संख्या छह है। इसी कारण से इन्हे संयुक्त रूप से षडदर्शन भी कहा जाता है। ये आस्तिक दर्शन है–न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा उतर–मीमांसा।

इसके विपरीत जो दार्शनिक सम्प्रदाय वेदों को प्रामाणिक ज्ञान के स्त्रोत के रूप में स्वीकार नहीं करते है वे नास्तिक कहलाते है। नास्तिक दर्शनों की संख्या कुल तीन है जिसमें चार्वाक,जैन तथा बौद्ध दर्शन शामिल है। इनमें से चार्वाक दर्शन को नास्तिक शिरोमणि कहा जाता है।

इस प्रकार यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य जनमानस में आस्तिक तथा नास्तिक का जो विभाजन ईश्वर को मानने या न मानने के आधार पर किया गया है वह भारतीय

दार्शनिक सम्प्रदायों पर लागू नहीं होता है।

(ब) ईश्वर की स्वीकार्यता के आधार पर— भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों को ईश्वर की स्वीकार्यता तथा अस्वीकार्यता के आधार पर एवँ ईश्वर इस जगत का रचियता है या नहीं इस प्रश्न पर पुनः दो भागों में बांटा गया है।जो दार्शनिक सम्प्रदाय ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते है तथा उसे जगत का सृष्टा मानते है वे ईश्वरवादी कहलाते है।ईश्वरवादी सम्प्रदायों की कुल संख्या चार है। ये है—न्याय, वैशेषिक, योग तथा उतर मीमांसा।

इसके विपरीत जो दार्शनिक सम्प्रदाय ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते है तथा ईश्वर को जगत का सृष्टा नहीं मानते है वे अनीश्वरवादी दार्शनिक सम्प्रदाय कहलाते है। अनीश्वरवादी दार्शनिक सम्प्रदायों की संख्या कुल पॉच है। ये है—चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य तथा मीमांसा।

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य तथा मीमांसा जहाँ एक और आस्तिक दार्शनिक सम्प्रदाय है वही दूसरी और वे अनीश्वरवादी दार्शनिक सम्प्रदाय कहलाते है क्योंकि वे वेदों को तो प्रामाणिक रूप में स्वीकार करते है किन्तु ईश्वर को स्वीकार नहीं करते है।

(3) चार्वाक दर्शन—जड़वाद

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में चार्वाक दर्शन का विशेष महत्व रहा है। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन की प्रचलित धारा के विरूद्ध चलने का साहस केवल चार्वाक दर्शन ही दिखा पाया था। जैन तथा बौद्ध जैसे नास्तिक दर्शनों ने भी कर्म तथा पुनर्जन्म के विचार को स्वीकार कर कहीं न कहीं प्रचलित एवं परम्परागत दार्शनिक चिन्तन का ही समर्थन किया था। ऐसे में चार्वाक द्वारा आत्मा, ईश्वर, कर्म तथा पुनर्जन्म और वेदों के महत्व को स्वीकार नहीं करना ही वास्तव में इसे नास्तिक शिरोमणि के रूप में प्रतिस्थापित करता है।

चार्वाक शब्द की व्युत्पत्ति—चार्वाक शब्द की उत्पति के लिए कई प्रकार के तर्क दिये जाते है। कुछ लोग मानते है कि चार्वाक नामक ऋषि द्वारा इस दर्शन का प्रवर्तन किया गया इसी कारण यह दर्शन चार्वाक कहलाया। कुछ विद्वान यह मानते है कि आत्मा, परलोक आदि का चर्वण अर्थात भक्षण करने के कारण इस दर्शन का नाम चार्वाक रखा गया। कुछ विद्वान यह भी कहते है कि चार्वाक शब्द की उत्पत्ति 'चर्व' धातु से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है चबाना। चार्वाक खाने—पीने अर्थात चबाने पर अधिक बल देते थे इसी कारण इस दर्शन का नाम चार्वाक पड़ गया था। चार्वाक शब्द की उत्पति का एक अन्य कारण यह भी बताया जाता है कि इस दर्शन के अनुयायी चारू (मीठे) वाक् (वचन) बोलते थे इसी कारण यह दर्शन चार्वाक कहलाया।

इस सम्बन्ध में एक दृष्टिकोण यह भी है कि वैदिक काल में यज्ञानुष्ठान तथा तपस्या के आचरण पर विशेष बल दिया जाता था। ऐहिक बातों के स्थान पर पारलौकिक बातों की चिन्ता मनुष्यों को विशेष थी। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप चार्वाक का उदय हुआ जिसमें जनसामान्य के अनुरूप विचारों को प्रस्तुत किया जिसके कारण यह दर्शन सामान्य जनता अर्थात लोक सामान्य में तेजी से लोकप्रिय हो गया और इसे लोकायत भी कहा जाने लगा।

चार्वाक दर्शन के प्रामाणिक जनक देवताओं के गुरू बृहस्पति माने जाते है इसी कारण इस दर्शन को बार्हस्पत्य दर्शन भी कहते है। बार्हस्पत्य सूत्र इस दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ भी है।

चार्वाक का जडवाद या भौतिकवाद—चार्वाक दर्शन को भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में जड़वाद अथवा भौतिकवाद का सबसे कट्टर समर्थक कहा जाया तो गलत नहीं होगा। जड़वाद के अर्थ को निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से जाना जा सकता है—

1. जड़वाद की प्रथम मान्यता यह है कि जगत का मूल तत्व कोई चेतन आत्मतत्व नहीं है बल्कि जगत का मूलतत्व भौतिक पदार्थ है।
2. जड़वाद, इन्द्रिय संवेदना को ज्ञान का मुख्य स्त्रोत मानता है।
3. जड़वाद मानता है कि ज्ञान अनुभव से परे तथा अनुभव से पूर्व नहीं है।
4. जड़वाद की यह मान्यता है कि बाह्य जगत वस्तुनिष्ठ है, आत्मनिष्ठ नहीं हैं अतः बाह्य जगत की सता, ज्ञाता मन अथवा चेतना से परे है।
5. जड़वाद के अनुसार यह जगत यांत्रिक नियमों से संचालित है। विश्व की घटनाओं को विचार, जादू, बलि, प्रार्थना, ईश्वर आदि प्रभावित नहीं करते है बल्कि प्राकृतिक नियम इन घटनाओं को संचालित करते है।
6. जड़वाद अति प्राकृतिक प्रयोजनकर्ता की सत्ता को नकार देता है। जड़वाद के अनुसार विश्व का व्यवस्थापक ईश्वर या कोई अति प्राकृतिक सत्ता नहीं है।
7. जड़वाद की यह भी मान्यता है कि मानव तथा जगत की सृष्टि या रचना नहीं हुई है बल्कि मानव तथा जगत का विकास हुआ है।

इस प्रकार जड़वाद, प्रत्ययवाद का एकदम विरोधी सिद्धान्त हैं। चार्वाक दर्शन भारत में जड़वाद का प्रतिनिधि रहा है तथा इस दर्शन ने जडवाद को एक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया। इसी कारण से चार्वाक का जड़वाद व्यवस्थित जड़वाद

कहलाता है। चार्वाक दर्शन के जड़वाद को चार्वाक दर्शन की ज्ञान–मीमांसा, तत्व–मीमांसा तथा ज्ञान मीमांसा में सहज ही ज्ञात किया जा सकता है जो कि निम्नलिखित अनुसार है–

1. चार्वाक की जड़वादी ज्ञानमीमांसा–चार्वाक दर्शन की ज्ञानमीमांसा पर जड़वाद का गहरा प्रभाव है इसी कारण चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते है तथा अन्य सभी प्रमाणों का खण्डन करते है। इस प्रकार से चार्वाक की ज्ञानमीमांसा के दो पक्ष है–मण्डन पक्ष तथा खण्डन पक्ष।

अपनी ज्ञान मीमांसा के मण्डन पक्ष में चार्वाक 'प्रत्यक्षमेवैंक प्रमाणन्' के माध्यम से एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण घोषित करते है। चार्वाक का कहना है कि ज्ञान प्रत्यक्ष से ही प्राप्त होता है, जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता है उसका अस्तित्व भी नहीं है। प्रत्यक्ष दो प्रकार के है– बाह्य प्रत्यक्ष तथा आन्तरिक प्रत्यक्ष। बाह्य प्रत्यक्ष, इन्द्रियों के माध्यम से होता है जबकि आन्तरिक प्रत्यक्ष मनस् से होता है। इस प्रकार से सभी प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष के माध्यम से ही होता है।

प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण के रूप में स्थापित करने के बाद चार्वाक दार्शनिक अन्य प्रमाणों का खण्डन करते है जिसमें अनुमान तथा शब्द का खण्डन सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। इसे ही चार्वाक दर्शन की ज्ञान मीमांसा का खण्डन पक्ष कहा जाता हैं। हेतु के आधार पर ज्ञान प्राप्त करना ही अनुमान कहलाता है जिसका आधार हेतु तथा साध्य के बीच पाया जाने वाला नित्य सम्बन्ध है जिसे व्याप्ति कहते है। न्याय दर्शन में अनुमान के तीन प्रमुख लक्षण बताये गए हैं– पक्ष, साध्य तथा हेतु। इनमें पक्ष अनुमान का वह अंग है जिसके सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है। साध्य उसे कहा जाता है जो पक्ष के सम्बन्ध में सिद्ध किया जाता है। हेतु उसे कहते जिसके द्वारा पक्ष के सम्बन्ध में साध्य को सिद्ध किया जाता है। अनुमान की सिद्धि के लिए इसके पाँच प्रकार के तत्वों का होना आवश्यक है जिन्हें की अनुमान के पंचावयव कहते है और जो निम्नलिखित अनुसार है–

1. **प्रतिज्ञा**– इसमें साध्य का उल्लेख किया जाता है। जैसे पर्वत पर अग्नि है।
2. **हेतु**– साध्य को सिद्ध करने वाला आधार। जैसे धूम होने से।
3. **उदाहरण**– हेतु तथा साध्य की साहचर्यता को प्रकट करना। जहाँ–जहाँ धूम है वहाँ–वहां अग्नि होती है। जैसे रसोईघर आदि
4. **उपनय**– पक्ष में हेतु की उपस्थिति का ज्ञान प्राप्त करना। जैसे इस पर्वत पर भी धूम है।
5. **निगमन**– अनुमान का निष्कर्ष अर्थात पक्ष में साध्य की सिद्धि स्थापित करना। जैसे पर्वत पर अग्नि है।

चार्वाक दर्शन में अनुमान के खण्डन के लिए अनेक प्रमाण प्रस्तुत करते किए गए है जिनमें निम्नलिखित प्रमुख है–

1. अनुमान का आधार व्याप्ति होती है जो कि हेतु और साध्य का साहचर्य नियम है किन्तु यह साहचर्य नियम उपाधिशून्य होना चाहिए। हम यह कह सकते है कि जहाँ–जहाँ धूम है वहाँ–वहां अग्नि है, किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि जहाँ–जहाँ अग्नि है वहाँ–वहां धूम है। धूम और अग्नि का सम्बन्ध निरूपाधिक अथवा उपाधिमुक्त है, जबकि अग्नि और धूम का साहचर्य सोपाधिक अथवा उपाधियुक्त है। अग्नि के साथ धूम तभी सहचरित होगा जब अग्नि का आधार गीला ईधन हो। सूखे ईंधनवाली अग्नि से धुआँ नहीं उठता। इसीलिए चूँकि अग्नि और धूम का सम्बन्ध सोपाधिक है। अतः अग्नि धूम की अनुमापक नहीं हो सकती है।

2. चार्वाक दार्शनिक अनुमान के आधार स्तम्भ कही जाने वाली व्याप्ति के खण्डन के माध्यम से अनुमान के विरूद्ध दूसरा तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते है कि हमें किसी व्याप्ति का निश्चयात्मक ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है? जहाँ–जहाँ धूम है वहाँ–वहाँ अग्नि है यह ज्ञान प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं है, क्योंकि हमारे लिए यह सम्भव नहीं है कि हम भूत तथा भविष्य के समस्त धूमों की अग्नि से सम्बन्ध को जान ले। चूंकि तीनों कालों में धूमों और अग्नियों के बीच के सम्बन्धों का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। अतः प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति का ज्ञान सम्भव नहीं है।

नैयायिक जैसे अनुमान के समर्थक कुछ दार्शनिक विचारक यह कह सकते है कि व्याप्ति सम्बन्ध वास्तव में दो सामान्यों के बीच होता है यथा–धूमत्व सामान्य और अग्नित्व सामान्य में। नैयायिक यह भी मानते है कि सामान्य लक्षण सन्निकर्ष द्वारा हम उक्त सामान्यों और उनके सम्बन्ध का प्रत्यक्ष करते है। इस पर चार्वाक आक्षेप करते हुए कहते है कि यदि व्याप्ति सम्बन्ध सामान्यों के बीच होता है तो जाहिर है कि वह व्यक्तियों या विशेषों के बीच नहीं होता है।इस प्रकार से सामान्यों के माध्यम से भी व्याप्ति की स्थापना सम्भव नहीं है।

3. चार्वाक व्याप्ति आधारित अनुमान में अन्योन्याश्रय दोष के आधार पर भी इसका खण्डन करते है। चार्वाक दर्शन के अनुसार यदि यह माना जाये कि व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष तथा सामान्य दोनों से सम्भव नहीं है तो व्याप्ति का ज्ञान अनुमान के माध्यम से हो सकता है तों उस दशा में अनुमान व्याप्ति पर तथा व्याप्ति अनुमान पर आधारित हो जायेगी इससे अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न हो जायेगा।

4. चार्वाक दार्शनिक व्याप्ति के माध्यम से अनुमान की सिद्धि में अनावस्था दोष भी स्वीकार करते है क्योंकि एक अनुमान में प्रयुक्त व्याप्ति की सिद्धि के लिए दूसरे अनुमान की आधारभूत व्याप्ति का सहारा लेना पड़ेगा और उस व्याप्ति की सिद्धि के लिए तीसरे अनुमान में प्रयुक्त व्याप्ति का अवलम्बन

लेना होगा और यह क्रम इसी प्रकार से आगे बढ़ता रहेगा जिससे अनवस्था दोष की उत्पति हो जायेगी।

अनुमान के पश्चात चार्वाक शब्द प्रमाण का भी खण्डन करते है। योग्य तथा विश्वसनीय व्यक्तियों के कथन और वेदों में वर्णित वाक्यों को शब्द प्रमाण कहा जाता है। चार्वाक दर्शन के अनुसार विश्वास योग्य व्यक्तियों से प्राप्त ज्ञान शब्द के रूप में मिलता है किन्तु शब्दों का सुनना तो प्रत्यक्ष ही है। इस प्रकार शब्द ज्ञान तो प्रत्यक्ष के द्वारा ही होता हैं।

चार्वाक दर्शन शब्द प्रमाण के इस खण्डन में वैदिक शब्दों तथा वैदिक साहित्य का खण्डन करते हुए तर्क देता है कि वेद तो उन धूर्त पुरोहितों का कृत्य है जिन्होंने अज्ञानी तथा विश्वासपरायण मनुष्यों को धोखें में डालकर अपनी जीविका का प्रबन्ध किया। अतः वैदिक शब्द प्रमाण नहीं हो सकते। चार्वाक दार्शनिक वैदिक शब्दों का खण्डन करते हुए कहते है कि शब्द से प्राप्त जितने भी ज्ञान है, वे सभी अनुमान सिद्ध है। किसी भी शब्द को हम इसलिए मानते है कि वह विश्वासयोग्य होता है। अतः शब्द से ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक अनुमान की आवश्यकता होती है जो कि निम्नलिखित अनुसार होता है–

(अ) सभी विश्वासयोग्य व्यक्तियों के वाक्य मान्य हैं।

(ब) यह विश्वासयोग्य व्यक्ति का वाक्य हैं।

(स) अतः यह वाक्य मान्य है।

इससे स्पष्ट है कि शब्द के द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान अनुमान पर अवलम्बित है। इसलिए शब्द की प्रामाणिकता उसी प्रकार से संदिग्ध है जिस प्रकार से अनुमान की। चार्वाक शब्द प्रमाण के खण्डन में एक अन्य तर्क यह भी देते है कि शब्द का ज्ञान यदि प्रत्यक्ष रूप नहीं माने तो इसे अधिक से अधिक अनुमानरूपी माना जा सकता है और अनुमान का खण्डन तो पहले ही किया जा चुका है। अतः जब अनुमान की सत्ता ही नहीं है तो अनुमान पर आधारित शब्द प्रमाण की सता का स्वतः ही खण्डन हो जाता है।

2. चार्वाक की जड़वादी तत्वमीमांसा– चार्वाक की तत्वमीमांसा पर भी जड़वाद के प्रभाव को देखा जा सकता है। चार्वाक दर्शन के अनुसार विश्व का निर्माण चार भूत पदार्थों अर्थात पृथ्वी, अग्नि, जल तथा वायु के माध्यम से हुआ है। इस प्रकार चार्वाक आकाश के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते है। चार्वाक दर्शन का यह मानना है कि आकाश का ज्ञान हमें अनुमान द्वारा होता है अतः आकाश के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। विश्व के मूल तत्वों के सम्बन्ध में चार्वाक का यह मत उनके प्रमाण सम्बन्धी विचारों पर ही अवलम्बित हैं। चूंकि प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है अतः हम केवल उन्हीं वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार कर सकते है जिनका प्रत्यक्ष हो सकता है।

चार्वाक के अनुसार चार प्रकार के प्रत्यक्ष भूतों अर्थात पृथ्वी, अग्नि, जल तथा वायु से ही समस्त संसार का विकास हुआ है। इन तत्वों से केवल निर्जीव पदार्थ ही नहीं बल्कि संजीव द्रव्य भी इन्हीं से उत्पन्न हुए है। चार्वाक के अनुसार शरीर में पायी जाने वाली चेतना भी इन्हीं प्रत्यक्ष भूतों का ही परिणाम है। यहॉ पर चार्वाक के विरूद्ध यह आक्षेप किया जा सकता है कि चैतन्य का अस्तित्व तो किसी भी जड़ पदार्थ में नहीं है तो फिर इन जड पदार्थो से बने शरीर में चेतना का उदय किस प्रकार से हो सकता है? चार्वाक इसका उतर देते हुए कहते है कि मात्रात्मक परिवर्तन से स्वतः ही गुणात्मक परिवर्तन हो जाते हैं। अपने पक्ष को समझाते हुए वे उदाहरण देते है कि जिस प्रकार से पान, कत्था, चूना और सुपारी में लाल रंग का अभाव पाया जाता है किन्तु इनको जब एक साथ चबाया जाता है तो उनमें स्वतः ही लाल रंग की उत्पति हो जाती हैं। ठीक इसी प्रकार से गुड. में मादकता नहीं पायी जाती है किन्तु गुड़ के सड़ जाने पर वह मादक हो जाता हैं। इसी प्रकार से जब जड–तत्वों का सम्मिश्रण भी यदि एक विशेष ढंग से हो तो शरीर की उत्पति होती है तथा उसमें एक नए गुण चैतन्य का आविर्भाव हो जाता है।

इस प्रकार अन्य दर्शन जहाँ चैतन्य को आत्म तत्व का विशेष तथा स्वाभाविक गुण स्वीकार करते है वही चार्वाक दर्शन चैतन्य को शरीर का आगन्तुक गुण स्वीकार करता है तथा शरीर एवं आत्मा को एक ही घोषित कर देता है। चार्वाक के अनुसार शरीर से भिन्न किसी भी आत्मा रूपी तत्व का कोई अस्तित्व नहीं है।

अपनी बात को आगे बढाते हुए चार्वाक दर्शन यह भी कहता है कि यदि शरीर से भिन्न किसी आत्मा की कोई सत्ता नहीं है तो उसके अमर होने या नित्य होने का भी कोई प्रमाण नहीं है। मृत्यु के बाद शरीर नष्ट हो जाता है और उसे ही जीवन का अन्तः समझना चाहिए। आत्मा, शरीर के साथ उत्पन्न होती है तथा शरीर के साथ ही आत्मा का विनाश हो जाता है। चार्वाक का यह सिद्धान्त ही भूत चैतनयवाद कहलाता है। चार्वाक आत्मा की अमरता तथा पुनर्जन्म के विरूद्ध निम्नलिखित तर्क देते है–

1. यदि नित्य आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश लेती है तो क्यों नहीं व्यक्ति अपने पुराने जन्म की बातों तथा घटनाओं को याद करता है।
2. यदि पुनर्जन्म होता है तब आत्मा अदृश्य रूप में क्यों रहती है? क्यों नहीं शरीर के साथ उसका भी प्रत्यक्ष हो जाता है?

चार्वाकों में भी दो वर्ग है–धूर्त चार्वाक तथा सुशिक्षित चार्वाक। कुछ चार्वाक देह को आत्मा कहते है, कुछ प्राण को, कुछ मन को और कुछ इन्द्रियों को पर सबके अनुसार शरीर का नाश हो जाने पर आत्मा नाम का कोई तत्व शेष नहीं रहता है। चार्वाक के इस मत की अन्य दर्शनों द्वारा कडी आलोचना की

गयी है। शंकर और वाचस्पति मिश्र के अनुसार चेतना यदि शरीर का गुण होती तो उसका भी प्रत्यक्ष होना चाहिए था। निर्जीव अवस्था में शरीर रहता है किन्तु चेतना नहीं रहती है। अतः चेतना शरीर से भिन्न है।

नैयायिकों के अनुसार चेतना शरीर में रहती है, पर शरीर का गुण नहीं है। जैसे पानी, गर्म हो सकता है पर गर्मी पानी का नहीं बल्कि अग्नि का गुण है। शरीर में परिवर्तन होने पर भी चेतना वही रहती है। स्मृति इत्यादि अपरिवर्तित चेतना के कारण ही सम्भव है। अतः चेतना आत्मा का गुण है। चार्वाक के चेतना तथा आत्मा के सम्बन्ध में प्रस्तुत उपयुर्क्त दृष्टिकोण के विरूद्ध निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते है–

1. चार्वाक ने चेतना को शरीर का गुण माना हैं। चेतना को शरीर का गुण तभी माना जा सकता है जब चेतना निरन्तर शरीर में विद्यमान हो परन्तु बेहोशी और स्वप्नहीन निद्रा की अवस्था में शरीर विद्यमान रहता है फिर भी उसमें चेतना का अभाव रहता है। अतः चेतना को शरीर का गुण मानना उचित नहीं है।
2. चार्वाक दार्शनिक यह तर्क देते है कि यदि चैतन्य शरीर का गुण नहीं होता तो इसकी सत्ता प्राप्त शरीर से अलग भी होती। चूँकि शरीर से अलग चैतन्य देखने को नहीं मिलता है इससे सिद्ध होता है कि चैतन्य शरीर का गुण है। परन्तु चार्वाक के इस तर्क में यह दोष है कि इससे केवल यह सिद्ध होता है कि शरीर, चैतन्य का आधार है किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि चैतन्य शरीर का गुण हैं।
3. चार्वाक द्वारा चेतना को शरीर का आगन्तुक गुण मानने के विरूद्ध एक तर्क यह भी दिया जाता है कि यदि चेतना शरीर का गुण है तो इसे अन्य भौतिक गुणों की भाँति प्रत्यक्ष का विषय होना चाहिए परन्तु चेतना को न तो आज तक किसी ने देखा है, न सुना है, न स्पर्श किया है, न सूंघा है और नहीं उसका स्वाद लिया है। इससे प्रमाणित होता है कि चेतना शरीर का गुण नहीं है।
4. यदि चेतना शरीर का गुण है तो इसे अन्य भौतिक गुणों की तरह वस्तुनिष्ठ होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को चेतना के स्वरूप का ज्ञान एक ही समान रहना चाहिए। परन्तु इसके विपरीत हम चेतना का ज्ञान वैयक्तिक पाते हैं। उदाहरणस्वरूप सिरदर्द की चेतना साधारण व्यक्ति और चिकित्सक दोनों को रहती है किन्तु दोनों की चेतना में अत्यधिक अन्तर पाया जाता है। एक व्यक्ति की चेतना दूसरे व्यक्ति के द्वारा नहीं जानी जाती है।
5. यदि चेतना शरीर का गुण है तो हमें शरीर की चेतना का ज्ञान नहीं होना चाहिए, क्योकि शरीर जो स्वयं चेतना का आधार है कैसे चेतना के द्वारा प्रकाशित हो सकता है?
6. चार्वाक के अनुसार प्रत्यक्ष ही एकमात्र ज्ञान का साधन है। प्रत्यक्ष से चार्वाक कैसे जान पाता है कि आत्मा नहीं है? प्रत्यक्ष के द्वारा केवल किसी वस्तु के अस्तित्व को ही जान सकते है परन्तु जो वस्तु नहीं है उसका ज्ञान कैसे प्रत्यक्ष के माध्यम से सम्भव है यह चार्वाक नहीं बताते है।

चार्वाक अपने जड़वादी दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करते है क्योंकि आत्मा की ही भांति ईश्वर का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। जड़–तत्वों के सम्मिश्रण से संसार की उत्पति हुई है। इसके लिए किसी सृष्टा की कल्पना अनावश्यक है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि क्या संसार की सृष्टि के लिए जड़–तत्वों का सम्मिश्रण स्वतः ही अपने आप हो जाता है? किसी भी वस्तु के निर्माण के लिए उपादान कारण के साथ–साथ निमित्त कारण की भी आवश्यकता होती है। मिट्टी के घड़े को बनाने में मिट्टी की आवश्यकता होती है क्योंकि मिट्टी घड़े का उपादान कारण है किन्तु मिट्टी के अतिरिक्त एक निमित्त कारण कुम्हार की भी आवश्यकता है जो मिट्टी को घड़े का रूप देता है।

चार्वाक के अनुसार चार भूत है, वे केवल संसार के उपादान कारण है। इसके अतिरिक्त एक निमित्त कारण अर्थात ईश्वर की आवश्यकता होती है जो इन उपादानों को लेकर इस विचित्र संसार की सृष्टि करता है। इसके उत्तर में चार्वाक कहते है कि जड़ तत्वों का स्वयं अपना–अपना स्वभाव है। अपने–अपने स्वभाव के अनुसार ही वे संयुक्त होते हैं और उनके स्वतः सम्मिश्रण से संसार की उत्पत्ति होती है। इसके लिए किसी ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है। चार्वाक के अनुसार जडभूतों के अंतर्निहित स्वभाव से ही जगत् की उत्पति हो जाती है। इसलिए चार्वाक मत 'स्वभाववाद' कहलाता है।

चार्वाक के अनुसार ईश्वर की इस कारण भी कोई आवश्यकता नहीं है क्योकि यह जगत उद्देश्यपूर्ण नहीं है। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि इस जगत की सृष्टि किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुई है। अधिक युक्तिसंगत यही है कि जगत की उत्पत्ति जड़ तत्वों के आकस्मिक संयोग से हुई है। चार्वाक दर्शन के अनुसार संसार की उत्पत्ति किसी प्रयोजन के लिए नहीं हुई है तथा संसार केवल जड–तत्वों का आकस्मिक संयोग मात्र है इसी कारण से चार्वाक दर्शन यदृच्छावाद कहलाता है।

चार्वाक दर्शन संसार के निर्माणक एवं सृष्टिकर्ता ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है। इसी कारण चार्वाक दर्शन को अनीश्वरवादी दर्शन भी कहा जाता है। चार्वाक दर्शन में तो प्रत्यक्षगम्य शक्तिसम्पन्न राजा ही ईश्वर माना गया है।

3. चार्वाक दर्शन की जडवादी नीतिमीमांसा–ज्ञान तथा तत्वमीमांसा की भांति चार्वाक दर्शन की नीति मीमांसा भी जड़वाद से प्रभावित हैं। चार्वाक दर्शन अपनी नीतिमीमांसा के प्रारम्भ मे ही अन्य दर्शनों द्वारा स्वीकार्य पुरूषार्थ विचार का खण्डन कर देता हैं । अन्य दर्शनों में जीवन के चार पुरुषार्थ–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष माने गये है। इनमें मोक्ष को परम पुरूषार्थ अथवा लक्ष्य माना गया है। चार्वाक दर्शन केवल अर्थ तथा काम को ही पुरूषार्थ के रूप में स्वीकार करता है तथा धर्म एव मोक्ष का खण्डन करता है।

चार्वाक के अनुसार धर्म का नैतिक जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं है। धर्म का उपयोग बुद्धिमान पुजारियों के द्वारा लोगों को बेवकूफ बनाकर अपनी आजीविका चलाना है। वेद और उपनिषद विरोधाभास से परिपूर्ण है। पुजारियों ने जिसे पाप एवं पुण्य अथवा स्वर्ग या नर्क बतलाया है, वह सिर्फ साधारण लोगों को भयभीत करने के लिए है।

चार्वाक परम पुरूषार्थ मोक्ष का भी विभिन्न तर्कों के माध्यम से खण्डन कर देता है। अन्य दर्शन मोक्ष को जीवन का अंतिम लक्ष्य मानते है। दुःखों का पूर्ण विनाश ही मोक्ष है। विशिष्टाद्वैतवाद के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शन यह मानते है कि जीवन रहते हुए भी मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। चार्वाक इस दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए कहते है कि यदि मोक्ष का अर्थ जीवनकाल में ही दुःखों का अन्त समझा जाये तो यह सम्भव नहीं है क्योकि शरीर धारण तथा सुख–दुःख में अविच्छेद्य सम्बन्ध है। दुःख को कम किया जा सकता है तथा सुख में वृद्धि हो सकती है किन्तु दुःखों का पूर्ण विनाश सम्भव ही नहीं हैं। चार्वाक के अतिरिक्त अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय मोक्ष का अर्थ आत्मा का शारीरिक बन्धन से मुक्त होना मानते है। चार्वाक के अनुसार मोक्ष का यह अर्थ भी स्वीकार्य नहीं किया जा सकता क्योकि आत्मा नाम की कोई सता है ही नहीं। चार्वाक के अनुसार वास्तव में मृत्यु ही मोक्ष हैं।

कुछ मीमांसक विचारक स्वर्ग को मानव जीवन का लक्ष्य घोषित करते है। स्वर्ग पूर्ण आन्नद की अवस्था को कहते है। इहलोक में वैदिक आचारों के अनुसार चलने से परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। चार्वाक इसे भी स्वीकार नहीं करते है क्योंकि चार्वाक के अनुसार परलोक का कोई प्रमाण नहीं हैं। स्वर्ग और नर्क पुरोहितों की मिथ्या धारणाएं है। इसी क्रम में चार्वाक वैदिक कर्म–काण्डों की आलोचना करते हैं। चार्वाक दर्शन के अनुसार यदि श्राद्ध में अर्पित किया हुआ भोजन प्रेतात्मा की भूख मिटा सकता है तो कोई पथिक भोजन की विषय–वस्तु साथ लिए क्यों फिरता है? उसके परिवारजन क्यों नहीं उसकी भूख मिटाने हेतु उसके घर पर ही भोजन अर्पित कर देते है। चार्वाक यह भी तर्क देते है कि पुरोहितों का यदि यह वास्तविक विश्वास है कि यज्ञ में बलिदान किया हुआ पशु स्वर्ग पहुँच जाता है तो वे क्यों नहीं पशुओं के बदलें में अपने माता–पिता की बलि दे देते जिससे वे भी सीधे स्वर्ग में पहुंच जाये।

चार्वाक अपने नीतिशास्त्र के उपयुर्क्त खण्डन पक्ष के प्श्चात इसका मण्डन पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते है कि जीवन में परम पुरूषार्थ काम है। काम से चार्वाक का तात्पर्य सभी प्रकार के इन्द्रिय सुखों की प्राप्ति करना है तथा इस परम पुरूषार्थ काम की प्राप्ति में अर्थ एक प्रकार का साधन है। चार्वाक के अनुसार जीवन में शुभ केवल वही कार्य है जिनसे कि सुख की प्राप्ति हो। चार्वाक का कहना है कि इस जीवन में अच्छा भोजन, ऐन्द्रिय सुख, सुन्दर वस्त्र, सुगंधित फूल, चंदन तथा अन्य सुगन्धित एवं सुखप्रद वस्तुओं का उपभोग करना ही स्वर्ग सुख हैं इन सब सुखों से वंचित रहना दुःखों का कारण है। इस प्रकार से जड़वादी चिन्तन के कारण चार्वाक अपने नीतिशास्त्रीय चिन्तन में सुखवाद का समर्थन करते है। सुखों के स्वरूप को लेकर के चार्वाक दार्शनिक दो भागों में विभक्त हो जाते है–धूर्त चार्वाक तथा सुशिक्षित चार्वाक। इनका संक्षिप्त उल्लेख निम्नलिखित अनुसार है–

1. धूर्त चार्वाक– धूर्त चार्वाक स्वयं के वर्तमान तथा भौतिक सुखों को अधिक महत्व प्रदान करते है। इनका मानना है कि वर्तमान जीवन में अधिक से अधिक जितना सुख प्राप्त किया जा सकता है मनुष्य को उसे प्राप्त कर लेना चाहिए। भविष्य के सुख की आशा में रहकर के कोई वर्तमान सुख को नहीं ठुकराता नहीं है। कल मयूर मिलेगाा इस आशा में कोई हाथ में आये हुए कबूतर को नहीं छोडता हैं। संदिग्ध स्वर्णमुद्रा से हाथ में आयी हुई कौड़ी ही अधिक ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार से धूर्त चार्वाकों का नीति दर्शन है– खाओं, पीओं और मौज करो।

2. सुशिक्षित चार्वाक– धूर्त चार्वाकों द्वारा प्रतिपादित निकृष्ट सुखवाद के कारण ही चार्वाक दर्शन की सामान्य रूप से आलोचना की जाती है किन्तु सुखभोग कोई घृणा का विषय नहीं है। ऋग्वेद में सोमरसपान, धन, यश तथा काम को यथेष्ठ महत्व दिया गया है किन्तु ऋग्वेद में वर्णित सुखवाद को किसी ने भी हेय दृष्टि से नहीं देखा। धूर्त चार्वाकों ने सुख को स्वार्थपूर्ण तथा इन्द्रियलोलुपता तक ही सीमित रखा इसी कारण से उसकी आलोचना की जाती है। सुशिक्षित चार्वाक उत्कृष्ट तथा भविष्य के सुखों का समर्थन करते है। कामसूत्र के प्रणेता वात्सायन के अनुसार स्वार्थ सुखवाद सामाजिक व्यवस्था के लिए घातक हैं। यदि मनुष्य दूसरों के लिए अपने सुख का कुछ भी परित्याग न करे तो सामाजिक जीवन सम्भव ही नहीं है। कामसूत्र के द्वितीय अध्याय में वास्तयायन ने नैतिक विषयों पर विचार करते हुए

शिष्ट सुखवाद का वर्णन किया है।

वात्सायन ईश्वरवादी थे। वे परलोक को मानते थे अतः वे साधारण अर्थ में धूर्त चार्वाकों की भांति जड़वादी नहीं थे। वे पुरूषार्थ के रूप में त्रिवर्ग अर्थात धर्म, अर्थ और काम को स्वीकार करते है तथा यह मानते है कि जीवन में इस त्रिवर्ग का सामंजस्यपूर्ण सेवन करना चाहिए।

वात्सयायन का सुखवाद इसलिए भी शिष्ट माना जाता है क्योंकि वे ब्रह्मचर्य, धर्म तथा नागरिक वृति को अधिक महत्व देते हैं। उनका मत है कि इसके बिना मनुष्य का सुखभोग, पाशविक सुखभोग से कुछ भी भिन्न नहीं होगा।

निष्कर्ष– भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में जड़वाद तथा सुखवाद के समर्थक होने के कारण चार्वाक शब्द ही निंदावाचक हो गया है किन्तु वास्तविकता यह है कि भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के विकास में चार्वाक की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। चार्वाक दर्शन ने परम्परागत भरतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के विरूद्ध विभिन्न प्रकार के आक्षेप प्रस्तुत किए जिससे अनेक नवीन दार्शनिक समस्याओं का जन्म हुआ। ऐसी समस्याओं का समाधान कर दर्शन और अधिक पुष्ट तथा समृद्ध हुआ। इस प्रकार चार्वाक दर्शन ने परम्परागत भारतीय दार्शनिक चिन्तन को हठवादिता से बचाया।

इसके अतिरिक्त चार्वाक को उनके सुखवादी चिन्तन के लिए भी याद किया जा सकता है। यह सत्य है कि सुखवाद के कारण चार्वाक दर्शन की आलोचना हुई किन्तु सुखोपभोग कोई घृणा का विषय नहीं हैं। वेदों में अन्य दर्शनों द्वारा भी किसी न किसी रूप में सुखवाद का समर्थन मिलता है।च ार्वाक दार्शनिको विशेष रूप से सुशिक्षित चार्वाकों ने इस सुखवाद को एक व्यवस्थित नैतिक सिद्धान्त के रूप में जनमानस के समक्ष प्रकट किया था।

कुछ चार्वाक राजा को ईश्वर मानते है। इससे यह स्पष्ट है कि वे समाज तथा उसके प्रमुख की आवश्यकता को अनुभव करते है। इस विचार से चार्वाक के सामाजिक तथा राजनीतिक चिन्तन की व्यापकता का ज्ञान प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त चार्वाक दर्शन में दण्डनीति तथा वार्ता का विचार भी मिलता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1. दर्शन का शाब्दिक अर्थ है?
   (अ) सुनना (ब) देखना
   (स) चिन्तन करना (द) तर्क करना
2. भारतीय दर्शन के स्वरूप से सम्बन्धित नहीं है?
   (अ) भौतिकवाद (ब) आध्यात्मिकता
   (स) धार्मिक प्रकृति (द) संश्लेषणात्मक चिन्तन
3. फिलोस का शाब्दिक अर्थ है?
   (अ) ज्ञान (ब) प्रेम
   (स) बुद्धि (द) कर्तव्य
4. पूर्व जन्म के वे कर्म जिनका फल इस जन्म में मिलना प्रारम्भ हो गया है क्या कहलाते है?
   (अ) संचित कर्म (ब) क्रियमाण कर्म
   (स) प्रारब्ध कर्म (द) संचीयमान कर्म
5. भारतीय दर्शन में बन्धन का कारण माना गया है?
   (अ) ज्ञान को (ब) अविद्या का
   (स) भक्ति को (द) पाप को
6. बौद्ध दर्शन से सम्बन्धित है?
   (अ) अष्टांगिक योग (ब) त्रिरत्न
   (स) साधन–चतुष्ट्य (द) अष्टांगिक मार्ग
7. सत्कार्यवाद के समर्थक है?
   (अ) चार्वाक, जैन तथा बौद्ध
   (ब) सांख्य, योग तथा बौद्ध
   (स) न्याय, वैशेषिक तथा वेदान्त
   (द) सांख्य, अद्वैत वेदान्त तथा विशिष्टाद्वैत
8. उन दर्शनों के समूह को पहचानिए जो कि आस्तिक तथा अनीश्वरवादी है?
   (अ) चार्वाक, जैन (ब) सांख्य तथा बौद्ध
   (स) न्याय तथा वैशेषिक (द) सांख्य तथा मीमांसा
9. जडवाद के अनुसार जगत का मूलतत्व है?
   (अ) ज्ञान को (ब) चेतना
   (स) भौतिक पदार्थ (द)आत्म तत्व
10. चार्वाक के अनुसार परम पुरूषार्थ है?
   (अ) धर्म (ब) अर्थ
   (स) मोक्ष (द) काम

उतरमाला–

(1)–(ब), (2)–(अ), (3)–(ब), (4)–(स), (5)–(ब), (6)–(द), (7)–(द), (8)–(द), (9)–(स), (10)–(द)

अतिलघुतरात्मक प्रश्न

1. दर्शन शब्द का शाब्दिक अर्थ क्या है?
2. नास्तिक दर्शनों के नाम लिखिए?
3. षड्दर्शन कौनसे है?
4. ईश्वरवादी दर्शनों के नाम बताइएँ?
5. अनीश्वरवादी दर्शन कौन–कौनसे है?

6. उन दर्शनों के नाम बताइएँ जो आस्तिक तो है किन्तु ईश्वरवादी नहीं है?
7 . ऋत् से आप क्या समझते है?
8. ऋत् के नियन्त्रक देवता कौन है?
9. कृत प्रणाश से आप क्या समझते है?
10. अकृताभ्युपगम से आप क्या समझते है?
11. अदृष्ट तथा अपूर्व के सिद्धान्त को कौनसे दर्शन स्वीकार करते है?
13. कौनसा दर्शन नास्तिक शिरोमणि कहलाता है?
14. चार्वाक दर्शन के प्रवर्तक कौन माने जाते है?
15. चार्वाक दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ कौनसा माना जाता है?
16. चार्वाक को लोकायत दर्शन क्यों कहा जाता है?
17. चार्वाक दर्शन के अनुसार एकमात्र प्रमाण कौनसा है?
18. तत्वोपल्लवसिंह संहिता के रचयिता कौन है?
19. चार्वाक कौन–कौनसे प्रमाणों का खण्डन करते है?
20. चार्वाक पंचमहाभूतों में से किस महाभूत को स्वीकार नहीं करते है?
21. चार्वाक के अनुसार चेतना किसका तथा कैसा गुण है?
22. चार्वाक दर्शन के दो सम्प्रदाय कौन–कौनसे है?
23. चार्वाक दर्शन के अनुसार कितने पुरूषार्थ स्वीकार किए गए है?
24. चार्वाक मोक्ष को किस रूप में परिभाषित करते है?

लघुतरात्मक प्रश्न–

1. साधन चतुष्ट्य से आप क्या समझते है?
2. आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों में क्या अन्तर है?
3. ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी दर्शनों में क्या भेद है?
4. मीमांसा दर्शन में वर्णित पॉच प्रकार के कर्मो का उल्लेख कीजिए?
5. सांख्य–योग दर्शन में वर्णित त्रिविध दुःखों का वर्णन कीजिए?
6. जीवनमुक्ति तथा विदेहमुक्ति के भेद को समझाइए?
7. सत्कार्यवाद तथा असत्कार्यवाद में क्या अन्तर है?
8. स्वतः प्रामाण्यवाद तथा परत प्रामाण्यवाद में क्या भेद है?
9. चार्वाक शब्द की व्युत्पति के विभिन्न आधारों को समझाइए?
10. चार्वाक के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप को समझाइये?
11. चार्वाक के स्वभाववाद सिद्धान्त को समझाइये?
12. चार्वाक के यदृच्छावाद के सिद्धान्त को समझाइये?
13. भूत चैतन्यवाद से आप क्या समझते है?
14. धूर्त तथा सुशिक्षित चार्वाकों के विचारों में क्या भेद है?
15. चार्वाक के सुखवाद को समझाइए?
16. चार्वाक ईश्वर के सम्बन्ध में क्या दृष्टिकोण रखते है?
17. चार्वाक के मोक्ष सम्बन्धी दृष्टिकोण को समझााइये?

निबन्धात्मक प्रश्न–

1. भारतीय दर्शन के स्वरूप को समझाते हुए इसकी पाश्चात्य दर्शन से तुलना कीजिए?
2. भारतीय दर्शन की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करते हुए व्याख्या कीजिए?
3. भारतीय दर्शन में कारणता से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए?
4. भारतीय दर्शन में प्रामाण्य से सम्बन्धित दृष्टिकोणों को प्रकट कीजिए?
5. चार्वाक के जडवाद को समझाइये?
6. चार्वाक की ज्ञानमीमांसा को स्पष्ट किजिए?
7. चार्वाक की तत्वमीमांसा का उल्लेख वर्णन किजिए?
8. चार्वाक की नीतिमीमांसा को विस्तारपूर्वक स्पष्ट कीजिए?

अध्याय –2
औपनिषदिक दर्शन

(1) उपनिषद्

भारतीय चिन्तन परम्परा में उपनिषद् आध्यात्मिक ज्ञान के प्रमुख स्त्रोत हैं। ये भारतीय ऋषि–मुनियों के दीर्घकालिक गम्भीर आध्यात्मिक चिन्तन, मनन और साधना के प्रतिफल हैं। उपनिषदों का सम्बन्ध वेदों के ज्ञानकाण्ड से है। उपनिषद् वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग तथा सारभूत सिद्धान्तों के प्रतिपादक हैं, अतः इन्हें वेदान्त भी कहा जाता है। उपनिषद् भारतीय–दर्शन के मूल स्त्रोत है। भारतीय–दर्शन की सभी प्रमुख विचारधाराएँ उपनिषदों से सम्बन्धित है। उपनिषदों में ब्रह्म विषयक ज्ञान की विस्तृत चर्चा है, अतः इन्हें ब्रह्मविद्या भी कहते हैं। आदिगुरु शंकराचार्य ने कठोपनिषद्भाष्य की भूमिका में स्पष्ट किया है कि उपनिषद् शब्द का प्रमुख अर्थ ब्रह्मविद्या और गौण अर्थ ब्रह्मविद्या प्रतिपादक ग्रन्थ विशेष से है।

उपनिषद् शब्द 'उप' एवं 'नि' उपसर्गपूर्वक सद् धातु से बना है। उप का अर्थ है–समीप, नि का अर्थ है–निष्ठापूर्वक तथा 'सद्' का अर्थ है–बैठना। इस प्रकार शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से उपनिषद् का अर्थ है–शिष्य का गुरु के निकट श्रद्धापूर्वक एवं निष्ठापूर्वक बैठना। आदिगुरु शंकराचार्य ने केनोपनिषद् के भाष्य में उपनिषद् शब्द के अर्थ की व्याख्या इस प्रकार की है–''शिष्य का गुरू के निकट परमतत्व ब्रह्म का उपदेश सुनने के लिए निष्ठापूर्वक बैठना, जिससे उसकी अविद्या का नाश हो, ब्रह्म की प्राप्ति हो और उसके कर्मबन्धन शिथिल हों।''

प्रमुख उपनिषद् – उपनिषदों की संख्या अनेक है। प्रत्येक वेद के कई उपनिषद् हैं। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उपनिषदों की संख्या 108 है। इनमें से ग्यारह उपनिषद् प्रमुख हैं। इन ग्यारह उपनिषदों पर आदिगुरू शंकराचार्य ने भाष्य लिखकर, इनकी विस्तृत ज्ञानात्मक व्याख्या की है। ये ग्यारह उपनिषद् इस प्रकार हैं– ईशावास्योपनिषद्, केनोपनिषद, कठोपनिषद, प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्, ऐतरेयोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद्। उपनिषद् न केवल भारतीय चिन्तकों के लिए अपितु पाश्चात्य चिन्तकों के लिए भी समान रूप से आकर्षण का विषय रहें हैं। कुछ प्रमुख भारतीय एवं पाश्चात्य चिन्तकों की दृष्टि में उपनिषदों का महत्व इस प्रकार है–

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार–''उपनिषद् ही शक्ति की खानें हैं। उनमें ऐसी शक्ति भरी है, जो सम्पूर्ण विश्व को बल, शौर्य एवं नवजीवन प्रदान कर सकें। उपनिषद् किसी भी देश, जाति, मत व सम्प्रदाय का भेद किये बिना हर दीन, दुर्बल, दुःखी और दलित प्राणी को पुकार–पुकार कर कहते हैं–उठो, अपने पैरो पर खडे हो जाओ और बन्धनों को काट डालो। शारीरिक स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनता एवं आध्यात्मिक स्वाधीनता यही उपनिषदों का मूल मन्त्र है।''

गोविन्दबल्लभ पंत– ''उपनिषद् सनातन दार्शनिक ज्ञान के मूल स्त्रोत हैं। वे केवल प्रखरतम बुद्धि का परिणाम नहीं हैं, अपितु प्राचीन ऋषियों की अनुभूतियों का फल है।''

सन्त विनोबा भावे– ''मेरे जीवन में 'गीता' ने माँ का स्थान लिया है। वह स्थान तो उसी का है। लेकिन मैं जानता हूँ कि उपनिषद् मेरी मां की भी मां है। उसी श्रद्धा से मेरा उपनिषदों का मनन निदिध्यासन पिछले बत्तीस वर्षों से चल रहा है। ''

जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर– ''सम्पूर्ण भू–मण्डल पर मूल उपनिषदों के समान इतना अधिक फलोत्पादक और उच्च भावों से युक्त ग्रन्थ कहीं नहीं है। इन्होंने मुझे जीवन में शान्ति प्रदान की है और मरते समय भी ये मुझे शान्ति प्रदान करेंगे।''

मैक्समूलर– ''मृत्यु के भय से बचने, मृत्यु के लिए पूर्ण तैयारी करने और सत्य को जानने के इच्छुक जिज्ञासुओं के लिए उपनिषदों के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग मेरी दृष्टि में नहीं है। उपनिषदों के ज्ञान से मुझे अपने जीवन के उत्कर्ष में बहुत अधिक सहायता मिली है। मैं उनका ऋणी हूँ। ये उपनिषद आत्मिक उन्नति के लिए विश्व के समस्त धार्मिक साहित्य में अत्यन्त सम्माननीय रहे हैं और आगे भी रहेंगे।''

(2) ब्रह्म का स्वरूप–

उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र परमसता है। ब्रह्म शब्द बृह् धातु से बना है, जिसका अर्थ है–बढना या विकसित होना। ब्रह्म वह परमसत्ता है, जिसके द्वारा जगत के पदार्थो का उद्भव, विकास और संचालन होता है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार ब्रह्म वह है–जो जगत् को उत्पन्न करता है, उसे धारण करता है और उसे स्वयं में लीन कर लेता हैं। तैतिरीयोपनिषद् में भी ब्रह्म को जगत का कारण बताया गया है। इस उपनिषद् में जब महर्षि वरूण का पुत्र भृगु अपने पिता से यह प्रश्न करता है कि मुझे उस यथार्थ सत्ता के विषय में बताइये, जिसके द्वारा समस्त जगत का विकास होता है और जिसमें यह समस्त जगत समा जाता है। इस प्रश्न के उत्तर में महर्षि वरूण कहते हैं–ये समस्त प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, जिससे ये जीवित रहते हैं और ये अन्ततः जिसमें लीन हो जाते हैं, वह ब्रह्म है। इसके पश्चात भृगु क्रमशः

विचार करते है कि अन्न ब्रह्म है, प्राण ब्रह्म है, मन ब्रह्म है, विज्ञान ब्रह्म है और आनन्द ब्रह्म हैं। ब्रह्म विषयक ये पांच विचार पंच कोशों का निर्माण करते हैं। ब्रह्म का सबसे ऊपरी कोश अन्नमय कोश है। इसके पश्चात् क्रमशः प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश है। अन्तिम कोश आनन्दमय कोश है, जिसमें आनन्दरूप ब्रह्म है। वस्तुतः आनन्द उच्चतम ब्रह्म है, जिसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान एकाकार हो जाते हैं।

उपनिषदों में ब्रह्म और आत्मा के मध्य तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। ब्रह्म और आत्मा सर्वथा एक ही है। जो शुद्ध चैतन्य आत्मतत्व में प्रकाशित हो रहा है, वही समस्त चराचर जगत को प्रकाशित कर रहा है। जो व्यष्टि रूप में आत्मतत्व है, वही समष्टि रूप में ब्रह्म है। जो पिण्ड में है, वही समस्त ब्रह्माण्ड में है। ब्रह्म और आत्मा के मध्य यह तादात्म्य सम्बन्ध 'यह आत्मा ब्रह्म है (अयमात्मा ब्रह्म), मैं ब्रह्म हूं (अहं ब्रह्मास्मि), वह तू ही है (तत् त्वमसि), मैं वह हूं (सो हम) आदि महावाक्यों से सिद्ध होता है।

तैत्तिरीयोपनिषद में ब्रह्म को सत्य, ज्ञान एवं अनन्त (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) कहा गया है। यहाँ सत्य का अर्थ ब्रह्म की त्रिकाल अबाधित सत्ता से है। ज्ञान का अर्थ ब्रह्म के चेतन स्वरूप से है। अनन्त का अर्थ ब्रह्म के देश काल और कारण से परे होने से है। ब्रह्म सत्यस्वरूप, चित्तस्वरूप एवं आनन्द स्वरूप अर्थात् सचिदानन्द स्वरूप है। यहाँ सत् से असत् की, चित् से अचित् (जडता) की और आनन्द से अपूर्णता की निवृत्ति होती है। अतः ब्रह्म में अनस्तित्व जड़ता एवं अपूर्णता का पूर्णतया अभाव है।

उपनिषदों में ब्रह्म का वर्णन दो रूपों में मिलता है। यहाँ ब्रह्म का निर्गुण भी कहा गया है और सगुण भी, निर्गुण ब्रह्म की संज्ञा और सगुण ब्रह्म को 'अपरब्रह्म' की संज्ञा दी गई है। परब्रह्म के रूप में ब्रह्म निर्गुण निरकार, निर्विशेष, निष्प्रपंच, निर्विकल्प और निरूपाधिक है। अपरब्रह्म के रूप में सगुण, साकार, सविशेष, सप्रपंच, सविकल्प और सोपाधिक है। अपरब्रह्म को ईश्वर भी कहा गया है। इस रूप में ब्रह्म जगत सृष्टा, पालकर्ता और संहारकर्ता है। उपनिषदों में परब्रह्म की व्याख्या नेति–नेति कहकर की गई है। नेति–नेति का अर्थ है न इति न इति अर्थात ऐसा नहीं ऐसा नहीं। नेति–नेति के अर्थ में परब्रह्म अनिर्वचनीय है। यहाँ अनिर्वचनीय का अर्थ है कि ब्रह्म के अनन्त स्वरूप की व्याख्या वाणी के माध्यम से नहीं की जा सकती है। अतः नेति–नेति से ब्रह्म की अनिर्वचनियता का बोध होता है उसकी शून्यता का नहीं उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाश है। उपनिषदों का ब्रह्म ज्ञात है किन्तु मन, बुद्धि और तर्क के द्वारा नहीं अपितु अपरोक्षानुभूति के द्वारा।

जीवात्मा का स्वरूप– आत्मा के स्वरूप का विवेचन उपनिषदों का प्रमुख विषय है। उपनिषदों के अनुसार आत्मा स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश है। प्रत्येक मनुष्य अपनी आत्मा का साक्षात् अनुभव करता है। ''मैं हूँ'' यह ज्ञान आलोचना या संशय का विषय नहीं है। यदि आत्मा का निषेध भी किया जाये तो उसकी सत्ता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि निषेधकर्ता स्वयं आत्मन् ही है। आत्मन् शब्द की व्युत्पत्ति को आदिगुरू शंकराचार्य ने कठोपनिषद के भाष्य में इस प्रकार स्पष्ट किया है– ''आत्मा जगत के समस्त पदार्थों में व्याप्त रहता है, समस्त पदार्थों को अपने में ग्रहण करता हैं, समस्त पदार्थों का अनुभव करता है और इसकी सत्ता निरन्तर बनी रहती है।'' उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म अभिन्न है। आत्मा और ब्रह्म एक ही तत्व की अलग–अलग दृष्टियों से व्याख्या है। एक ही तत्व को आत्मनिष्ठ दृष्टि से आत्मा तथा वस्तुनिष्ठ दृष्टि से ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म और आत्मा की अभिन्नता को उपनिषदों में प्रज्ञा स्वरूप आत्मा ब्रह्म है (प्रज्ञानम् ब्रह्म), मैं ब्रह्म हूॅ (अहं ब्रह्मस्मि), तत् त्वमसि (वह तू है) और यह आत्मा ब्रह्म (अयमात्मा ब्रह्म) इन महावाक्यों के द्वारा सिद्ध किया गया है।

उपनिषदों के अनुसार जीवात्मा और आत्मा में भेद है। जीव वैयक्तिक आत्मा है, जबकि आत्मा परमात्मा है। जब आत्मा शरीर, इद्रिय, मन, बुद्धि इत्यादि से युक्त होती तो वह जीवात्मा कहलाती है। जीवात्मा ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। जीवात्मा विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करता हैं इसलिए उसे ज्ञाता कहा गया है। वह जगत के विभिन्न कर्मों को सम्पन्न करता हैं, इसलिए उसे कर्ता कहा गया है। वह अपने शुभ–अशुभ कर्मों के अनुसार पुण्य–पाप या सुख–दुःख का अनुभव करता हैं, इसलिए उसे भोक्ता कहा गया है। आत्मा केवल साक्षी मात्र है। वह कर्म एवं उसके फल पाप–पुण्य से परे है। वह जीवात्मा के कर्मो एवं उनके फलों का उदासीन साक्षी है। छन्दोग्योपनिषद् के अनुसार यह शरीर तो मरणधर्मा है। यह मरणधर्मा शरीर अमृत–रूप आत्मा का अधिष्ठान है। आत्मतत्व स्वरूपतः अशरीरवान है, परन्तु जब इस शरीर के साथ अपना तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तब उसे सुख–दुःख की अनुभूति होती है। जब तक वह शरीर से एकता बनाये रखता हैं, तब तक सुख–दुःख नहीं छूटते, लेकिन अपने वास्तविक स्वरूप की अनुभूति होने पर उसे सुख–दुःख स्पर्श तक नहीं करते। उपनिषदों के अनुसार अविद्या बन्धन का मूल कारण है। अविद्या की अवस्था में नित्य–अनित्य का अन्तर स्पष्ट नहीं होता। अविद्या के कारण जीवात्मा अहंकारग्रस्त हो जाता है। अहंकार के वशीभूत होने पर जीवात्मा इन्द्रियों, मन, बुद्धि और शरीर से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है, जिससे वह बन्धनग्रस्त हो जाता है। जीवात्मा द्वारा अपने स्वरूप को न जानकर किया गया कोई भी कर्म बन्धन का कारण है। आत्मज्ञान का अभाव ही कर्मबन्धन की श्रृंखला को दृढता प्रदान करता है। परन्तु जब जीवात्मा सच्चिदानन्द ब्रह्म से स्वयं को अभिन्न जान लेता है, तब वह बन्धन मुक्त हो जाता है।

लगभग समस्त उपनिषदों के अध्ययन से ज्ञात होता है

कि आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान होने पर जीव कर्मबन्धन से मुक्त होकर परमानन्द की अनुभूति करता है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि जब हृदय में स्थित समस्त कामनाओं का त्याग हो जाता है, तब जीव अमरत्व का अनुभव करता है और संसार में रहते हुए भी ब्रह्मात्मभाव का अनुभव करता है। मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट किया गया है कि जो उस परब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। उस आत्मा का ओंकार के रूप में ध्यान करो, तुम्हारा कल्याण होगा, गहन अंधकार से पार जाने यही प्रमुख साधन है। उपनिषद् मानवीय आत्मा के दिव्य रूप को उदघाटित करते है। उपनिषदों के अनुसार आत्म ब्रह्मस्वरूप है। प्रत्येक मनुष्य अपने दिव्य ब्रह्मस्वरूप, आत्मा, की अनुभूति कर सकता है। इस दिव्य ब्रह्मस्वरूप आत्मा की अनुभूति करना ही मानवीय जीवन का परम लक्ष्य है।

आत्मा की अवस्थाएँ– माण्डूक्योपनिषद के अनुसार आत्मा की चार अवस्थाएँ है। ये अवस्थाएँ हैं– 1. जाग्रत अवस्था, 2. स्वप्न अवस्था, 3. सुषुप्ति अवस्था तथा 4. तुरीय अवस्था। आत्मा की इन चार अवस्थाओं का विस्तृत विवेचन इस प्रकार है –

1. जाग्रत अवस्था– जाग्रत अवस्था आत्मा का प्रथम चरण । इस अवस्था में आत्मा की प्रज्ञा बाह्य होती है। अर्थात् यह बाह्य विषयों को प्रकाशित करती है। बहिष्प्रज्ञ होने के कारण जीवात्मा बाह्य विषयों का अनुभव करता है। इस अवस्था में जीवात्मा के सात अंग और उन्नीस मुख होते हैं। इस अवस्था में यह स्थूल विषयों को भोक्ता होता है। इस अवस्था में आत्मा का स्वरूप वैश्वानर कहलाता है।

2. स्वप्न अवस्था– स्वप्नावस्था आत्मा का द्वितीय चरण है। यह स्वप्नकालीन अवस्था है। इस अवस्था में आत्मा की प्रज्ञा अन्तः होती है। अन्तः प्रज्ञ होने के कारण जीवात्मा सूक्ष्म विषयों का अनुभव करता है। इस अवस्था में आत्मा के सात अंग और उन्नीस मुख होते हैं। इस अवस्था में यह सूक्ष्म विषयों का भोक्ता होता है। इस अवस्था में आत्मा का स्वरूप तैजस कहलाता है। इस अवस्था में आत्मा की बाह्य प्रज्ञा सुप्त रहती है किन्तु उसकी अन्तः प्रज्ञा जाग्रत रहती है, जिसका सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर की गतिविधियों से होता है।

3. सुषुप्ति अवस्था– सुषुप्तावस्था आत्मा का तृतीय चरण है। जिस अवस्था में सोया हुआ जीवात्मा न किसी भोग की इच्छा करता है और न कोई स्वप्न देखता है, उसे सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। यह सुषुप्तावस्था जिसका स्थान है तथा जो एकीभूत प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप होता हुआ आनन्दमय है। इस अवस्था में आत्मा आनन्द का भोक्ता और चेतना रूप मुखवाला है। इस अवस्था में आत्मा का स्वरूप प्राज्ञ कहलाता है।

4. तुरीय अवस्था– तुरीय अवस्था आत्मा का चतुर्थ चरण है। यह आत्मा का यथार्थ एवं वास्तविक स्वरूप है। इस अवस्था में आत्मा न अन्तःप्रज्ञ, न बहिष्प्रज्ञ और न इन दोनों का संघात है, न प्रज्ञाघन है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है। जो अदृष्ट अर्थात देखा नहीं गया है, अव्यवहार्य अर्थात जो व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, अग्राह्य अर्थात जो ग्रहण नहीं किया जा सकता, अलक्षण अर्थात जो लक्षणों से रहित है, अचिन्त्य अर्थात जो चिन्तन करने में नहीं आ सकता, अव्यपदेश्य अर्थात जो बतलाया नहीं जा सकता, एकात्म प्रत्ययसार अर्थात एकमात्र आत्मसत्ता की प्रतीति ही जिसका सार है, जिसमें प्रपंचो का सर्वथा अभाव है, ऐसा शान्त, शिव और अद्वैत स्वरूप आत्मा का चतुर्थ तुरीय स्वरूप है। यही आत्मा का यथार्थ स्वरूप है और यही जानने योग्य है।

(3) श्रीमद्भगवद्गीता–

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन परम्परा का सर्वाधिक पवित्र और सर्वमान्य ग्रन्थ है। गीता साक्षात् भगवान श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से प्रकट हुई है। गीता का शाब्दिक अर्थ है– 'जो गायी गयी हो'। भगवान श्रीकृष्ण स्वयं जिस उपनिषद् का गायन करते हैं, उसी का नाम श्रीमद्भगवद्गीता है। गीता वस्तुतः सर्वशास्त्रमयी है। इसमें समस्त शास्त्रों का सारतत्व विद्यमान है। गीता महर्षि वेदव्यास द्वारा लिखित 'महाभारत' नामक महाकाव्य के 'भीष्म पर्व' का भाग है। महाभारत महाकाव्य से बाहर लाकर इस पर प्रथम भाष्य लिखने का श्रेय आदिगुरु शंकराचार्य को है। इसमें कुल 18 अध्याय और 700 श्लोक हैं। इसके आध्यात्मिक जीवनदायी संदेश समस्त मानवजाति के लिए समान रूप से ग्रहण करने योग्य हैं। ज्ञान–भक्ति और कर्म की त्रिधारा को स्वयं में समाहित किये हुए गीता हमें समत्व योग का संदेश देती है। गीता मुख्यतः कर्तव्यशास्त्र हैं। इसका प्रमुख उद्देश्य मानवमात्र को निष्कामभाव से कर्तव्य में संलग्न कर उसे आध्यात्मिक उन्नति प्रदान करना है। स्वामी विवेकानन्द गीता को व्यवहारिक वेदान्त का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ कहते है।

गीता का प्रथम दृश्य युद्धक्षेत्र का है। युद्धभूमि कुरूक्षेत्र में एक ओर कौरव हैं तो दूसरी ओर पाण्डव। एक ओर पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य आदि हैं तो दूसरी ओर उनके पुत्र, पौत्रगण इत्यादि। युद्धभूमि में अपने आत्मीयजनों को प्रतिपक्षी यौद्धाओं के रूप में देखकर अर्जुन विषादग्रस्त हो जाता है। मोह के वशीभूत अर्जुन शस्त्रत्याग कर युद्ध से पलायन करने का निश्चय करता है। मोह और कर्तव्य के मध्य उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व ने अर्जुन के समक्ष एक विकट परिस्थिति उपस्थित कर दी है। वह इस विकट परिस्थिति में उचित निर्णय लेने में असमर्थ प्रतीत हो रहा है। एक ओर तो युद्ध के द्वारा आत्मीयजनों की हिंसा है, तो दूसरी स्वधर्म से पलायन का मार्ग है। अर्जुन संशयग्रस्त अवस्था में है कि युद्ध करे या नहीं। यहीं से गीता का प्रारम्भ होता है। अर्जुन अपने हृदय की दुर्बलता को उच्च नैतिक आदर्शों के द्वारा व्याख्यायित

करता है। वह युद्ध में होने वाली हिंसा से तो भीक्षा में प्राप्त होने वाले अन्न को श्रेष्ठ मानता है। वह अहिंसक मार्ग का समर्थन करते हुए संन्यास ग्रहण करना चाहता है। किन्तु भगवान श्रीकृष्ण मोहग्रस्त अर्जुन के ह्रदय की दुर्बलता को भलीभांति जानते हैं। वे उसके क्षणिक वैराग्य का समर्थन न करते हुए उससे युद्ध का आह्वान करते हैं। अर्जुन क्षत्रिय है। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार एक क्षत्रिय के लिए धर्म की स्थापना हेतु युद्ध करना उसका स्वधर्म है। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से ह्रदय की दुर्बलता को त्यागकर स्वधर्म पालन का आह्वान करते हैं। युद्धभूमि कुरूक्षेत्र में किंकर्तव्यविमूढ अर्जुन को भगवान श्रीकृष्ण द्वारा दिया गया ज्ञान–भक्ति और कर्म से युक्त उपदेश ही 'गीता' के नाम से प्रसिद्ध है ।

युद्धभूमि कुरूक्षेत्र का मैदान जीवन संग्राम एवं जीवन के अन्तर्द्वन्द्वों को व्यक्त करता है। इस युद्धभूमि में अर्जुन मानवमात्र का प्रतिनिधि है। वह जीवन–संग्राम में कर्तव्य–अकर्तव्य का निर्धारण करने में असमर्थ है । प्रत्येक मनुष्य के जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं, जब वह अपने कर्तव्यपथ से विमुख होकर उचित निर्णय लेने में असमर्थ प्रतीत होता है। जीवन की इन विषम परिस्थितियों में हमें एक ऐसे गुरू की आवश्यकता होती है, जो हमारा उचित मार्गदर्शन कर हमें कर्तव्यपथ का ज्ञान कराये। गीता में संशयग्रस्त अर्जुन जिज्ञासु शिष्य की भूमिका में और भगवान श्रीकृष्ण महान पथप्रदर्शक गुरू की भूमिका में है। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के माध्यम से प्रत्येक मनुष्य को अनासक्त भाव से स्वधर्म का पालन करने के लिए प्रेरित करते है। अनासक्त भाव से स्वधर्म पालन में ही मनुष्य का लौकिक और आध्यात्मिक कल्याण अन्तर्निहित है।

गीता के जीवनदायी आध्यात्मिक सन्देश सार्वभौमिक, सार्वकालिक और व्यवहारिक हैं। ये आध्यात्मिक सन्देश किसी विशेष व्यक्ति, जाति, धर्म, सम्प्रदाय या देश के लिए न होकर सम्पूर्ण विश्व के समस्त मानव–समुदाय के लिए समानरूप से प्रेरणास्पद है। गीता के आध्यात्मिक संदेश शताब्दियों से मानव–मन को प्रेरित कर रहें हैं। न केवल भारतीय चिन्तक अपितु पाश्चात्य चिन्तक भी गीता की महत्ता को स्वीकार करते हैं। स्वामी विवेकानन्द, बालगंगाधर तिलक, महर्षि अरविन्द, विनोबा भावे, महात्मा गांधी, डॉ. राधाकृष्णन जैसे आधुनिक भारतीय चिन्तक मुक्त कण्ठ से गीता की प्रशंसा करते हुए इसकी महत्ता को स्वीकार करते हैं। अमेरिका में इमर्सन, वॉल्ट विहटमैन एवं थोरो तथा स्काटलैण्ड में कार्लायल जैसे महान चिन्तकों ने गीता की गम्भीरता एवं उदारता को अपने जीवन में अनुभव किया। गीता से प्रभावित इनकी रचनाओं ने जनमानस को अत्यधिक प्रेरित किया।

संयुक्त राज्य अमेरिका में कांकॉर्ड, नामक एक शहर है। लोकप्रिय, सुप्रसिद्ध एवं महान चिन्तक इमर्सन ने अपने जीवन के अन्तिम 48 वर्ष इसी नगर में व्यतीत किये। इसी नगर से उन्होंने अपने उदार, उदात्त, उत्कृष्ट एवं प्रेरणादायी विचार सम्पूर्ण अमेरिका में प्रचारित किये। अमेरिका में श्रोताओं को सम्बोधित करते हुए एक बार स्वामी विवेकानन्द ने कहा–''आप लोगों में से जिन्होंने गीता नहीं पढी है, उन्हें मैं इसे पढने की सलाह दूंगा। यदि आपको ज्ञात होता कि आपके देश अमेरिका को गीता ने कितना प्रभावित किया है, तो आज तक आप इसे बिना पढे नहीं रहते। इमर्सन के भाव–स्त्रोंतो का उद्‌गम यही गीता है। एक बार वे थॉमस कार्लायल से मिलने गए। कार्लायल ने उन्हें गीता भेंट की। कांकॉर्ड में जिस उदार दार्शनिक तत्व के आन्दोलन की शुरूआत हुई, उसकी नींव इसी छोटी सी पुस्तक से पडी। अमेरिका में जितने भी उदार भावों के आन्दोलन है, वे सभी किसी न किसी प्रकार से उस कांकॉर्ड आन्दोलन के ऋणी हैं।'' गीता का सर्वप्रथम अंग्रेजी अनुवाद सर चार्ल्स विल्किन्स द्वारा किया गया था। भारत के प्रथम गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स ने स्वयं इसकी भूमिका में लिखा–''जिज्ञासा जगाने वाले जो कुछ सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ आज तक सुशिक्षित जगत को उपलब्ध हुए हैं, उनमें से गीता एक अद्‌भुत ग्रन्थ है। जब भारत में अंग्रेजों का प्रभुत्व समाप्त हुए काफी काल बीत चुका होगा और इसकी सम्पदा तथा सत्ता के उद्‌गम स्मृति–मात्र का विषय होकर रह जायेंगे तब भी भारतीय दर्शनों के लेखक जिन्दा रहेंगे।'' गीता में

योग की अवधारणा– योग गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, इसलिए इसे योगशास्त्र भी कहते हैं। योग शब्द 'युज' धातु से बना है, जिसका प्रयोग समाधि और संयोग इन दोनों अर्थों में किया जाता है। गीता में योग शब्द मुख्यतः आत्मा और परमात्मा के संयोग के लिए साधन मार्ग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त गीता में कर्म की कुशलता (योगः कर्मसु कौशलम) तथा समत्व को योग कहा गया है (समत्वं योग उच्यते)। गीता में योग के विभिन्न स्वरूपों की चर्चा की गई है, जैसे कर्मयोग, सांख्ययोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, बुद्धियोग, समत्वयोग आदि। इनमें से कौनसा योगमार्ग आत्मसाक्षात्कार या ईश्वर साक्षात्कार का प्रमुख साधन है? इस विषय में विभिन्न भाष्यकारों के अलग–अलग मत हैं। आदिगुरू शंकराचार्य ज्ञानयोग को, रामनुजाचार्य भक्तियोग तथा बालगंगाधर तिलक कर्मयोग को आत्मसाक्षात्कार या ईश्वर साक्षात्कार का सर्वश्रेष्ठ साधन स्वीकार करते हैं।

कर्मयोग की अवधारणा– गीता में कर्मयोग के स्वरूप और इसकी महत्ता पर विस्तृत विवेचन किया गया है। कर्मयोग के अतिरिक्त ज्ञानयोग, भक्तियोग और राजयोग में एकान्त साधना की आवश्यकता होती है। एकमात्र कर्मयोग ही आध्यात्मिक आदर्श को जीवन संघर्ष के व्यस्ततम क्षेत्रों में पहुंचा देता है। कर्मयोग का लक्ष्य स्वयं की मुक्ति और लोकसंग्रह के माध्यम से जगत का कल्याण है। जब कोई कर्म कर्मफल की

आसक्ति से रहित होकर, कर्तृत्व के अहंकार से मुक्त होकर तथा ईश्वर की आराधना के निमित्त किया जाता है, तो वह कर्मयोग कहलाता है। कर्मयोग में मुख्यतः आत्मसमर्पण भाव निहित होता है। कर्मयोग में कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनो स्वयं न ग्रहण करके ईश्वर को समर्पित किया जाता है। यहां कर्तृत्व से अभिप्राय कर्तापन के अहंकार से तथा भोक्तृत्व का अभिप्राय कर्मफल के भोग से है। कर्म का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व ईश्वर को समर्पित करने पर कर्म हमारे लिए साधना बन जाता है। कर्मफल की आसक्ति और कर्तृत्व के अहंकार से किया गया प्रत्येक कर्म हमारे लिए बन्धनस्वरूप है। जब कर्तृत्व का अहंकार एवं कर्मफल ईश्वर को समर्पित करते हुए कोई कर्म किया जाता है, तो वह कर्मयोग में परिणत हो जाता है। इस प्रकार कर्मयोग हमारे लिए अहंनाश तथा कर्मबन्धन काटने का सक्षम साधन बन जाता है। गीता कर्मयोग रूप में हमारे समक्ष एक ऐसा उपाय प्रस्तुत करती है, जिसके द्वारा कर्म हमारे लिए बन्धन का कारण न बनकर भगवद् प्राप्ति के साधन बन जाते हैं।

गीता मुख्यतः कर्तव्यशास्त्र है। इसका मुख्य उद्देश्य मानवमात्र को अनासक्त भाव से अपने स्वधर्म पालन हेतु प्रेरित कर उसे आध्यात्मिक उन्नति प्रदान करना है। भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता, क्योंकि सम्पूर्ण मानव समुदाय प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है। कर्मो के साथ ही इनके शुभ–अशुभ कर्मफल भी सुनिश्चित हैं। कर्मो के अनुसार इन कर्मफलों को भोगना भी अनिवार्य हैं। इस प्रकार कर्म की अनिवार्यता से कर्मबन्धन भी अनिवार्य प्रतीत होता है। कर्मबन्धन के विषय में गीता में स्पष्ट किया गया है कि कर्म से बन्धनग्रस्त होना कर्ता के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। यदि किये गये कर्म के प्रति कर्तापन का अहंकार और फलासक्ति है, तो वह इष्ट, अनिष्ट, और मिश्रित परिणाम देता है। जबकि कर्तापन के अहंकार एवं फलासक्ति से रहित कर्म बन्धन का कारण नहीं होते। अज्ञान से युक्त कर्तृत्व का अहंकार एवं कर्मफल के प्रति आसक्ति ही कर्मबन्धन का प्रमुख कारण है।

गीता में यह स्पष्ट किया गया है कि किसी भी कर्म की सिद्धि में पांच तत्वों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। ये इस प्रकार हैं–अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और देव। यहाँ अधिष्ठान से अभिप्राय शरीर से है अर्थात जिसके आश्रय में समस्त कर्म सम्पन्न होते हैं। जिन–जिन इन्द्रियों और साधनों के माध्यम से कर्म किये जाते हैं उनका नाम करण है। इनकी पारस्परिक क्रियाओं का नाम चेष्टा है। मन, बुद्धि और अहंकार से युक्त जीवात्मा यहाँ कर्ता है। जबकि पूर्व जन्मों में किये गये शुभ और अशुभ कर्मो के संस्कार को 'दैव' की संज्ञा दी गई है। मुनष्य मन, वचन और शरीर से शास्त्रों के अनुकूल अथवा प्रतिकूल जो भी कर्म करता है, उसके ये पांच कारण हैं। किन्तु ऐसा होने पर भी जो अशुद्ध बुद्धि युक्त मनुष्य कर्मों के सम्पन्न होने में केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा को कर्ता मानता है, वह मलिन बुद्धि वाला अज्ञानी अयथार्थ ही समझता है। कर्म को योग में परिणत करने हेतु कर्तृत्व के अहंकार के त्याग के साथ–साथ फलासक्ति का त्याग भी आवश्यक है। गीता के सम्पूर्ण कर्म–दर्शन का सार इस श्लोक में निहित है–''हे अर्जुन! तेरा केवल कर्म में अधिकार है, उसके फल में कदापि नहीं। इसलिए तू कर्मो के फल का हेतु मत बन तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो'' :–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेशु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।। (2/47)

इस श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य का अधिकार केवल कर्म में है, उसके फल में नहीं। मनुष्य सामान्यतः जब भी कोई कर्म करता है, तो उसके फल का कारण भी स्वयं बन जाना चाहता है। मनुष्य जब स्वयं कर्मफल का कारण बनता है, तो वह बन्धनग्रस्त हो जाता है। कोई कर्म मनुष्य को कब बन्धनग्रस्त करता है? जब उस कर्म के फल में हमारी आसक्ति होती है। कर्मफल कर्मसिद्धान्त के नियमानुसार निश्चित है, किन्तु हम जब कर्मफल के प्रति अत्यधिक आसक्तिवान होते हैं तो कर्म हमारे बन्धन का कारण बन जाता है। बाल गंगाधर तिलक अपने ग्रन्थ गीता रहस्य में स्पष्ट करते हैं –''जड़ अथवा अचेतन कर्म न किसी को बान्ध सकते हैं और न ही किसी को मुक्त कर सकते हैं। मनुष्य फलाशा अथवा अपनी आसक्ति से ही बन्ध जाता है। इस आसक्ति से मुक्त होकर वह यदि केवल बाह्य इन्द्रियों से कर्म करे तो वह मुक्त ही है।'' गीता में कर्मफल आसक्ति के त्याग से क्या अभिप्राय है? इसे स्पष्ट करते हुए तिलक कहते हैं–''यहाँ फलासक्ति त्याग से गीता का यह अभिप्राय नहीं है कि कर्मो को योजनानुसार सम्पन्न न किया जाये या उस कर्म का कोई फल प्राप्त न हो अथवा जो फल प्राप्त हो उसका त्याग कर दिया जाये। गीता इन सभी को अस्वीकार करते हुए स्पष्ट करती है कि जब मनुष्य के मन में यह भाव होता है कि मैं जो कर्म करता हूँ मेरे उस कर्म का अमुक फल मुझे अवश्य ही प्राप्त होना चाहिए अर्थात् कर्मफल के विषय में कर्त्ता की बुद्धि में ममत्व की आसक्ति, अभिमान, आग्रह या इच्छा उत्पन्न हो जाती है और मन उसी से ग्रस्त हो जाता है। इस प्रकार जब इच्छानुसार फल मिलने में बाधा उत्पन्न होने लगती है, तभी दुःख की परम्परा का आरम्भ हुआ करता है।'' गीता में इसी फलासक्ति के त्याग पर विशेष बल दिया गया है।

कर्तृत्व के अहंकार और कर्मफल में आसक्ति के त्याग के साथ कर्म को योग में परिणत करने हेतु उसे ईश्वर आराधना के रूप में करना आवश्यक है। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं–''जिससे प्राणियों की उत्पति हुई है, और जिस परमात्मा से यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है, उसकी अपने कर्तव्य कर्मो के द्वारा उपासना करते हुए मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त कर

लेता है।'' इस श्लोक के अनुसार परम सिद्धि प्राप्त करने का उपाय है, अपने कर्तव्य–कर्मो के द्वारा उस परमपिता परमेश्वर की उपासना करना। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह अपने स्वधर्म का पालन समत्व भाव से करते हुए, उसके कर्मफलों को ईश्वर को समर्पित करते हुए उसकी उपासना करें। इस प्रकार स्वधर्म के माध्यम से ईश्वर की उपासना के द्वारा वह परमसिद्धि को प्राप्त करता हैं। –

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।

(18/46)

गीता हमारे समक्ष एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है कि कर्तव्य–कर्मो का पालन फलासक्ति से रहित होकर करना चाहिए। हम कर्मफल का कारण न बने और अकर्मण्यता से भी दूर रहें। यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि जब कर्मफल से कोई प्रयोजन न हो तो कर्म किये ही क्यों जायें। इस जिज्ञासा के समाधान हेतु गीता में स्पष्ट किया गया है कि कर्मो से संन्यास लेने अथवा कर्मो का परित्याग करने की अपेक्षा कर्म करना अधिक श्रेष्ठ है। कर्मो का त्याग करने मात्र से ही कोई मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता। कर्म मानवीय प्रकृति का अनिवार्य परिणाम है। मनुष्य एक क्षण भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता। मनुष्य प्रकृति से उत्पन्न सत्व, रज और तम, इन तीनों गुणों से नियंत्रित होकर या गुणों से परवश हो, कर्म में प्रवृत होता है। कर्म करना मनुष्य के लिए अनिवार्य है। कर्मो के बिना हमारा शरीर निर्वाह भी सम्भव नहीं है। भगवान श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि तीनों लोकों में उनका कोई भी कर्त्तव्य नहीं है। उन्हें कोई भी अप्राप्त वस्तु प्राप्त नहीं करनी है किन्तु फिर भी वे कर्म में संलग्न रहते हैं। यदि वे कर्म न करे तो मनुष्य भी उनके चलाए हुए मार्ग का अनुसरण करने से निष्क्रिय हो जायेंगे। इससे लोकस्थिति के लिए किये जाने वाले कर्मों का अभाव हो जायेगा, जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण प्रजा नष्ट हो जाएगी। इसलिए आत्मज्ञानी मनुष्य को भी सदैव कर्मरत रहना चाहिए। अज्ञानी मनुष्य जिस प्रकार फलासक्त होकर करता है उसी प्रकार आत्मज्ञानी मनुष्य को भी आसक्ति रहित होकर लोकसंग्रह को दृष्टिगत रखते हुए निरन्तर कर्म करने चाहिए।

भगवान श्रीकृष्ण का किसी कर्म के फल के विषय में यह महान मनोवैज्ञानिक सन्देश है कि कर्म का फल हमारे अधिकार में नहीं है। किसी भी कर्म का फल ईश्वरीय व्यवस्था के अधीन है। हमारी बुद्धि असन्तुलित तब होती है, जब कर्म करते समय हमारे मन में फल की चाह होती है। समान्यतः मनुष्य कर्मफल की भावना से प्रेरित होकर ही कोई कर्म करता है, किन्तु यह जीवन का कटु सत्य है कि मनुष्य का अधिकार केवल कर्म में है, उसके फल में नहीं। कर्मफल मानवीय अधिकार क्षेत्र के बाहर है। अतः कर्मफल के प्रति आसक्ति हमारे मन मे अशान्ति एवं उद्विग्नता को उत्पन्न करती है क्योंकि हो सकता है कि जिस कर्मफल की हमने आशा की हो वह हमें प्राप्त न हो। जब कर्मफल हमारी आशाओं के अनुरूप नहीं होता तो हम अशान्त, उद्विग्न और निराश हो जाते हैं। यह हताशा और निराशा हमें अपने कर्तव्य से विमुख भी कर सकती है। कभी–कभी मनुष्य इसी निराशा के कारण जीवन से भी पलायन कर जाता है। अतः सन्तुलित मनःस्थिति के लिए यह आवश्यक है, हम अपना पूरा ध्यान कर्म पर दें न कि कर्मफल पर। इसके अतिरिक्त कर्मफल के प्रति अत्यधिक लालसा हमारे कर्म की गुणवता को भी प्रभावित करती है। कर्मफल का अभिलाषी व्यक्ति अपना अधिकांश समय और क्षमता का दुरूपयोग कर्मफल के चिन्ता में व्यतित करता है। फलस्वरूप वह अपने कर्त्तव्यकर्म को पूर्ण कुशलता से सम्पादित करने में समर्थ नहीं होता। यदि वह अपने समय और क्षमताओं का सदुपयोग कर्म के क्रियान्वयन में लगाये तो वह अधिक गुणवता से अपने कर्म को सम्पादित करने में समर्थ होगा। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण गीता में हमें यह महान् सन्देश देते हैं कि हमारा अधिकार केवल कर्म में हैं, उसके फल में नहीं।

ज्ञानयोग की अवधारणा– गीता में ब्रह्मसाक्षात्कार या आत्मसाक्षात्कार हेतु उपदिष्ट विभिन्न साधन मार्गो में ज्ञानयोग की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आदिगुरु शंकराचार्य ज्ञानयोग को ब्रह्मसाक्षात्कार का प्रमुख साधन स्वीकार करते हैं। गीता में भगवान श्रीकृष्ण के मतानुसार इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र अन्य कुछ नहीं है (न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते)। सब कर्मों की समाप्ति ज्ञान में होती है। ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान अन्तिम है, जिसके पश्चात कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रहता। ब्रह्मज्ञान की स्थिति में ज्ञानी समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा में और आत्मा को समस्त प्राणियों में देखता है। ऐसा ज्ञानी व्यक्ति किसी से घृणा नहीं करता। जो व्यक्ति सब प्राणियों को नित्य प्रभु में और प्रभु को समस्त प्राणियों में अनुभव करता है, वह उत्तम भगवद्भक्त है। इस प्रकार के ब्रह्मज्ञान की साक्षात् अनुभूति ही ज्ञानयोग का लक्ष्य है।

ज्ञान प्राप्ति के उपाय– ज्ञानयोग में ज्ञान का अभिप्राय ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान की साक्षात अनुभूति से है। आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा अपने दिव्य आत्मस्वरूप की अनुभूति मानवीय जीवन का लक्ष्य है। इस ज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार सम्भव है? इसका समाधान करते हुए भगवान श्रीकृष्ण गीता में स्पष्ट करते हैं कि यह ज्ञान तत्वदर्शी ज्ञानियों से प्राप्त होता है। ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु साधक को ऐसे तत्वदर्शी ज्ञानियों को प्रणाम करके, उनके प्रति श्रद्धाभाव व्यक्त करते हुए उनके समक्ष अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासा प्रकट करनी चाहिए। यहां तत्त्वदर्शी ज्ञानी गुरू से अभिप्राय उन गुरूओं से है, जिन्होने साक्षात परब्रह्म तत्व की अनुभूति की हो। आध्यात्मिकता के क्षेत्र में गुरू का मात्र

विषय ज्ञाता होना पर्याप्त नहीं अपितु उसे उस परमतत्त्व का साक्षात ज्ञान होना आवश्यक है। इस क्षेत्र में गुरू का निष्पाप, निःस्वार्थी तथा तत्वदर्शी होना आवश्यक है।

अध्यात्मिक ज्ञान के जिज्ञासु साधक को ये तत्त्वदर्शी सदगुरू ब्रह्म विषयक ज्ञान का उपदेश देते है। इस ब्रह्म विषयक ज्ञान के श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा शिष्य के समस्त संशयों का निराकरण हो जाता है। यहाँ श्रवण से तात्पर्य ब्रह्मविषयक ज्ञान को तत्त्वदर्शी गुरूओं से सुनने से है। सुने हुए ज्ञान का तर्कपूर्वक चिन्तन करना मनन कहलाता हें और उसका निरन्तर ध्यान करना निदिध्यासन कहलाता है। इस प्रकार ब्रह्म ज्ञान के सतत् अभ्यास से साधक समस्त संशयों का निराकरण होकर उसे ब्रह्मज्ञान साक्षात अनुभूति होती है।

ज्ञान प्राप्ति हेतु योग्यताएँ– गीता में भगवान श्रीकृष्ण इस ब्रह्म विषयक ज्ञान की प्राप्ति हेतु साधक की कुछ योग्यताओं का वर्णन करते हैं। ये योग्यताएँ ब्रह्मज्ञान प्राप्ति का प्रमुख साधन हैं। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–''श्रद्धावान, जितेन्द्रिय और साधना में तत्पर व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त करके वह तत्काल ही परमशान्ति को प्राप्त हो जाता है।''

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञान लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।

(4/39)

1. ज्ञान के जिज्ञासु की प्रथम योग्यता उसका श्रद्धावान होना है। गुरू एवं शास्त्रों के वचनों के प्रति निष्ठा को ही श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति का प्रमुख साधन है। गुरू के वचनों और शास्त्रों की आज्ञाओं में श्रद्धा रखने वाला मनुष्य शीघ्र अपने मन को ईश्वर पर केन्द्रित कर लेता है। जो ईश्वर में अटूट श्रद्धा रखता हें, वह शीघ्र ईश्वर के साथ अपना आत्मीय सम्बन्ध स्थापित कर लेता हें और ईश्वर में तन्मयता की अनुभूति करता है। अतः श्रद्धा ज्ञान प्राप्ति का प्रमुख साधन है।
2. ज्ञान प्राप्ति की दूसरी महत्वपूर्ण योग्यता तत्परता है। ज्ञान प्राप्ति के लिये साधना के प्रति निष्ठा एवं लग्नशीलता ही तत्परता कहलाती है। श्रद्धा है लेकिन तत्परता नहीं हो तो साधना या ज्ञान प्राप्ति में सफलता नहीं मिलती। ज्ञान प्राप्ति के लिये आलस्य व प्रमाद को त्यागकर निरन्तर उत्साह के साथ प्रयत्नशील होना आवश्यक है।
3. ज्ञान प्राप्ति का तीसरी महत्वपूर्ण योग्यता इन्द्रियों का संयम है। ज्ञान प्राप्ति के लिये साधक का अन्तर्मुखी होना आवश्यक है। इन्द्रियो पर उचित संयम के द्वारा साधक अन्तर्मुर्खी होकर आत्मतत्व का चिन्तन, मनन और ध्यान कर सकता है। इन्द्रिय संयम के द्वारा ही चित्त को ईश्वर में एकाग्र किया जा सकता है। मन की शान्ति के लिये इन्द्रियों का संयम अत्यावश्यक है।

ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान का प्रभाव– तत्त्वदर्शी सदगुरूओं से प्राप्त ब्रह्म ज्ञान के निम्नलिखित प्रभाव परिलक्षित होते हैं–

1. ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के पश्चात साधक का मोह हमेशा के लिये नष्ट हो जाता है। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात वह कभी मोह के विकारों से ग्रस्त नहीं होता। मोह ऐसे ज्ञानी व्यक्ति को कभी प्रभावित नहीं कर सकता।
2. ब्रह्मज्ञान की अनुभूति के पश्चात साधक समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा में और आत्मा को समस्त प्राणियों मे अनुभव करता है। उसे यह साक्षात अनुभव हो जाता हें कि एक ही परमतत्व ब्रह्म का प्रकाश सभी प्राणियों में आत्मतत्व के रूप में प्रकाशित हो रहा है।
3. ब्रह्मज्ञान की साक्षात अनुभूति से साधक की समस्त अशुभ वृत्तियों का अन्त हो जाता हैं। वह सभी पाप वृत्तियों से परे चला जाता है। उसमें समस्त प्राणियों के प्रति करूणा का उदय हो जाता है। वह किसी से घृणा नहीं करता है।
4. ब्रह्मज्ञान के पश्चात समस्त शुभ अशुभ कर्मो के फल नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईधन को जलाकर भस्म कर देती है। उसी प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि समस्त कर्मों को समाप्त कर देती है।

भक्तियोग की अवधारणा– गीता में ईश्वर साक्षात्कार के लिये भक्तियोग को सर्वसुलभ एवं श्रेष्ठ साधन माना गया है। भक्ति शब्द की उत्पति 'भज' धातु से हुई है। 'भज' का अर्थ हें– सेवा या उपासना। समर्पित भाव से ईश्वरीय उपासना को भक्ति कहते हैं। जब भक्ति के द्वारा आत्मा का परमात्मा से संयोग होता है, तो उसे भक्तियोग कहते हैं। भक्ति को नारद मुनि 'अतिशय प्रेम' की संज्ञा देते हैं। यह ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास, श्रद्धा, अतिशय प्रेम और पूर्ण आत्मसमर्पण का भाव होता है। ईश्वर का स्मरण, चिन्तन, मनन और कीर्तन भक्ति के क्रियात्मक पक्ष है। ईश्वर के प्रति समर्पित भाव से कर्म करने पर और निरन्तर ईश्वर का चिन्तन करने से साधक को ब्रह्मभाव की अनुभूति होती है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहतें हैं–''जो मेरे परायण होकर सम्पूर्ण कर्मो को मुझ मे अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वर को अनन्य भक्तियोग से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं। हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगाने वाले प्रिय भक्तजनों को मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार सागर से उद्धार करता हूँ।''

ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण हेतु आवश्यक है कि मनुष्य अपने मन और बुद्धि को परमात्मा में एकाग्र करे। चित्त की एकाग्रता हेतु निरन्तर अभ्यास योग की सहायता लेनी चाहिए, जिसमें भगवद् प्राप्ति सुगम हो जाती है। यदि मन की बहिर्मुखी

प्रवृत्तियों के कारण जब अभ्यास भी कठिन प्रतीत होने लगे, तब समस्त कर्त्तव्य कर्मो को परमात्मा को समर्पित करने चाहिये। यदि मनुष्य यह करने में भी असमर्थ हो तो मन–बुद्धि पर विजय प्राप्त कर समस्त कर्त्तव्य कर्मो में कर्मफल का परित्याग कर दे, क्योंकि कर्मफल के त्याग से तत्काल परमशान्ति प्राप्त होती है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण के मतानुसार–''मर्म को न जानकर किये हुए अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञान से मुझ परमेश्वर का ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी सब कर्मो के फल का त्याग श्रेष्ठ हैं क्योंकि त्याग से तत्काल ही परमशान्ति प्राप्त होती है।

शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्म बन्धन का कारण है। परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति हेतु शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मफलों से मुक्त होना आवश्यक है। भगवत समर्पित बुद्धि से युक्त होकर समत्व भाव से कर्म करने पर कर्म हमें बन्धन ग्रस्त नही करते हैं। जो कुछ गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–''हे अर्जुन! तू जो भी कर्म करता है, जो कुछ भी खाता हें, जो कुछ भी हवन करता हें, जो कुछ भी दान देता है अथवा तप करता हैं, वह सभी कर्म मुझे अर्पित कर दे।'' इन कर्मो के किसी प्रकार की फलाशक्ति और कर्तव्य का अहंकार मत रख। इस प्रकार संन्यास योग से युक्त होने पर तू परमात्मा को प्राप्त होगा। ''गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– जो ब्रह्म को आश्रय या आधार मानकर आशक्ति का त्याग करते हुए कर्त्तव्य कर्म करता है वह जल में कमलपत्र के समान पाप से लिप्त नहीं होता।''

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संग त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।। (5/10)

गीता में चार प्रकार के भक्त– गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि चार प्रकार से मुझे भजते हैं–अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी। सांसारिक पदार्थो के लिए भजने वाले भक्तजन अर्थार्थी, संकट निवारण हेतु भजने वाले भक्तजन आर्त, ईश्वर के यथार्थरूप से जानने की इच्छा से भजने वाले भक्तजन जिज्ञासु कहलाते हैं। ज्ञानी के विषय में भगवान कहते हैं– ''इनमें से नित्य मुझमें एकीभाव से स्थित अनन्य प्रेमभक्ति वाला ज्ञानी अति उत्तम हें, क्योंकि मुझको तत्व से जानने वाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'' गीता में गहन व्यक्तिगत सम्बन्ध की अध्यात्म चेतना से युक्त जिस ईश्वर का वर्णन हैं, वह विभूतिमान पुरूषोत्तम ही नहीं अपितु वह मानव हित हेतु युग युग में अवतरित होता है। ईश्वर सुख दुःख का सच्चा साथी हैं और वह संकट के समय अपने भक्त का शरणागत है। ईश्वर इस जगत का परमगुरू है। ईश्वर अपनी शरण में आये भक्त जनों के सम्पूर्ण योग क्षेम का वहन करता है।

ईश्वर के अनुग्रह से मनुष्य सभी संकटो से मुक्त हो जाता है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण के मतानुसार मनुष्य चाहे कितना भी दुराचारी क्यों न हो यदि वह अनन्य भाव से ईश्वर को भजता है तो उसे साधु ही समझना चाहिए। ईश्वर के प्रति शरणागति से उसकी बुद्धि निश्चय शुभ हो जाती है। वह शीघ्र अपने बुरे संस्कारों को त्यागकर धर्मात्मा हो जाता है और परम शान्ति को प्राप्त होता है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में यह विश्वास दिलाते हैं कि ईश्वर के भक्त का कभी नाश नहीं होता। ईश्वर की प्राप्ति के लिए किया गया थोडा सा प्रयत्न भी व्यर्थ नहीं जाता। ईश्वर शरणागतवत्सल हैं। जब भक्त सभी धर्मो का परित्याग कर ईश्वर की शरण में जाता हें तो वह निश्चय ही ईश्वर को प्राप्त हो जाता हैं। गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि ''सभी धर्मों का त्याग करके मेरी शरण में आ जा शोक मत करों। मैं तुम्हे सभी पापो से मुक्त कर दूँगा।''

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

(18/66)

कृष्ण गीता में पुनः कहते हैं– हे अर्जुन! तू मुझमें ही निरन्तर मन लगा, मेरा भजन कर, कर्मो को समर्पित कर, मेरी सेवा कर, अपनी आत्मा को मुझमें प्रतिष्ठित करके अनन्यभाव से मेरी शरण में आ जाओ, इस प्रकार तू मुझे ही प्राप्त करेगा–

मन्मना भव मद्भक्तों मद्याजी मा नमस्करू।
मामेवैष्यसि युक्त्यैवमात्मान मत्परायणः।। (6/34)

गीता में वर्णित अनन्य भक्तिभाव से युक्त भक्तियोग ईश्वर साक्षात्कार का सहज, सरल और सर्वसुलभ साधना मार्ग है।

गीता में मानवीय जीवन के चरम लक्ष्य ब्रह्म साक्षात्कार या आत्मसाक्षात्कार के लिए कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग को साधना के प्रमुख साधनों के रूप में स्वीकार किया गया है। गीता मे साधना के इन विभिन्न मार्गो का उल्लेख मानवीय स्वभाव या प्रकृति के आधार पर किया गया है। प्रत्येक मनुष्य में तीन प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। ज्ञानात्मक शक्ति, भावनात्मक शक्ति और क्रियात्मक शक्ति । ज्ञानात्मक शक्ति के द्वारा मनुष्य चिन्तन–मनन करता है। भावनात्मक शक्ति के द्वारा वह अपने स्नेह या प्रेम को अभिव्यक्त करता है और क्रियात्मक शक्ति के द्वारा कर्मो का सम्पादन करता है। प्रत्येक मनुष्य मे इन तीन शक्तियों में से किसी एक की प्रधानता होती है। जिसमें चिन्तन मनन तर्क शक्ति प्रधान है, वह ज्ञान का पथ चुनता है। जिसमें भावनात्मक शक्ति की प्रधानता है, वह प्रेम का पथ अपनाता है और जिसमे क्रिया शक्ति की प्रधानता होती है, वह कर्मपथ को चुनता है। जब हम इन तीनों शक्तियों को ईश्वर की ओर अभिमुख करते हैं तो प्रथम ज्ञानयोगी, दूसरा भक्तियोगी और तीसरा कर्मयोगी कहलाता है। गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म के समन्वय के द्वारा मनुष्य के समक्ष विभिन्न साधना मार्ग प्रस्तुत किये गये हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी रूची और योग्यता के अनुरूप इनमें से कोई भी साधना मार्ग अपनाकर जीवन के चरम लक्ष्य को अनुभव कर सकता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

बहुविकल्पात्मक प्रश्न –

1. आदिगुरू शंकराचार्य ने कुल कितने उपनिषदों पर भाष्य लिखा है ?
   (अ) दस (ब) ग्यारह (स) छः (द) नौ
2. उपनिषद् शब्द में मूल धातु सद् का क्या अर्थ हें ?
   (अ) निकट (ब) निष्ठापूर्वक
   (स) बैठना (द) श्रद्धा
3. जाग्रत अवस्था मे आत्मा को कहते हैं ?
   (अ) प्राज्ञ (ब) तैजस
   (स) वैश्वानर (द) ब्रह्म
4. उपनिषदों के अनुसार आत्मा और ब्रह्म के माध्य कौन सा सम्बन्ध पाया जाता है ?
   (अ) समवाय (ब) संयोग
   (स) तादात्म्य (द) वियोग
5. उपनिषद् में निर्गुण ब्रह्म को कहा गया है ?
   (अ) अपर ब्रह्म (ब) पर ब्रह्म
   (स) साकार ब्रह्म (द) प्राण ब्रह्म
6. माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार आत्मा कुल अवस्थाएँ हैं ?
   (अ) चार (ब) पाँच (स) छः (द) तीन
7. गीता महाभारत के कौन से पर्व का भाग हैं ?
   (अ) कर्ण (ब) भीष्म–पर्व
   (स) सभा पर्व (द) आदि पर्व
8. गीता का प्रथम अंग्रेजी अनुवाद किसने किया ?
   (अ) चार्ल्स विल्किन्स (ब) चार्ल्स सेवियर
   (स) वाटेन हेस्टिंग्स (द) मैक्स मूलर
9. कांकॉर्ड आन्दोलन के प्रवर्तक कौन हैं ?
   (अ) इमर्सन (ब) कार्लायल
   (स) मैक्स मूलर (द) विल्सन
10. गीता रहस्य पुस्तक के लेखक कौन है ?
    (अ) आदिगुरू शंकराचार्य (ब) बाल गंगाधर तिलक
    (स) अरविन्द (द) विनोबा भावे
11. गीता पर प्रथम भाष्य किसने लिखा ?
    (अ) आदिगुरू शंकराचार्य (ब) रामानुजाचार्य
    (स) मध्वाचार्य (द) बल्लभाचार्य
12. गीता को व्यावहारिक वेदान्त का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ किसने कहा है ?
    (अ) बालगंगाधर तिलक (ब) महात्मा गांधी
    (स) स्वामी विवेकानन्द (द) महर्षि अरविन्द

अतिलघुतरात्मक प्रश्न–

1. उपनिषद् शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए ?
2. उपनिषदों को वेदान्त क्यों कहते हैं ?
3. शंकराचार्य के मतानुसार उपनिषदों का प्रमुख और गौण अर्थ क्या है ?
4. ग्यारह उपनिषदों के नाम बताइए ?
5. ब्रह्म शब्द की व्याख्या कीजिए ?
6. ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए ?
7. आत्मा की चार अवस्थाओं को स्पष्ट कीजिए ?
8. आत्मा की तुरीय अवस्था को स्पष्ट कीजिए ?
9. गीता शब्द के अर्थ को स्पष्ट कीजिए ?
10. कर्मयोग किसे कहते हैं ?
11. ज्ञानयोग का मुख्य लक्ष्य क्या है ?
12. भक्तियोग किसे कहते हैं ?

लघुत्तरात्मक प्रश्न–

1. उपनिषद् शब्द की व्याख्या कीजिए ?
2. निर्गुण ब्रह्म की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?
3. ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या कीजिए ?
4. जीवात्मा के स्वरूप का विवेचन कीजिए ?
5. परब्रह्म और अपरब्रह्म की अवधारणा स्पष्ट कीजिए ?
6. गीता का मुख्य उद्देश्य क्या हैं, स्पष्ट कीजिए ?
7. गीता के ज्ञानयोग के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए ?
8. ज्ञान की प्रमुख योग्यताओं का उल्लेख कीजिए ?
9. भक्तियोग की व्याख्या कीजिए ?
10. कर्मयोग की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?

निबन्धात्मक प्रश्न–

1. उपनिषदों में ब्रह्म की अवधारणा की विस्तृत व्याख्या कीजिए?
2. उपनिषदों में जीवात्मा के स्वरूप की व्याख्या कीजिए ?
3. गीता में कर्मयोग की अवधारणा की विस्तृत व्याख्या कीजिए?
4. गीता में भक्तियोग और ज्ञानयोग की अवधारण को स्पष्ट कीजिए ?

बहुविकल्पात्मक प्रश्नों के उत्तर –

1. (ब) 2. (स) 3. (स) 4. (स) 5. (ब) 6. (अ)
7. (ब) 8. (अ) 9. (अ) 10. (ब) 11. (अ) 12. (स)

अध्याय–3
बौद्ध एवं जैन दर्शन

(1) बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन का परिचय–बौद्ध दर्शन एक नास्तिक तथा अनीश्वरवादी दर्शन है।बौद्ध धर्म तथा दर्शन के जनक महात्मा बुद्ध माने जाते है। प्राचीन काल के अन्य उपदेशकों की भॉति महात्मा बुद्ध ने भी अपने धर्म का प्रचार मौखिक रूप से ही किया। उनके शिष्यों ने भी बहुत काल तक उनके उपदेशों का मौखिक ही प्रचार किया। बुद्ध के निजी उपदेशों का जो कुछ भी ज्ञान हमें आजकल प्राप्त हो रहा है वह त्रिपिटकों के माध्यम से ही हुआ है।

त्रिपिटक– पिटक का शाब्दिक अर्थ होता है 'पेटी'। बौद्ध दर्शन के नियमों और उपदेशों का संकलन तीन भागों में है, जिन्हें संयुक्त रूप से त्रिपिटक कहते हैं।

विनयपिटक– बौद्ध दर्शन और संघ के नियमों का संकलन।

सूक्तपिटक– बुद्ध के उपदेशों और विभिन्न वार्तालापों का संकलन।

अभिधम्मपिटक– बौद्ध दर्शन के गम्भीर दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन।

बौद्ध दर्शन के प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों में निम्नलिखित शामिल है–

बौद्ध दर्शन के चार आर्य सत्य –

महात्मा बुद्ध के सभी उपदेश चार आर्य सत्यों में ही निहित है।ये चार आर्य सत्य बौद्ध धर्म के सार है।महात्मा बुद्ध की समस्त प्रकार की शिक्षाएॅ किसी न किसी रूप में इन चार आर्य सत्यों से प्रभावित हुई है। इनके अभाव में बौद्ध धर्म तथा दर्शन की कल्पना कर पाना भी कठिन है। महात्मा बुद्ध ने इन चार प्रकार के आर्यसत्यों के महत्व को स्वयं 'मज्झिमनिकाय' में इस प्रकार से स्पष्ट किया था– 'चार आर्यसत्यों से ही अनासक्ति, वासनाओं का नाश, दुःखों का अन्त, मानसिक शान्ति, ज्ञान, प्रज्ञा तथा निर्वाण सम्भव है।' चार आर्यसत्यों पर जोर देना महात्मा बुद्ध के व्यवहारवाद का प्रमाण कहा जा सकता है। बौद्ध दर्शन में स्वीकार्य ये चार आर्य सत्य है–

प्रथम आर्यसत्य–दुःख है या दुःख की सत्ता है। महात्मा बुद्ध मानते है कि प्राणीमात्र का जीवन दुःख, भय, रोग, कष्ट और मृत्यु से परिपूर्ण है। वे कहते है–जन्म लेना, बूढा होना, मरना, शोक करना, रोना, पीटना, रोग, चिन्ता, परेशानी और इच्छित वस्तु का नहीं मिलना ये सब दुःखमय है। वे कहते है कि संसार दुख का समुन्द्र है। दुःखों के कारण मनुष्य जितने आँसू बहाता है उतना महासागरों में जल भी नहीं है।

महात्मा बुद्ध के अनुसार सांसारिक सुख भी वास्तविक सुख नहीं है। वे क्षणिक होते है।उनके नष्ट हो जाने पर दुःख ही होता है। ऐसे सुखों के साथ बराबर यह चिन्ता लगी रहती है कि कहीं वे नष्ट न हो जाएं । इस तरह के अनेक दुःखद परिणाम है जिसके कारण सांसारिक सुख वास्तविक सुख नहीं समझे जा सकते है। स्पष्ट है कि जिन्हें हम सुख मानते है वे अन्ततोगत्वा दुःख ही देते है। सभी वस्तुएँ जो उत्पन्न होती है वे दुःख, अनित्य और अनात्म रूप है। इनकी आसक्ति से ही दुःख मिलता है।

द्वितीय आर्यसत्य–दुःख का कारण है या दुःख समुदाय – बौद्ध दर्शन में दुःख के कारणों की एक श्रृंखला प्रस्तुत की गयी है, जिसे दुःख–समुदाय या द्वादश निदान कहा गया है। इस श्रृंखला की विभिन्न कड़ियाँ एक–दूसरे से जुड़ी हुई है, जिसमें किसी एक कड़ी के उपस्थित होने पर दूसरी कड़ी भी उपस्थित होती है। इसी कारण इसे 'प्रत्यीत्यसमुत्पाद' कहते हैं, जिसका अर्थ है –एक के नष्ट होने पर दूसरा उत्पन्न होता है। दुःख के कारणों की ये बारह कडियां है–अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति तथा जरा–मरण।

तृतीय आर्य सत्य–दुःख का अन्त सम्भव है – बौद्ध दर्शन में दुःखों के अन्त की अवस्था को निर्वाण कहा गया है। बौद्ध दर्शन के अनुसार निर्वाण ही जीवन का परम लक्ष्य, सर्वोच्च मूल्य और परम प्राप्तव्य है। यह परम शांति और परम् सुख की अवस्था है। इसकी प्राप्ति से भव का निरोध हो जाता है इस प्रकार यह पुनर्जन्म को रोकने वाला है।

निर्वाण के सम्बन्ध में बौद्ध दर्शन के एक अन्य दृष्टिकोण यह भी है कि निर्वाण वर्णनातीत अवस्था है। यूनान के राजा मिलिन्द अथवा मिनेंडर बौद्ध भिक्षु नागसेन के शिष्य हुए थे। नागसेन ने विभिन्न उपमाओं की सहायता से राजा मिलिन्द को निर्वाण का अवर्ण्य स्वरूप बतलाने की कोशिश की थी। नागसेन ने कहा–'निर्वाण समुन्द्र की तरह गहरा, पर्वत की तरह ऊँचा और मधु की तरह मधुर है।' इसके साथ ही नागसेन ने यह भी कहा था कि जिसको निर्वाण का कोई भी अनुभव नहीं है। उन्हें इन उपमाओं के द्वारा भी निर्वाण की कुछ भी धारणा नहीं हो सकती है। निर्वाण का शाब्दिक अर्थ होता है – 'अग्नि का बुझ जाना' जिसके दो भेद है –

उपाधि शेष निर्वाण– निर्वाण की इस अवस्था में जीवन

का अन्त नहीं होता है बल्कि ज्ञान प्राप्त व्यक्ति अन्य लोगों को भी निर्वाण प्राप्ति के लिये प्रेरित करता है।

अनुपाधिशेष निर्वाण– इसमें जीवन का अन्त हो जाता है और जन्म–मरण का चक्र भी समाप्त हो जाता है।

बौद्ध दर्शन की एक शाखा 'हीनयान' केवल स्वयं के मोक्ष को लक्ष्य घोषित करती है, जिसे 'अर्हत' कहते हैं जबकि 'महायान' शाखा अन्य लोगों के मोक्ष को भी अपना लक्ष्य बनाती है, जिसे 'बोधिसत्व' कहते हैं।

चतुर्थ आर्यसत्य–दुःख निरोधी गामिनी प्रतिपद– चतुर्थ आर्यसत्य दुःखों को दूर करने के उपाय भूत मार्ग का विवेचन करता है। इसे हीनोपाय भी कहते है। बुद्ध केवल दुःखों के कारण का ही विवेचन नहीं करते है अपितु वे उनसे मुक्त होने का मार्ग भी बताते है। इन मार्गों का अनुसरण करके व्यक्ति परम शांति निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। बौद्ध दर्शन में मोक्ष प्राप्ति के आठ मार्ग बताये गये हैं, जिन्हें 'आष्टांगिक मार्ग' कहते हैं। ये हैं –

1. सम्यक दृष्टि
2. सम्यक संकल्प
3. सम्यक वाक
4. सम्यक कर्मान्त
5. सम्यक आजीव
6. सम्यक व्यायाम
7. सम्यक स्मृति
8. सम्यक समाधि

बौद्ध दर्शन के इस अष्टांगिक मार्ग को बाद में पु:न तीन भागों प्रज्ञा, शील तथा समाधि में बांटा गया है।

2. प्रतीत्य समुत्पाद– भगवान बुद्ध ने दुःख समुदाय के प्रश्न का समाधान प्रतीत्य समुत्पाद के माध्यम से किया तथा इसकी अनेक प्रकार की व्याख्या की गयी है। इसे मध्यम धर्म अथवा मध्यम प्रतिपदा भी कहा जाता है। पालि भाषा में इसे पटिच्चसमुत्पाद भी कहा जाता है। इसका शाब्दिक अर्थ है– एक नष्ट होने पर दूसरा उत्पन्न होता है।

कारण–कार्य श्रृखला रूप प्रतीत्यसमुत्पाद द्वादश चक्र रूप है जिसे भवचक्र, संसार चक्र, जन्म–मरण चक्र और धर्मचक्र भी कहा जाता है। यह माना जाता है कि प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शन का कार्य–कारण सिद्धान्त है किन्तु वास्तव में यह सापेक्ष कारण–कार्यवाद है, मात्र कार्यकारण भाव नहीं है। यह सिद्धान्त सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन की रीढ कहलाता है। प्रतीत्य समुत्पाद द्वितीय आर्य सत्य के रूप में दुःख के कारणों को भी स्पष्ट करता है जो कि निम्नलिखित अनुसार है–

अविद्या– अनित्य को नित्य और अयथार्थ को यथार्थ समझ लेना ही अविद्या है। इस प्रकार अविद्या को अज्ञान का पर्यायवाची कहा जा सकता है। बौद्ध दर्शन में दुखों को अनुभूत न करना, दुःख के कारणों को न समझना और उसको दूर करने के उपाय अथवा मार्ग का अनुसरण न करना ही अज्ञान है। इस प्रकार हम कह सकते है कि चार आर्य सत्यों को नहीं जानना अविद्या है। अविद्या संस्कार का प्रत्यय है।

संस्कार– अविद्या के कारण कोई व्यक्ति जो भी भला–बुरा कार्य करता है, उसे संस्कार कहते हैं। जैसे संस्कार होते हैं वैसा ही उनका फल होता है। यह एक ऐसी संकल्प शक्ति है जो कि नवीन अस्तित्व को उत्पन्न करती हैं। जो कुशल और अकुशल कायिक, वाचिक और मानसिक चेतनाएँ पुनर्जन्म का कारण बनती है वे संस्कार कहलाती है। संस्कार से मुख्य रूप से चैतसिक संकल्प अथवा मानसिक वासनाएं अभिप्रेत है। इस अर्थ में संस्कार कर्म का ही सूक्ष्म मानसिक रूप है जबकि विस्तृत रूप में जीवन के भौतिक तथा मानसिक तत्वों का नाम ही संस्कार है। बौद्ध दर्शन में संस्कार के निम्नलिखित तीन भेद किए गये है– कार्य संस्कार, मनःसंस्कार तथा वाक् संस्कार।

विज्ञान– विज्ञान वे चित्धाराएं है जो पूर्व जन्म में सत्व कर्म करता है, उनके विपाक स्वरूप प्रकट होती है। शरीर, संवेदना, इन्द्रियां आदि के नष्ट होने पर भी विज्ञान शेष रहता है। यही विज्ञान माता के गर्भ में शिशु का प्रवेश विज्ञान करवाता है।

नामरूप– माता के गर्भ में शिशु का जो स्वरूप निर्धारित होता है, उसे ही नामरूप कहते हैं, जिसमें– संज्ञा, संस्कार, विज्ञान और वेदना नाम को प्रकट करते हैं और पृथ्वी, जल, तेज और वायु रूप को निर्धारित करते हैं।

इनमें से प्रत्यक्ष ज्ञान आदि संज्ञा है, मानसिक प्रवृतियां तथा इच्छाएं संस्कार है, बुद्धि–चेतना–मन इत्यादि विज्ञान है और भौतिक तत्व रूप है।

षडायतन– शिशु की पाँच इन्द्रियों और मन का संयोग षडायतन कहलाता है। शिशु नामरूप तथा षडायतन से युक्त होकर जन्म लेता है। आँख, नाक, कान, त्वचा और जिह्वा तथा मन ये छह इन्द्रियाँ माता के उदर से बाहर आने पर सत्व प्रयुक्त करता है।

षडायतन में पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ मन आयतन भी शामिल है। आयतन से अभिप्राय उत्पत्ति द्वार से लिया गया है। इसमें मन आयतन के अतिरिक्त पाँच ज्ञानेन्द्रियों के चक्षु आयतन, श्रोत आयतन, घ्राण आयतन, रसना आयतन और शेष शरीर को काय आयतन के रूप में निर्देशित किया जाता है।

स्पर्श– छः प्रकार की इन्द्रियों और उनके विषयों से उत्पन्न अनुभव स्पर्श कहलाता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन इन भेदों से यह छह प्रकार का होता है।

वेदना– स्पर्श का मन पर पड़ने वाला प्रभाव वेदना है।

वेदना का अर्थ अनुभव करना है। बाहय जगत की वस्तुओं के स्पर्श से जो प्रथम प्रभाव मन पर उत्पन्न होता है वह वेदना कहलाता है। वेदना के तीन भेद किए गये–सुखा वेदना, दुःखा वेदना और असुखा–दुखा वेदना।

तृष्णा– जगत के अनुभवों को बार–बार भोगने की इच्छा 'तृष्णा' है। यह सब दुखों का मूल कारण है। तृष्णा के निम्नलिखित तीन भेद किए गये हैं–

1. काम तृष्णा–इन्द्रिय सुखों की इच्छा
2. भव तृष्णा–जीवन के लिए
3. विभव तृष्णा–वैभव की इच्छा

उपादान– जगत की वस्तुओं के प्रति राग और मोह का भाव उपादान है। उपादान उग्र तृष्णा का वह रूप है जिससे मोह उत्पन्न होता है। इसे आसक्ति भी कहा जाता है। संयुक्तनिकाय में उपादान के चार प्रकार बताये गये है। ये हैं–कामोपदान, दृष्टिउपादान, शीलव्रतोपादान और आत्मवादोपादान। इनमें कामोपादान इन्द्रिय सुख को विषय करता है। मिथ्या सिद्धान्तों में विश्वास करना दृष्टि उपादान है। असद् आचरण में संलग्न होना शीलव्रतोपादान है तथा नित्य आत्मा को मानना आत्मावादोपादान है।

भव– पुनर्जन्म की इच्छा 'भव' है।

जाति– पुनर्जन्म हो जाना 'जाति' है।

जरा–मरण – पुनर्जन्म के कारण दुःखों को भोगना 'जरा मरण' है। बुढापा तथा मृत्यु इन दो अवस्थाओं को जरा–मरण कहा जाता है। संसार में जन्म के कारण सत्व दुःख, रोग, निराशा, कष्ट, बुढ़ापा और अन्त में मृत्यु को प्राप्त करता है।

ये बारह अंग जीव के भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों से सम्बद्ध है। इनमें से

1. अविद्या और संस्कार पूर्व भव अर्थात भूतकाल से सम्बन्धित है।
2. जाति और जरा–मरण भविष्य के भव से अर्थात भविष्यकाल से सम्बन्धित है।
3. इसके अतिरिक्त शेष आठ अंग यथा– विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान और भव वर्तमान जीवन से सम्बन्धित है।

इनमें से प्रत्येक अंग की प्रतीत्य समुत्पति का निहितार्थ यह है कि हर अंग पूर्व अंग पर आश्रित है और पूर्व अंग के बिना दूसरे की विद्यमानता सम्भव नहीं है।

(2) जैन दर्शन–

जैन दर्शन का परिचय–बौद्ध धर्म तथा दर्शन का समकालीन जैन दर्शन भी भारतीय नास्तिक तथा अनीश्वरवादी दर्शनों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जैन शब्द की उत्पत्ति 'जिन्' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है इन्द्रियों को जीतने वाला। इस प्रकार हम कह सकते है कि जिन वे व्यक्ति है जिन्होंने अपने मन तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली। मन तथा कामनाओं पर विजय प्राप्त कर वे हमेशा के लिए जीवन–मृत्यु के चक्र से मुक्त हो गये है यानी उन्होने कैवल्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति कर ली है।

जैन दर्शन सृष्टि निर्माता के रूप में ईश्वर को नहीं मानता है अपितु वे अपने धर्म के प्रवर्तकों जिन्हें वे तीर्थंकर कहते है की ईश्वर के रूप में उपासना करते है। तीर्थंकर का शाब्दिक अर्थ है– संसार रूपी समुद्र से बाहर ले जाने वाला। जैन दर्शन में अब तक 24 तीर्थंकर हुए है जिनमें प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव, पार्श्वनाथ तैबीसवे तथा महावीर स्वामी चौबीसवें तथा अंतिम तीर्थंकर हुए है।

जैन दर्शन एक नास्तिक दर्शन है क्योंकि यह वेदों को प्रमाण रूप में नहीं मानता है। जैन जिस साहित्य को प्रमाण रूप से स्वीकार करते हैं, वह है–आगम साहित्य, जिसके दो भेद हैं– 12 अंग और 12 उपांग।

जैन धर्म तथा दर्शन दो भागों में विभक्त है–श्वेताम्बर तथा दिगम्बर। इनमें से श्वेताम्बर सफेद वस्त्र धारण करते है जबकि दिगम्बर चारों दिशाओं को ही अपना वस्त्र मानकर नग्न रहते है। जैन दर्शन के साहित्यक ग्रन्थों में निम्नलिखित प्रमुख है–

- कुन्दकुन्दाचार्य–नियमसार, पंचास्तिकायसार, समयसार तथा प्रवचनसार
- उमास्वामी–तत्वार्थसूत्र, तत्वार्थधिगम
- समन्तभद्र आचार्य–आप्तमीमांसा
- सिद्धसेन दिवाकर–न्यायावतार, तत्वार्थटीका

जैन दर्शन के प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों में निम्नलिखित शामिल है–

स्यादवाद– जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा का सबसें महत्वपूर्ण सिद्धान्त स्यादवाद है जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु एक दृष्टिकोण विशेष से ही सत्य है। जैन दर्शन कहता है कि कोई भी ज्ञान पूर्ण सत्य नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनन्त गुण होते हैं। मनुष्य एक समय में वस्तु के एक गुण का ज्ञान ही प्राप्त कर सकता है। वस्तु के अनंत गुणों का ज्ञान केवल मुक्त व्यक्ति ही प्राप्त कर सकता है। साधारण मनुष्यों का ज्ञान अपूर्ण तथा आंशिक होता है। स्यादवाद ज्ञान की सापेक्षता का सिद्धान्त है। स्यादवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में सात दृष्टिकोण निम्नलिखित अनुसार हो सकते है–

स्यात् अस्ति– यह प्रथम परामर्श है जिसके अनुसार यदि यह कहा जाये कि स्यात् घट अस्ति तो इसका अर्थ होगा

कि किसी विशेष देश, काल और प्रसंग में स्यात् घट का अस्तित्व है।

स्यात् नास्ति– यह अभावात्मक परामर्श है। इस द्वितीय क्रम में स्यात् घट नहीं है में घट का नास्तित्व पदार्थों के द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से है क्योंकि घट में एवं पर पदार्थों में भेद की प्रतीति स्पष्ट है।

स्यादस्ति च् नास्ति च्–इस तीसरे प्रकार के दृष्टिकोण के अनुसार किसी देश–काल में उस वस्तु की सत्ता हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। जैसे– घट किसी देश एवं काल में एक विशेष रूप में हो भी सकता है तथा पट् रूप में नहीं भी हो सकता ।

स्यात् अव्यक्तव्यम्– चतुर्थ दृष्टि से द्रव्य अवक्तव्यम् भी हो सकता है, क्योंकि एक ही काल में वस्तु का अस्तित्व तथा अभाव दोनों तो फिर शब्दों में उसको अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार से यदि किसी परामर्श में परस्पर विरोधी गुणों के सम्बन्ध में एक साथ विचार करना पड़ता है तो उसके विषय में स्यात अव्यक्तव्यम् का प्रयोग करना पडता है।

स्यात् अस्ति च् अव्यक्तव्यम्–अर्थात कोई वस्तु एक समय विशेष में हो भी सकती है तथा अव्यक्तव्य भी रह सकती है। यह परामर्श पहले तथा चौथे परामर्श को जोड़ने से उत्पन्न होता है।

स्यात् नास्ति च् अव्यक्तव्य च्– इसका अर्थ है कि एक दृष्टि से वस्तु एक समय में नहीं भी हो सकती तथा अव्यक्तव्य भी हो सकती है। उदाहरण के लिए घट, पट की अपेक्षा से अभाव रूप है तथापि स्वरूप एवं अभिव्यक्ति की दृष्टि से वह अव्यक्तव्य है।

स्यात् अस्ति च् नास्ति च् अव्यक्तव्यम च्– इसका अर्थ है कि एक दृष्टि से वस्तु हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती तथा अव्यक्व्यम् भी हो सकती है।

स्यादवाद के इस सिद्धान्त को कुछ लोग संदेहवाद मानते है परन्तु स्यादवाद को संदेहवाद कहना भ्रामक माना जायेगा। सन्देहवाद वह सिद्धान्त है जो कि ज्ञान की सम्भावना में संदेह करते है जबकि जैन इसके विपरीत ज्ञान की सत्यता में विश्वास करता है। जैन दर्शन पूर्ण ज्ञान की सम्भावना पर भी विश्वास करता है तथा साधारण ज्ञान की सम्भावना पर भी वह सन्देह नहीं करता है। अतः स्यादवाद को सन्देहवाद नहीं कहा जा सकता है। सन्देहवाद के अतिरिक्त स्यादवाद पर निम्नलिखित आक्षेप भी लगाये जाते है–

1. बौद्ध और वेदान्तियों ने स्याद्वाद को विरोधात्मक सिद्धान्त कहा है। उनके अनुसार एक ही वस्तु एक ही समय में 'है' और 'नहीं' नहीं हो सकती है। जैनों ने विरोधात्मक गुणों को एक ही साथ समन्वित किया है। शंकराचार्य ने स्याद्वाद को पागलों का प्रलाप कहा है।
2. वेदान्त दर्शन में स्याद्वाद की आलोचना करते हुए कहा गया है कि कोई भी सिद्धान्त केवल सम्भावना पर आधारित नहीं हो सकता है। यदि सभी वस्तुएं सम्भव मात्र है तो स्याद्वाद स्वयं सम्भावना मात्र हो जाता है।
3. स्यादवाद् के अनुसार हमारे सभी ज्ञान सापेक्ष हैं। जैन दर्शन केवल सापेक्ष को मानते है निरपेक्ष को नहीं स्वीकार करते है। परन्तु सभी सापेक्ष, निरपेक्ष पर आधारित है निरपेक्ष के अभाव में स्यादवाद् के सातों परामर्श बिखरे रहते है और उनका समन्वय नहीं हो पाता है। इस प्रकार से स्यादवाद् का सिद्धान्त स्वयं स्यादवाद के लिए घातक सिद्ध हो जाता है।
4. जैन स्वयं स्यादवाद का खण्डन कर देते है जब वे स्यादवाद कि मीमांसा करते हुए स्यादवाद को भूलकर केवल अपने ही पक्ष को एकमात्र सत्य मान बैठते है। इस प्रकार से स्यादवाद का पालन वे स्वयं नहीं करते है।
5. स्यादवाद के सात परामर्शों में बाद के तीन परामर्श पहले चार को केवल दोहराने का प्रयास करते है। कुछ आलोचकों का मानना है कि इस प्रकार सात के स्थान पर सौ परामर्श हो सकते है।
6. जैन दर्शन केवल ज्ञान में विश्वास करता है। केवल ज्ञान को सत्य, विरोधरहित और संशयरहित माना गया है। जैनों ने इसे सभी ज्ञानों में उच्च कोटि का ज्ञान माना है। परन्तु आलोचकों का माना हैं कि केवल ज्ञान में विश्वास कर जैन निरपेक्ष ज्ञान में विश्वास करने लग जाते है जिसके फलस्वरूप स्याद्वाद जो कि सापेक्षता का सिद्धान्त है, अंसगत हो जाता है।

अनेकान्तवाद– एक वस्तु को कई दृष्टियों से देखा जा सकता है। जितने व्यक्ति इस जगत में है उतने ही भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण किसी वस्तु को देखने के लिए अपनाएं जा सकते है तथा इन दृष्टिकोणों में से प्रत्येक दृष्टिकोण में आंशिक सत्य निहित है किन्तु यह अनेकान्तवादी दृष्टिकोण यह मानता है कि मनुष्यों में विवाद तथा मतभेद का कारण वास्तव में केवल अपने ही दृष्टिकोण को एकमात्र सत्य मान लेना है।

जैन दार्शनिक अपने अनेकान्तवाद को हाथी तथा सात अन्धों के उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते है। इस उदाहरण के अनुसार जंगल में जा रहे सात अन्धों को एक हाथी जंगल में मिलता है जिसके विभिन्न अंगों को छूकर इनसे प्राप्त अनुभव के आधार पर प्रत्येक अन्धा हाथी का अलग–अलग विवेचन प्रस्तुत करता है। वास्तव में प्रत्येक द्वारा प्रस्तुत विवेचन में सत्यता का कुछ न कुछ अवश्य है किन्तु उनमें वास्तविक विवाद तब उत्पन्न होता है, जब प्रत्येक अन्धा केवल अपने ही पक्ष को सत्य मानता

है तथा अन्य लोगों के पक्ष को असत्य मानता हैं।

अनेकान्तवाद तथा नयवाद– नय का शाब्दिक अर्थ है–दृष्टिकोण। इस सिद्धान्त के अनुसार एक ही वस्तु को कम से कम सात दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। यही नयवाद कहलाता है। नयवाद में स्वीकार्य ये सात दृष्टिकोण अथवा नय है–

नैगम नय– धर्म और धर्मी दोनों को बारी–बारी ग्रहण करना नैगम नय का कार्य है। जैसे जीव कहने से ज्ञानादि गुण गौण होकर के जीवद्रव्य ही मुख्य रूप से विवक्षित होता है और ज्ञानवान जीव कहने पर ज्ञान गुण मुख्य हो जाता है और जीवद्रव्य गौण।

संग्रह नय– संग्रह नय में केवल सामान्य अथवा अभेद को ही ज्ञान का विषय बनाया जाता है।

व्यवहार नय– व्यवहार नय केवल विशेष अथवा भेद को ही ज्ञान का विषय स्वीकार करता है।

ऋजुसूत्रनय– यह नय केवल वर्तमान पर्याय को ही स्वीकार करता है। कोई व्यक्ति पूर्व जन्म में राजा था अथवा भविष्य के जन्म में वह किसी रियासत का राजकुमार होगा इन भावों के स्थान पर वर्तमान में वह क्या है? केवल इसी अर्थ को ग्रहण करने वाला दृष्टिकोण ही ऋजुसूत्रनय कहलाता है।

शब्द नय– काल, कारक, लिंग अथवा संख्या के भेद से शब्द भेद होने पर उसके भिन्न–भिन्न अर्थों को एक समान पर्यायवाची मानकर ग्रहण करने वाला दृष्टिकोण ही शब्द नय है। शब्द नय में यह माना जाता है कि एक शब्द के पर्यायवाची एक ही अर्थ का बोध करवाते है। जैसे– इन्द्र, शुक्र और पुरन्दर तीनों शब्दों का अर्थ एक ही है।

समभिरूढ नय– समभिरूढ नय प्रत्येक पर्यायवाची शब्दों का भी अर्थ भेद मानता है। जिस प्रकार एक अर्थ अनेक शब्दों का वाच्य नहीं हो सकता है। उसी प्रकार एक शब्द अनेक अर्थो का वाचक नहीं हो सकता है। उदाहरण के लिए समभिरूढ नय के अनुसार इन्द्र, शुक्र और पुरन्दर आदि इन पर्यायवाची शब्दों का अर्थ एक नहीं है बल्कि इसमें भी अर्थभेद पाया जाता है। जैसे इन्द्र शब्द का अर्थ है– आन्नद करने वाला, शुक्र का अर्थ है शक्तिशाली और पुरन्दर का अर्थ है नगरों को उजाडने वाला।

एवंम्भूत नय– इस नय के अनुसार किसी शब्द का जो अर्थ तथा उसमें जो क्रिया निहीत है उसके अनुसार होने पर ही उस शब्द का प्रयोग करना चाहिए। जैसे देवराज को उसी समय इन्द्र कहना चाहिए जब वह आन्नद प्राप्त करता हो। ठीक इसी प्रकार किसी व्यक्ति को तभी न्यायाधीश कहना चाहिए जब वह न्यायाधीश की वेशभूषा पहनकर न्याय के आसन पर बैठकर के न्याय का कार्य करे अन्यथा परिस्थितियों में उसे न्यायाधीश नहीं कहा जा सकता है।

इन सात प्रकार के नय में से प्रथम चार नय अर्थ नय माने जाते है जबकि अन्तिम तीन शब्द नय माने जाते है। इसका कारण यह है कि प्रथम चार प्रकार के नय में अर्थ पर अधिक बल है जबकि अन्तिम तीन का सम्बन्ध अर्थ से अधिक है।

(3) बौद्ध तथा जैन दर्शन के नैतिक सिद्धान्त

अष्टांगिक मार्ग–मध्यम प्रतिपदा–

बौद्ध दर्शन में मोक्ष की प्राप्ति के साधन के रूप में आठ प्रकार के उपायों का उल्लेख मिलता है जिन्हे कि संयुक्त रूप से अष्टांगिक मार्ग कहते है। यह अष्टांगिक मार्ग ही मध्यम प्रतिपदा कहलाता हे क्योंकि यह समस्त प्रकार की अतियों का निषेध कहलाता है।

1. सम्यक् दृष्टि– वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में जानना और चार आर्य सत्यों का चिन्तन सम्यक दृष्टि कहलाता है। अभिधम्मपिटक के विभंग ग्रन्थ में चार आर्य सत्यों के ज्ञान को ही सम्यक् दृष्टि कहा गया है। सम्यक अर्थात भली प्रकार से, यथार्थ रीति से, उचित प्रकार से, कुशलतापूर्वक और दृष्टि अर्थात दर्शन। तात्पर्य यह है कि कुशलतापूर्वक यथार्थ रीति से दुःख, दुःख समुदाय, दुःख निरोध मार्ग तथा दुःखनिरोधप्रतिपद को देखना सम्यक दृष्टि है।

2. सम्यक् संकल्प– सम्यक दृष्टि से जाने गये विचारों के अनुसार कार्य करने का दृढ़ संकल्प करना। सम्यक संकल्प का अर्थ है मन, वचन और कर्म से संसार त्याग और द्रोह, घृणा, द्वेष आदि एवं हिंसा से विरत हो जाना।

3. सम्यक् वाक– यथार्थ और सत्य वचन बोलना जो कि हितकर भी हो उसे ही सम्यक वाक् कहा जाता है। झूठ, चुगली, कठोर वाणी, व्यर्थ की बकवास आदि से व्यक्ति को बचाना ही सम्यक वाक् का उद्देश्य है।

4. सम्यक् कर्मान्त– हितकर कार्यों का आचरण ही सम्यक कर्मान्त है। उन सभी कर्मो का परित्याग करना चाहिए जो बुरे और असत्य है जैसे हिंसा, चोरी, लोभ, कामुकता, आराम, ऐश्वर्य भोग, मिथ्याचार आदि।

5. सम्यक् आजीव– अपनी जीविका चलाने के लिये नैतिकता से युक्त व्यवसाय को अपनाना सम्यक आजीव है। इसका अर्थ होता है शुद्ध और उचित उपायों से जीविकोपार्जन करना। इसका निषेधात्मक रूप से यही अथ्र है कि पशुवध, शराब, मॉंस, विष आदि का व्यापार नहीं करना तथा दबाव, रिश्वत, जालसाजी, लूटपाट, धोखा आदि बुरे कार्यों के द्वारा जीवनयापन नहीं करना ही सम्यक आजीव है।

6. सम्यक् व्यायाम– जो अच्छे विचार हृदय में प्रविष्ट हो गये हैं, उनका अस्तित्व बचाये रखना और बुरे विचारों का हृदय में प्रवेश रोकना ही सम्यक व्यायाम है। इस प्रकार सम्यक

व्यायाम में निम्नलिखित शामिल है–

- शुभ विचारों का चिन्तन करना
- मन में समाविष्ट हो चुके अच्छे विचारों को सुरक्षित रखना
- बुरे विचारों को उत्पन्न नहीं होने देना
- जो बुरे विचार मन में प्रविष्ट हो चुके है उन्हें नष्ट करना

7. सम्यक् स्मृति– शरीर की अनित्यता को ध्यान में रखना ही सम्यक स्मृति है।

8. सम्यक् समाधि– समाधि अष्टांगिक मार्ग की चरम अवस्था है। मन या चित्त की एकाग्रता सम्यक समाधि है। सम्यक समाधि की चार अवस्थाएँ होती हैं –

प्रथम अवस्था– शान्त चित से चार आर्य सत्यों का चिन्तन करना

द्वितीय अवस्था– इस अवस्था में तर्क–वितर्क संदेह सब दूर हो जाते है।चार आर्य सत्यों के प्रति श्रद्धा बढ जाती है तथा चित में शांति और स्थिरता आती है।

तृतीय अवस्था– इस अवस्था में मन शांति और आन्नद के भाव से हटकर तटस्थता और उपेक्षा के भाव को लाता है।

चतुर्थ अवस्था– यह पूर्ण शान्ति की अवस्था हैं। इसमें सुख–दुख सब नष्ट हो जाते और सत्व निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

उपरोक्त आठ प्रकार के मार्गों को पुनः 3 भागों में बाँटा गया है –

प्रज्ञा– इसमें सम्यक दृष्टि एवं सम्यक संकल्प को शामिल किया जाता हैं

शील– इसमें सम्यक वाक्, सम्यक कर्मान्त, सम्यक आजीव को शामिल किया जाता हैं

समाधि– इसमें सम्यक व्यायाम, सम्यक स्मृति, सम्यक समाधि को शामिल किया जाता है।

पंचमहाव्रत– जैन ऋषिमुनियों द्वारा जिन कठोर नियमों का पालन किया जाता है, उन्हें ही पंचमहाव्रत कहते हैं। यह है– सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य (जैन ऋषियों और मुनियों के लिये)। पंचमहाव्रतों का जो सरल रूप है और जिसका पालन जैन गृहस्थ कर सकते हैं, उन्हें 'अणुव्रत' कहते हैं। पंच महाव्रतों का विस्तारपूर्वक विवेचन निम्नलिखित अनुसार है–

(अ) सत्य– सत्य का शाब्दिक अर्थ है–असत्य का त्याग। सत्य का आदर्श है सुनृत अर्थात प्रिय एवं हितकारी सत्य बोलना चाहिए। किसी व्यक्ति द्वारा केवल मिथ्या वचनों का परित्याग ही नहीं करना चाहिए बल्कि मधुर वचनों का प्रयोग भी करना चाहिए। सत्य व्रत का पालन भी मन, वचन तथा कर्म से करना चाहिए।

(ब) अंहिसा– अहिंसा का अर्थ है हिंसा का त्याग। जैनों के मतानुसार जीव का निवास प्रत्येक द्रव्य में है। इसका निवास गतिशील के अतिरिक्त स्थावर द्रव्यों में जैसे पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल आदि में माना जाता है। अतः अहिसा का अर्थ है सभी प्रकार के जीवों की हिंसा का परित्याग। संन्यासी इस व्रत का पालन अधिक तत्परता से करते है किन्तु साधारण मनुष्य के लिए जैनों ने दो इन्द्रियों वाले जीवों तक कि हिंसा नहीं करने के आदेश दिये है।

अहिंसा केवल निषेधात्मक आचरण ही नहीं है बल्कि इसे भावात्मक आचरण भी कहा जा सकता है। अहिंसा का अर्थ केवल जीवों की हिंसा का त्याग ही नहीं है बल्कि उनके प्रति प्रेम का भाव भी व्यक्त करना इसमे शामिल है। अहिंसा का पालन मन, वचन और कर्म से किया जाना चाहिए। हिंसात्मक कार्यों के सम्बन्ध में सोचना तथा दूसरों को हिंसात्मक कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करना भी अहिंसा सिद्धान्त का उल्लघंन ही माना जायेगा। जैनों के अनुसार अहिंसा विचार जीव सम्बन्धी विचार की देन है। चूंकि सभी जीव समान है, इसीलिए किसी जीव कि हिंसा करना अधर्म है।

(स) अस्तेय– इसका अर्थ है चोरी का निषेध। जैन दर्शन के अनुसार जीवन का अस्तित्व धन पर निर्भर करता है। प्रायः यह देखा जाता है कि धन के बिना मानव अपने जीवन को सुचारू रूप से निर्वाह नहीं कर पाता है। इसी कारण से जैनों ने धन को मानव का बाह्य जीवन कह कर पुकारा है। किसी व्यक्ति का धन का अपहरण करना उसके अपहरण करने के समान है। अतः चोरी का निषेध करना नैतिक अनुशासन कहा गया है।

(द) अपरिग्रह– अपरिग्रह का तात्पर्य है विषयासक्ति का त्याग। मनुष्य के बन्धन का कारण सांसारिक वस्तुओं से आसक्ति को ही कहा जा सकता है। अतः सांसारिक वस्तुओं से निर्लिप्तता अर्थात अपरिग्रह को आवश्यक माना गया है। सांसारिक विषयों में रूप, स्पर्श, गन्ध, स्वाद तथा शब्द आते है। इसीलिए अपरिग्रह का तात्पर्य रूप, रस, गन्ध, स्वाद तथा स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषयों का परित्याग करना कहा जा सकता है।

(य) ब्रहमचर्य– ब्रहमचर्य का अर्थ है वासनाओं का त्याग करना। मानव अपनी वासनाओं तथा कामनाओं के वशीभूत होकर ऐसे कर्मो को प्रश्रय देता है जो पूर्णत अनैतिक होते है। ब्रहमचर्य का साधारणतः अर्थ इन्द्रियों पर रोक लगाना है परन्तु जैन ब्रहमचर्य का अर्थ सभी प्रकार की कामनाओं का परित्याग मानते है। मानसिक अथवा बाह्य, लौकिक अथवा परलौकिक, स्वार्थ अथवा परार्थ सभी प्रकार की कामनाओं का पूर्ण परित्याग ही ब्रहमचर्य कहलाता है। ब्रहमचर्य का पालन मन, वचन तथा कर्म तीनों से करने का निर्देश दिया गया है।

उपरोक्त कर्मों को अपनाकर मानव मोक्षानुभूति के योग्य

हो जाता है। पंच महाव्रत सम्बन्धी यह मार्ग जैन दर्शन के सम्यक् चरित्र मार्ग का सबसे महत्वपूर्ण एवम प्रारम्भिक भाग है। पंच महाव्रत का पालन बौद्ध धर्म में भी हुआ है जहाँ इसे पंचशील नाम दिया गया है।

त्रिरत्न— जैन दर्शन में मोक्ष प्राप्ति के तीन साधन बताये गये हैं, जिन्हें त्रिरत्न कहते हैं। इन त्रिरत्नों में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र शामिल है। भारत के अधिकांश दर्शनों ने इनमें से मोक्ष के लिए किसी एक मार्ग को ही अधिक महत्व दिया है। कुछ दर्शनों ने मोक्ष प्राप्ति के लिए केवल सम्यक् दर्शन को तो कुछ ने केवल सम्यक ज्ञान को और कुछ ने केवल सम्यक चरित्र को महत्व प्रदान किया किन्तु जैन दर्शन ने समग्रतापूर्वक चिन्तन करते हुए तीनों को समान महत्व प्रदान कर इन्हे त्रिरत्न घोषित किया है।

सम्यक् दर्शन— जैन तीर्थंकरों में और जैन साहित्य अर्थात् 'आगम' में श्रद्धा रखना ही सम्यक दर्शन है। जैन दर्शन के अनुसार सत्य के प्रति श्रद्धा की भावना को रखना सम्यक् दर्शन कहा जाता है अर्थात् यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा का होना ही सम्यक् दर्शन कहलाता है। सम्यक दर्शन का अर्थ अन्धविश्वास एवं रूढिवादिता नहीं है बल्कि यह तो बौद्धिक विश्वास है।

सम्यक् ज्ञान— जीव और अजीव के भेद को जान पाना ही सम्यक् ज्ञान है। जीव और अजीव के अन्तर को न समझने के कारण ही बन्धन का प्रादुर्भाव होता है तथा इससे दूर रहने के लिए ज्ञान का होना आवश्यक है। यह ज्ञान संशयरहित तथा दोषरहित होता है। सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति में कुछ कर्म बाधक होते हैं जिन्हें नष्ट करना अनिवार्य है। कर्मों के पूर्ण विनाश के पश्चात ही सम्यक ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।

सम्यक् चरित्र— नैतिक कार्यों को करना और अनैतिक कार्यों से बचना ही सम्यक चरित्र कहलाता है। सम्यक चरित्र के द्वारा जीव अपने कर्मों से मुक्त हो सकता है क्योंकि कर्म ही बन्धन एवं कष्ट का मूल कारण है। सम्यक् चरित्र के पालन से जीव अपने कर्मों से मुक्त हो जाता है। सम्यक चरित्र में निम्नलिखित शामिल है— पंच महाव्रत, पंच अणुव्रत, समिति, गुप्ति, अनुप्रेक्षा, परीषह और धर्म।

त्रिरत्नों के पालन से मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इनके पालन से कर्मों का आस्त्रव बन्द हो जाता है तथा पुराने कर्मों का क्षय हो जाता है। इस प्रकार से जीव अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त कर लेता है। यही मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ केवल दुःखों का विनाश मात्र नहीं है बल्कि आत्मा के अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति भी है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

1. प्रतीत्य समुत्पाद के तत्व है—
   (अ) 10 (ब) 12
   (स) 8 (द) 16
2. निर्वाण का उल्लेख किस आर्य सत्य में है ?
   (अ) प्रथम आर्य सत्य में (ब) द्वितीय आर्यसत्य में
   (स) तृतीय आर्यसत्य में (द) चतुर्थ आर्यसत्य में
3. जैन दर्शन में स्वीकार्य पंच महाव्रत बौद्ध दर्शन में क्या कहलाते है—
   (अ) अष्टांगिक मार्ग (ब) अष्टांगिक योग
   (स) पंचशील (द) त्रिरत्न
4. त्रिरत्न में शामिल नहीं है—
   (अ) सम्यक दृष्टि (ब) सम्यक चरित्र
   (स) सम्यक ज्ञान (द) सम्यक स्मृति

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न—

1. त्रिपिटक क्या है?
2. प्रतीत्य समुत्पाद तथा द्वाद्वशनिदान किस आर्यसत्य का भाग है?
3. अविद्या क्या है?
4. निर्वाण का अर्थ क्या है?
5. अर्हत किसे कहते है?
6. बोधिसत्व का आदर्श बौद्ध धर्म की कौनसी शाखा द्वारा स्वीकार किया गया है?
7. जैन शब्द का अर्थ क्या है?
8. तीर्थंकर से आप क्या समझते है?
9. जैन धर्म के प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकर कौन थे?
10. जैन साहित्य क्या कहलाता है?
11. जैन धर्म के दो सम्प्रदाय कौनसे हैं?
12. त्रिरत्न के नाम बताइए?
13. अणुव्रत किसे कहते है?
14. गुप्ति से आप क्या समझते है?

लघुत्तरात्मक प्रश्न—

1. त्रिपिटक का अर्थ बताते हुए इनका वर्णन कीजिए?
2. नामरूप से आप क्या समझते हैं?
3. बौद्ध दर्शन के अनुसार निर्वाण के भेदो को वर्णन कीजिए?

4. अष्टांगिक मार्ग के अवयवों का नाम लिखिए?
5. सम्यक् व्यायाम को समझाइए?
6. सम्यक् समाधि के स्तरों को समझाइए?
7. जैन दर्शन में समिति के अर्थ को बताते हुए इसके प्रमुख प्रकारों को समझाइये?
8. स्याद्वाद के सिद्धान्त को समझाइये?
9. अनेकान्तवाद से आप क्या समझते है?

निबन्धात्मक प्रश्न–

1. चार आर्य सत्यों का वर्णन कीजिए?
2. प्रतीत्य समुत्पाद को समझाइए ?
3. अष्टांगिक मार्ग का वर्णन कीजिए ?
4. जैन दर्शन में त्रिरत्नों का विस्तापूर्वक वर्णन कीजिए ?

उतरमाला–

(1)–(ब) (2)–(स) (3)–(स) (4)–(अ)

अध्याय – 4
योग दर्शन एवं वेदान्त दर्शन

(1) योग दर्शन–

महर्षि पतंजलि को योग दर्शन का प्रमुख आचार्य माना जाता है। योग भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्पर की अमूल्य साधना पद्धति है। चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त सभी भारतीय दार्शनिकों ने आत्मसाक्षात्कार एवं तत्वसाक्षात्कार में योग साधना की महत्ता को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है। यद्यपि भारतीय चिन्तन परम्परा में योग साधना का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। उपनिषद्, महाभारत, भगवद्गीता, जैन और बौद्ध दार्शनिक चिन्तन परम्पराओं में योग सम्बन्धी साधना पद्धति का विवेचन किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार हिरण्यगर्भ योग के आदि वक्ता हैं। अतः योग के आचार्यों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। योग के इन आचार्यों में महर्षि पतंजलि का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महर्षि पंतजलि ने ही सर्वप्रथम सुसम्बद्ध दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में योग का विवेचन किया। महर्षि पतंजलि का योगसूत्र योग दर्शन का प्रमुख ग्रन्थ है। उन्होंने इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम योग दर्शन का व्यवस्थित ढंग से दार्शनिक रूप में प्रतिपादन किया। योगसूत्र चार पादों (अध्यायों) में विभक्त है– समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद। महर्षि पतंजलि के योग दर्शन को राजयोग भी कहते हैं।

योग की परिभाषा– योग दर्शन में योग शब्द युज् समाधौ अर्थात् समाधि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। महर्षि पतंजलि ने अपने योगसूत्र में योग की परिभाषा इस प्रकार दी है–''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'' अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है। यहाँ चित्त से अभिप्राय अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि और अंहकार से है। यद्यपि चित्त त्रिगुणात्मक है, तथापि उसमें सत्वगुण की प्रधानता है। यह तात्विक रूप से जड या अचेतन है, किन्तु सत्व गुण की प्रधानता के कारण यह स्वच्छ दर्पण के समान पुरुष (आत्मा) के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है, जिससे उसमें चैतन्य का आभाष होता है। इस प्रकार अचेतन चित्त चैतन्य स्वरूप पुरुष (आत्मा) से प्रकाशित होकर चेतनवत प्रतीत होने लगता है। चित्तवृत्ति का अर्थ है–चित्त द्वारा विषयाकार ग्रहण करना। जब इन्द्रियों, का विषयों से सन्निकर्ष होने पर चित्त विषयों के सम्पर्क में आता है, तब विषयाकार हो जाता है। चित्त द्वारा विषयों के आकार को ग्रहण करना ही चित्तवृत्ति कहलाती है। पुरुष के चैतन्य के प्रकाश से चित्तवृत्ति प्रकाशित होती है और जीवात्मा को विषयों का ज्ञान होता है। इन चित्तवृत्तियों का प्रवाह निरन्तर चित्त में चलता रहता है। ये चित्तवृतियाँ क्षीण होकर चित्त में अपने संस्कारों को स्थापित करती हैं और ये संस्कार परिपक्व होकर अन्य वृत्तियों का रूप धारण करते है। इस प्रकार चित में वृत्तियों से संस्कारों और सस्कारो से वृत्तियों की उत्पति का क्रम निरन्तर चलता रहता है। विषयाकार चित्त का पुरुष में प्रतिबिम्बित होने के कारण पुरुष चित्त के व्यापारों को अपना समझने लगता है। चित्त की सुख–दुःखात्मक वृत्तियों के अनुसार स्वयं को सुखी और दुःखी मानने लगता है। पुरुष एवं चित्त का यह अनादि कालीन सम्बन्ध ही जीव के बन्धन का कारण है। जब पुरुष विवेक ज्ञान के द्वारा चित्त एवं उसकी वृत्तियों से अपना भेद करके अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो वह अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस अवस्था में पुरुष अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में प्रकाशित होने लगता है। इस अवस्था में चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। चित्तवृत्तियों के निरोध की इस अवस्था को ही योग कहते हैं।

अष्टांग योगमार्ग– महर्षि पतंजलि द्वारा चित्त की वृत्तियों के निरोध हेतु प्रतिपादित साधना पद्धति के आठ सोपान हैं। इसलिये इस साधना पद्धति को अष्टांग योगमार्ग कहते हैं। इस योगमार्ग के आठ अंग इस प्रकार हैं– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इसमें से प्रथम यम और नियम नैतिक मूल्यों की साधना पर बल देते हैं। आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार का उद्देश्य चित्त को बाह्य विषयों से हटाना है। धारणा, ध्यान और समाधि चित्त की एकाग्रता के विभिन्न रूप हैं। इनके द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जाता है। योग के इन आठ अंगों में से यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार योग के बहिरंग साधन हैं, जबकि धारणा, ध्यान और समाधि योग के अन्तरंग साधन हैं। योग के आठ अंगों का विस्तृत विवेचन इस प्रकार है–

यम– शरीर, मन और वाणी का संयम यम कहलाता है। आत्मिक उत्थान के साथ साथ समस्त प्राणियों के कल्याण में इनकी भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महर्षि पतंजलि के अनुसार यम पांच है– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ये नैतिकता के सार्वभौम धर्म हैं।

1.अहिंसा– किसी भी प्राणी का किसी भी काल में किसी प्रकार से द्रोह न करना अर्थात् मन, वचन और कर्म के द्वारा किसी भी प्राणी को कोई कष्ट नहीं पहुँचाना ही अहिंसा कहलाता है। प्राणी मात्र के प्रति करूणामय व्यवहार अहिंसा का भावात्मक पक्ष है। जिस मनुष्य का अहिसा नामक प्रथम यम सिद्ध हो जाता

है, उसके समीप निवास करने वाले हिंसक जीव भी अपने हिंसक स्वभाव का परित्याग कर देते हैं।

2.सत्य– सत्य सदाचार का मूल है। प्रत्यक्ष देखकर, सुनकर या अनुमान करके जैसा अनुभव किया गया है, उसे मन, वचन और कर्म के द्वारा वैसा ही अभिव्यक्त करना सत्य कहलाता है। श्रोता को उद्वेग न उत्पन्न करने वाले, प्रिय लगने वाले, परिणाम में हितकारी, निष्कपट तथा स्पष्ट वचन सत्य वचन की विशेषता है।

3.अस्तेय– निषिद्ध प्रकार से दूसरों का द्रव्य न ग्रहण करना तथा जिसका कुछ भी मूल्य हो ऐसी कोई वस्तु उसके स्वामी की अनुमति के बिना न ग्रहण करना ही अस्तेय कहलाता है। अतः मन, वचन और कर्म के द्वारा किसी द्रव्य को न चुराना, न ग्रहण करना और न ही छीनना अस्तेय है।

4. ब्रह्मचर्य– उपस्थेन्द्रिय का यथार्थ संयम करना ही ब्रह्मचर्य है। मन, वचन और कर्म के द्वारा विषय वासनाओं का पूर्णतया त्याग करते हुए उपस्थेन्द्रिय का संयम ही ब्रह्मचर्य कहलाता है।

5.अपरिग्रह– भौतिक वस्तुओं के संग्रह की प्रवृति का त्याग ही अपरिग्रह कहलाता है। अपरिग्रह के लिए मन, वचन और कर्म से भोग्य पदार्थों के संग्रह की प्रवृति का त्याग करना आवश्यक है।

नियम– सदाचरण और सद्व्यवहार के माध्यम से मनुष्य को सत्त आत्मिक उत्थान की ओर अग्रसर करना ही नियम का मुख्य उद्देश्य है। महर्षि पतंजलि के अनुसार नियम पाँच हैं– शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान। नियम का विस्तृत विवेचन इस प्रकार है–

1.शौच– शौच का नियम में प्रथम स्थान है। शौच का अर्थ मानवीय जीवन में सूचिता या पवित्रता से है। बाह्य एवं आभ्यांतर दृष्टिकोण से शौच के दो भेद हैं। बाह्य शौच के अन्तर्गत शारीरिक शुद्धि आती है। स्नान, स्वच्छता एवं पवित्र भोजन बाह्य शौच के प्रमुख साधन हैं। आभ्यांतर शौच का अर्थ मानसिक पवित्रता से है। मैत्री, करूणा, मुदिता (प्रसन्नता) और उपेक्षा आभ्यांतर शौच के प्रमुख साधन है।

2.सन्तोष– पंच नियमों के अन्तर्गत सन्तोष का द्वितीय स्थान है। उचित प्रयास से जो कुछ भी प्राप्त हो उसी से सतुष्ट रहना सन्तोष कहलाता है। शरीर यात्रा के लिए जो नितान्त आवश्यक हैं, उसके अतिरिक्त अनावश्यक वस्तुओं की इच्छा न करना ही सन्तोष है।

3. तप– सुख–दुःख, लाभ–हानि, मान–अपमान, जय–पराजय, सर्दी–गर्मी, आदि द्वन्द्वों को सहन करना ही तप कहलाता हैं। संयमित जीवन व्यतीत करते हुए अनुष्ठान, मंत्रजाप एवं उपासना द्वारा अशुद्धि का नाश करना भी तप के अन्तर्गत आता है।

4.स्वाध्याय– स्वाध्याय का अर्थ है– शास्त्रों का अध्ययन करना तथा ज्ञानी पुरुषों के वचनों का अनुशीलन करना। महर्षि व्यास के मतानुसार ओंकार का जाप करना तथा मोक्ष की ओर अग्रसर करने वाले सद्ग्रन्थों का श्रद्धा एवं निष्ठापूर्वक अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है। उपनिषद्, गीता, रामायण, महाभारत आदि सद्ग्रन्थों के अध्ययन से हमारे विचारों एवं संस्कारों में पवित्रता, दिव्यता एवं दृढता आती है।

5.ईष्वरप्रणिधान– गुरुओं के भी परमगुरु परमात्मा को अपने समस्त कर्तव्य कर्मो को समर्पित करते हुए उसके प्रति अटूट श्रद्धा, अस्था और विश्वास ईश्वरप्राणिधान कहलाता है। योगसूत्रकार महर्षि पतंजलि के अनुसार ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम ओंकार है। ओंकार का श्रद्धापूर्वक निरन्तर चिन्तन मनन और ध्यान ईश्वरप्रणिधान के अंग हैं। ईश्वरप्रणिधान के द्वारा समाधि में सिद्धि प्राप्त होती है।

आसन– यम और नियम के पश्चात आसन अष्टांग योग का महत्वपूर्ण अंग है। यह शरीर का संयम है। चित्त की एकाग्रता के लिए शरीर का अनुशासन भी उतना ही आवश्यक है, जितना मन का। महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में आसन को इस प्रकार परिभाषित किया 'स्थिरसुखमासनम्' अर्थात् स्थिरभाव से सुखपूर्वक बैठने को 'आसन' कहते हैं। आसन जब निश्चल, कम्पन रहित तथा कष्टरहित होता है, तब यह योगासिद्धि में सहायक होता है। यद्यपि आसन के अनेक प्रकार हैं, किन्तु आत्मसंयम का अभ्यास करने वाले साधकों के लिए सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन को सर्वाधिक उपयुक्त माना जाता है।

प्राणायाम– प्राणायाम अष्टांग योग का चतुर्थ महत्वपूर्ण अंग है। आसन के सिद्ध होने के पश्चात श्वास–प्रश्वास की गति को नियमित करना प्राणायाम कहलाता है। बाह्य प्राणवायु का शरीर के भीतर नासिका रन्ध्र से प्रवेश श्वास तथा अन्तः प्राणवायु का नासिका रन्ध्र से बाहर आना ही प्रवास है। प्राणायाम के अभ्यास द्वारा श्वास–प्रश्वास की इस गति को नियमित किया जाता है। यह प्राणायाम तीन प्रकार की क्रियाओं में विभक्त है– पूरक, रेचक और कुम्भक। नासिका द्वारा प्राणवायु को शरीर के भीतर खीचना पूरक, बाहर निकालना रेचक तथा बाहर एवं भीतर कुछ समय रोकना कुम्भक कहलाता है।

प्रत्याहार– इन्द्रियों का बाह्य विषयों से हटाना प्रत्याहार कहलाता है। प्रत्याहार के माध्यम से इन्द्रियों को संयमित किया जाता है। इन्द्रियाँ स्वभाव से ही बहिर्मुखी होती हैं। उनकी बहिर्मुखी वृत्ति को अन्तर्मुखी बनाना ही प्रत्याहार है।

धारणा– किसी स्थान विशेष पर चित्त को स्थिर करने को धारणा कहते हैं। चित्त की एकाग्रता के ये स्थान बाह्य और

अन्तरिक दोनों हो सकते हैं। धारणा के बाह्य विषय या स्थान ईष्ट देवता की प्रतिमा या अपने आराध्य ईष्ट का कोई प्रतिक हो सकता है। धारणा के आन्तरिक स्थान हृदय, कमल, नाभिचक्र, नासिका का अग्रभाग, जिह्वा का अग्रभाग, कण्ठ आदि हो सकते हैं। इस प्रकार चित्त को बाह्य या आन्तरिक स्थान पर एकाग्र करने का प्रयत्न ही धारणा कहलाता है।

ध्यान– उस देश विशेष में ध्येय वस्तु का ज्ञान जब एकाकार रूप में प्रवाहित होने लगता है तो उसे ध्यान कहते है। ध्यान का अर्थ है–ध्येय वस्तु का निरन्तर चिन्तन मनन। इस अवस्था में एक समय में एक ही ज्ञान का प्रवाह होता है और वह अन्य प्रकार के ज्ञान से मिश्रित नहीं होता।

समाधि– शाब्दिक व्युत्पति की दृष्टि से समाधि का अर्थ है– विक्षेपों को दूर कर चित्त को सम्यक प्रकार से एकाग्र करना। जिस अवस्था में ध्यान ध्येय वस्तु के आवेश से मानों अपने स्वरूप से शून्य हो जाता है और ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है, वह समाधि की अवस्था हैं। ध्यान की अवस्था में ध्यान, ध्येय वस्तु और ध्याता अलग–अलग प्रतीत होते हैं। किन्तु समाधि में ध्येय वस्तु ही शेष रह जाती है। समाधि के दो प्रकार है:– 1. सम्प्रज्ञात समाधि 2. असम्प्रज्ञात समाधि।

1.सम्प्रज्ञात समाधि– सम्प्रज्ञात समाधि मे केवल ध्येय विषय का ज्ञान होता है। इसमें ध्येय विषय के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों का अभाव होता है। इसमें चित्त ध्येय विषय में लीन होकर ध्येय विषयाकार हो जाता है। इसमें चित्त की एकाग्रता के आलम्बन के रूप में कोई न कोई विषय उपस्थित रहता है, अतः इसे सबीज समाधि कहते हैं। सम्यक रूप से प्रज्ञा का उदय होने के कारण इसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। योग दर्शन में सम्प्रज्ञात समाधि की चार अवस्थाएँ है– सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित।

2.असम्प्रज्ञात समाधि– यह समाधि की वह अवस्था है, जिसमें कोई भी चित्तवृत्ति उपस्थित नहीं रहती। इसमें चित्त की एकाग्रता के आलम्बन के रूप में स्थूल एवं सूक्ष्म सभी विषयों का अभाव रहता है। इसे निर्बीज समाधि भी कहते हैं, क्योंकि इसमें चित्त में आलम्बन रूप विषय का अभाव होता है निर्बीज समाधि चित्त के पूर्ण निरोध की अवस्था है। इसमें समस्त चित्त वृत्तियों और उनके सस्कारों का पूर्णतः निरोध हो जाता है। इस अवस्था में पुरूष अपने शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चैतन्य स्वरूप में स्थित हो जाता है।

(2) वेदान्त दर्शन–

वेदान्त दर्शन भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्परा की पराकाष्ठा माना जाता है। वेदान्त का शाब्दिक अर्थ है– वेद का अन्त अथवा वैदिक विचारधारा की पराकाष्ठा। वेदान्त शब्द का प्रयोग उपनिषदों के लिए भी किया जाता है। क्योंकि उपनिषद वैदिक वांग्मय का अन्तिम भाग हैं। वेदान्त दर्शन का सम्बन्ध उन विचारधाराओं से है, जिनका विकास उपनिषदों से हुआ है। अतः वेदान्त वह दार्शनिक विचारधारा है, जिसके लिए उपनिषद प्रमाण है। वेदान्त दर्शन को उत्तरमीमांसा भी कहते हैं, क्योंकि इसमें श्रुति की ज्ञानमूलक व्याख्या है। उपनिषदों के अतिरिक्त वेदान्त दर्शन का दूसरा महत्वपूर्ण आधार महर्षि बादरायण का ब्रह्मसूत्र है। ब्रह्मसूत्र को वेदान्त सूत्र एवं शारीरिक सूत्र भी कहते हैं। उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र के अतिरिक्त वेदान्त दर्शन का तीसरा महत्वपूर्ण आधार श्रीमद्भगवद्गीता है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन का आधार तीन महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं– उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और श्रीमदभगवद्गीता। इन्हे वेदान्त दर्शन की प्रस्थानत्रयी भी कहते हैं। वेदान्त के आचार्यो ने इन तीनों पर या किन्हीं दो पर भाष्य लिखकर अपने मत का समर्थन किया है। प्रस्थानत्रयी के भाष्यकारों में शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य और बल्लभाचार्य का नाम उल्लेखनीय है। आदिगुरू शंकराचार्य का मत अद्वैतवाद, रामानुजाचार्य का मत विशिष्टाद्वैवाद, मध्वाचार्य का मत द्वैतवाद, निम्बार्काचार्य का मत द्वैताद्वैवाद और बल्लभाचार्य का मत शुद्धाद्वैवाद कहलाता है।

शंकराचार्य का अद्वैतवाद– आदिगुरु शंकराचार्य निर्विवाद रूप से वेदान्त दर्शन के सर्वाधिक महान आचार्य हैं। प्रस्थानत्रयी के भाष्यकारों में शंकराचार्य का नाम अग्रणीय है। सम्भवतः प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखने की परम्परा शंकराचार्य के अनुकरण का ही परिणाम है। उन्होने प्रस्थानत्रयी की बौद्धिक और दार्शनिक व्याख्या की। शंकराचार्य का जन्म केरल राज्य के मालाबार में एक नम्बूद्रीपाद ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम शिवगुरु और माता का नाम विशिष्टा था। उन्होनें गोविन्दपादाचार्य से वेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों की शिक्षा ग्रहण की थी। उनके विषय में कहा जाता है कि उन्होने केवल आठ वर्ष की अवस्था में चार वेदों को कण्ठस्थ कर लिया था। बारह वर्ष की अवस्था मे सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। सोलह वर्ष की अवस्था में प्रस्थानत्रयी पर भाष्य को पूर्ण किया। उन्होंने एक आचार्य के रूप में सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। उन्होंने बौद्ध और मीमांसकों को शास्त्रार्थ में पराजित कर अधिकांश को अद्वैत दर्शन में दीक्षित किया। उन्होने अद्वैत वेदान्त के प्रचार–प्रसार के लिए चार मठों की स्थापना की। ये मठ इस प्रकार हैं– दक्षिण भारत में श्रृंगेरी मठ, उत्तर भारत में द्वारिकाश्रम मठ, पूर्वी भारत में गोवर्धन मठ तथा पश्चिम भारत में शारदा मठ। आज भी ये चारों मठ आध्यात्मिक विधा के महान केन्द्र हैं। उन्होंने भारतीय अध्यात्म, संस्कृति एवं दर्शन में युगान्तकारी परिवर्तन किये।

आदिगुरू शंकाराचार्य ने अपनी तीक्ष्ण एवं तार्किक प्रतिभा द्वारा वेदान्त का सार ग्रहण कर उस अद्भुत अद्वैत वेदान्त के

तत्वज्ञान का प्रतिपादन किया जो उपनिषदों में निहित है। इन्होंने अपने बत्तीस वर्षीय अल्पकालिन जीवन काल में राष्ट्र के धार्मिक विघटन का निवारण करते हुए अद्वैतवाद के माध्यम से एकता और समन्वय की स्थापना की। उन्होंने ब्रह्म विशयक परस्पर विरोधी व्याख्याओं में समन्वय स्थापित कर यह प्रतिपादित किया कि ब्रह्म ही एकमात्र परमतत्व है। अपने अद्वैतत्व वाद की व्याख्या करते हुए इन्होंने स्पष्ट किया कि –''करोडों ग्रन्थों में जिस बात का उल्लेख किया गया है। उसकी व्याख्या मैं आधे श्लोक में कर रहा हूँ– ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है, वह ब्रह्म से पृथक नहीं है।'' ब्रह्म को ही एकमात्र परमतत्व और सत् मानने के कारण आदिगुरू शंकराचार्य का मत अद्वैतवाद कहलाता है। पारमार्थिक दृष्टिकोण से एकमात्र ब्रह्म सत् है। ईश्वर, जीव, जगत, माया आदि व्यवहारिक सत् है। प्रंपचात्मक जगत माया की प्रतीति मात्र है।

ब्रह्म की अवधारणा– आदिगुरू शंकराचार्य के दर्शन अद्वैतवाद का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। अद्वैत वेदान्त की तत्वमीमांसा में ब्रह्म ही एकमात्र सत् है, जगत मिथ्या है और जीव भी परमार्थतः ब्रह्म है, ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म के दो लक्षण हैं– तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण।

तटस्थ लक्षण– तटस्थ लक्षण वस्तु के आगन्तुक और परिणामी धर्मों का वर्णन करता है। ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म का लक्षण इस प्रकार किया गया है। ब्रह्म इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है। ब्रह्मसूत्र के इस वाक्य की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि इस जगत का जन्मादि अर्थात् जन्म, धारण और विनाश जिस तत्व से होता है, वह ब्रह्म है। ब्रह्म इस जगत का एकमात्र कारण है। इस अर्थ में ब्रह्म माया से युक्त है और वह ईश्वर कहलाता है। जगत कारणत्व ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है।

स्वरूप लक्षण– स्वरूप लक्षण किसी वस्तु के तात्विक अर्थात् वास्तविक स्वरूप की व्याख्या करता है। स्वरूप लक्षण की दृष्टि से शंकराचार्य ब्रह्म को सचिदानन्द कहते हैं। इसी को श्रुति में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहा जाता है, अर्थात् ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त स्वरूप है। ब्रह्म सत् चित और आनन्द स्वरूप है। सत् चित् एवं आनन्द ब्रह्म के गुण न होकर उसका वास्तविक स्वरूप है। ये तीन नहीं अपितु तात्विक रूप से एक हैं। जो सत् है, वही चित है, वही आनन्द है। शंकराचार्य ब्रह्म के तटस्थ एवं स्वरूप लक्षणों को स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टान्त देते हैं। एक गडेरिया रंगमंच पर राजा का अभिनय करता है। वास्तविक दृष्टि से वह गडेरिया है, यह उसका स्वरूप लक्षण है, किन्तु रंगमंच दृष्टि से वह राजा दिखता है, यह उसका तटस्थ लक्षण है।

निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म– अद्वैत वेदान्त के अनुसार एक ही ब्रह्म के दो स्वरूप हैं–निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म। शंकराचार्य के मतानुसार पारमार्थिक सत के दृष्टिकोण से ब्रह्म निर्गुण, निराकार और निर्विशेष है। ब्रह्म को निर्गुण कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि वह गुणों से शून्य है। इसका अभिप्राय केवल यह है कि बुद्धि द्वारा कल्पित कोई गुण ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या नहीं कर सकता है। माया से युक्त ब्रह्म सगुण ब्रह्म कहलाता है। इसे ईश्वर भी कहते हैं। इस दृष्टिकोण से ब्रह्म जगत का सृष्टा, पालक और संहारक है। सगुण ब्रह्म की अवधारणा व्यवहारिक दृष्टि से सत है। ब्रह्म सभी भेदों से रहित है– शंकराचार्य के मतानुसार ब्रह्म सभी भेदों से रहित है। वेदान्त दर्शन में तीन भेद स्वीकृत हैं– सजातीय भेद, विजातीय भेद और स्वगत भेद। एक ही जाति के सदस्यों में जो भेद पाया जाता है, उसे सजातिय भेद कहते है। जैसे एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से भेद। दो असमान वस्तुओं में पाये जाने वाले भेद को विजातीय भेद कहते हैं, जैसे मनुष्य और पशु में भेद। एक वस्तु के विभिन्न अंगों में पाये जाने वाले भेद को स्वगत भेद कहते हैं, जैसे मनुष्य के विभिन्न अंगो हाथ, पैर आदि में भेद। ब्रह्म में इन तीनों भेदों का सर्वथा अभाव है।

ब्रह्म अनिर्वचनीय है– शंकराचार्य के मतानुसार ब्रह्म अनिर्वचनीय है। वह निर्गुण, निराकार और निर्विशेष होने के कारण अलक्षण है। परिणामतः उसका वर्णन वाणी के द्वारा नहीं किया जा सकता। उल्लेखनीय है कि ब्रह्म को अनिवर्चनीय कहने का वह अर्थ नहीं कि वह अज्ञेय है। निःसंदेह अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म तर्कमूलक विचार से परे हैं, किन्तु वह अज्ञेय नहीं है। यह सत्य है कि हम ज्ञान का विषय बनाकर ब्रह्म को नहीं जान सकते किन्तु अपरोक्षानुभूति के द्वारा उसे जाना जा सकता है। शब्दों के द्वारा ब्रह्म की व्याख्या नहीं की जा सकती, इसलिए उसकी व्याख्या नेति–नेति के द्वारा की गई है।

माया की अवधारणा– अद्वैत वेदान्त के अनुसार परमार्थतः ब्रह्म ही एकमात्र सत् है। ब्रह्म निर्गुण, निराकार और निर्विशेष सत्ता है। ब्रह्म के अतिरिक्त कोई अन्य सत्ता नहीं है। किन्तु सामान्य मनुष्य कुछ अन्यथा ही अनुभव करता है। उसके अनुभव में जगत का प्रपंच एवं जीवों की विविधता दृष्टिगत होती है। उसे जीव–जगत के प्रपंच की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जीव–जगत के प्रपंच की वास्तविकता क्या है? क्या यह नितान्त असत् है? ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता के साथ जीव–जगत के प्रपंच का सामंजस्य कैसे स्थापित किया जा सकता है? अद्वैत वेदान्त इस जिज्ञासा के समाधान के लिए माया की अवधारणा प्रस्तावित करता है। अद्वैत–वेदान्त के अनुसार माया या अविद्या के कारण निर्गुण, निर्विशेष एवं भेदरहित ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जीव एवं जगत की विविधता का अनुभव होता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार माया के स्वरूप का विवेचन इस प्रकार है –

- माया ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति है, जिससे वह

नानारूपात्मक प्रपंचात्मक जगत को उत्पन्न करता है। किन्तु माया ब्रह्म का स्वरूप नहीं है, अपितु उपाधिमात्र है। जिसे ब्रह्म जब चाहे तब त्याग सकता है।

- माया का आश्रय और विषय ब्रह्म है। माया ब्रह्म में निवास करती है और जगत के आविर्भाव के लिए ब्रह्म को ही अपना विषय बनाती है। ब्रह्म माया का आश्रय और विषय होने पर भी उससे वैसे ही नहीं प्रभावित होता जैसे जादूगर अपनी जादुई शक्ति से प्रभावित नहीं होता।
- माया अनादि है, किन्तु अनन्त नहीं। माया का अस्तित्व कब से है? यह ज्ञात नहीं है। अनादि होने पर भी माया अनन्त नहीं है, क्योंकि यह ब्रह्मज्ञान से बाधित होती है। यदि माया अनन्त होती तो उसका बाधित होना सम्भव नहीं होता।
- माया की दो शक्तियाँ हैं–आवरण और विक्षेप। आवरण का अर्थ है– ढकना या छिपना और विक्षेप का अर्थ है–उस पर दूसरी वस्तु को आरोपित करना। माया आवरण शक्ति से ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का आवरित कर देती है। जबकि विक्षेप शक्ति के द्वारा ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत को आरोपित कर देती है।
- माया भावरूप है। इसे भावरूप कहने का अभिप्राय यह है कि यह मात्र अभावात्मक नहीं है। क्योकि यह जगत का कारण है, अतः इसका भावात्मक होना सिद्ध है। यदि यह केवल अभावस्वरूप होती तो इससे जगत का उद्भव असम्भव होता। इस जगत रूपी भ्रम को उत्पन्न करने के कारण यह अभावरूप से कुछ अधिक है। पुनः यह भावरूप होने पर भी अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर आश्रित है।
- माया सत्–असत् विलक्षण एवं अनिर्वचनीय है। माया सत् नहीं क्योंकि यह कालान्तर में यथार्थ ज्ञान से बाधित होती है। यह इसलिए भी सत् नहीं है, क्योंकि ब्रह्म से स्वतंत्र इसकी कोई सत्ता नहीं है। यह अपनी सत्ता के लिए पूर्णतः ब्रह्म पर आश्रित है। यह असत् भी नहीं है, क्योंकि यह अनुभव का विषय बनती है। यह इसलिए भी असत नहीं है, क्योंकि यह ब्रह्म पर जगत को आरोपित करती है। इसे सत्–असत् रूप स्वीकार करने में आत्म विरोध है। अतः तार्किक दृष्टि से इसे सत्–असत् विलक्षण एवं अनिर्वचनीय कहा जाता है।
- माया ज्ञान निरस्या है। अधिष्ठान ब्रह्म के यथार्थ ज्ञान से माया का निराकरण हो जाता है। जिस प्रकार रस्सी उसके वास्तविक स्वरूप रस्सी में जान लेने से रस्सी के सर्प का ज्ञान बाधित हो जाता हैं, वैसे ब्रह्म ज्ञान होने से प्रपंचात्मक जगत का ज्ञान बाधित हो जाता है।
- माया अध्यासरूप है। अतत् मे तत् प्रतीति अध्यासरूप है। अर्थात जहाँ जो वस्तु नहीं है, वहाँ उसका अनुभव करना अध्यास कहलाता है। माया अध्यासरूप है। यह किसी वस्तु का उस स्थान में आरोप करती है, जहाँ वह नही है। जिस प्रकार रस्सी मे सर्प की प्रतीति में रस्सी में सर्प अध्यस्त होता है, उसी प्रकार माया के कारण ब्रह्म में जगत अध्यस्त होता है।
- माया विर्वतमात्र है और इसकी व्यावहारिक सत्ता है। विर्वतवाद के अनुसार कार्य कारण का आभासमात्र है, यथार्थ रूपान्तरण नहीं। इसके अनुसार कोई वस्तु अन्य वस्तु की प्रतीतिमात्र है। इसमें कोई वस्तु अन्य रूप में रूपान्तरित नहीं होती, अपितु अन्य वस्तु जैसी दिखाई देती है। माया के कारण ब्रह्म का जगत के रूप में आभास होता हैं, उसका वास्तविक रूपान्तरण नहीं। माया के कारण हमारा व्यवहारिक जीवन संचालित होता है। अतः इसकी व्यवहारिक सत्ता है।

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त ने माया की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शंकराचार्य के मतानुसार माया या अविद्या ही वह कारण है, जो ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता के स्थान पर जगत प्रंपच और जीवों की विविधता को उत्पन्न करती है। जैसे जगत की प्रतीति माया के कारण हें, वैसे ही जीव का वैशिष्टय तथा जीव की ब्रह्म से पृथक अपने व्यक्तित्व की अनुभूति माया या अविद्या के कारण है। माया ब्रह्मज्ञान के द्वारा बाधित होती हैं, अतः ब्रह्मज्ञान के द्वारा माया का निराकरण हो जाता है।

(3) स्वामी विवेकानन्द–

उन्नसवी, शताब्दी के उतरार्द्ध में भारत की पावन भूमि पर आध्यात्मिक चेतना की एक प्रचण्ड लहर तीव्र वेग से प्रवाहित हुई। इस आध्यात्मिक चेतना की लहर ने न केवल भारत को अपितु सुदूर यूरोप और अमेरिका के अधिकांश भू–भाग को भी प्रभावित किया। इस आध्यात्मिक चेतना के प्रमुख उद्गम स्रोत थे श्रीरामकृष्ण परमहंस देव के परम शिष्य स्वामी विवेकानन्द। स्वामीजी ने युगों से सुप्त भारत की राष्ट्रीय चेतना को एक बार पुनः जाग्रत किया। अमेरिका के शिकागो नगर में सन् 1893 में आयेजित विश्वधर्म महासभा में स्वामीजी ने भारतीय आध्यात्मिक चेतना का शाश्वत शंखनाद किया। उनके आध्यात्मिक एवं प्रेरणादायी विचारों से भारतीय संस्कृति का उदात्त एवं उज्जवल स्वरूप एक बार पुनः जीवन्त हो उठा। स्वामीजी ने तत्कालीन भारतीय जनमानस में व्याप्त निराशा, हीनता और दीनता को दूर करने के लिए गौरवशाली एवं गरिमामयी आध्यात्मिक चेतना का संचार किया।

प्रत्येक राष्ट्र की एक सांस्कृतिक विशिष्टता होती है। इस सांस्क़ृतिक विशिष्टता के माध्यम से राष्ट्र अपने खोए हुए गौरव को पुनः प्राप्त करता है। स्वामीजी के मतानुसार धर्म भारतीय संस्कृति का आधारभूत तत्व है। भारतीय चिन्तन परम्परा में धर्म

एक व्यापक अवधारणा है जिसमें कर्तव्यपरायणता, नैतिक मूल्य और आध्यात्मिक साधना का समावेश है। धर्म को स्वामीजी ने इस प्रकार से परिभाषित किया है ''मनुष्य में जो दिव्यता विद्यमान है, उसकी अभिव्यक्ति धर्म है।'' उन्होने अनुभव किया कि जिस धर्म परायणता या आध्यात्मिक भाव सम्पदा के कारण भारत विश्व गुरु के पद पर सुशोभित रहा उसी आध्यात्मिक भाव सम्पदा को एक बार पुनः जाग्रत करने की आवश्यकता है। उनकी दृष्टि मे भारत माता के गौरव को पुनः जाग्रत करने के लिए ऋषियों–मुनियों की अमूल्य निधि आध्यात्मिकता की साक्षात अनुभूति एवं इसका प्रचार–प्रसार ही एकमात्र उपाय है।

स्वामी विवेकानन्द भारतीय संस्कृति के उच्चतम आदर्श संन्यास धर्म के जीवन्त प्रतीत थे। उन्होने एक सन्यासी संघ का गठन किया। इसे आज सम्पूर्ण विश्व में रामकृष्ण मिशन के नाम से जाना जाता है। इस संस्था का मुख्य उद्‌देश्य है ''आत्मनो मोक्षार्थ जगत् हिताय च '' अर्थात् स्वयं की मुक्ति एवं जगत का कल्याण। उन्होने परम्परा के अनुसार मोक्ष प्राप्ति को ही मानवीय जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार किया, किन्तु मोक्ष प्राप्ति का उपाय स्वामीजी की दृष्टि में भिन्न था। परम्परागत मोक्ष प्राप्ति का उपाय संसार को त्यागकर वन मे तपस्या करने का है। स्वामी जी ने दरिद्रनारायण, आर्तनारायण, रोगी नारायण, पीडितनारायण की सेवा में ही मोक्ष प्राप्ति का उपाय ढुंढ निकाला। स्वामीजी के कथनानुसार ''यदि एक मात्र परमात्मा और ईश्वर स्वरूप इस दरिद्र, पीडित, निर्धन मनुष्य की आराधना के लिए मुझे बार–बार जन्म लेकर हजारों बार यातनाएँ भोगनी पडे तो निश्चय ही मैं भोगूंगा।'' उनके दृष्टिकोण में त्याग और सेवा ही भारत के दो सनातन आदर्श रहें हैं। यदि हम भारतीय जीवन में इन दो आदर्शों को अपना सकें, तो हमारी अन्य समस्याएं स्वतः ही हल हो जाएंगी। धर्म को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान कर स्वामीजी ने उसे मानव धर्म के रूप में परिवर्तित किया। उनके दृष्टिकोण में निःस्वार्थता ही धर्म की कसौटी है। पवित्र होना और दूसरों की भलाई करना ही समस्त उपासनाओं का सार है। सिस्टर निवेदिता के अनुसार–''स्वामी विवेकानन्द की यही अनुभूति है, जिसने उन्हे उस कर्म का महान् उपदेष्टा सिद्ध किया जो ज्ञान भक्ति से अलग नहीं है, वरन् उन्हें अभिव्यक्त करने वाला है। उनके लिए कारखाना, अध्ययन कक्ष, खेत–खलिहान और क्रीडा भूमि आदि भगवान के साक्षात्कार के वैसे ही उत्तम और योग्य स्थान हैं जैसे साधु की कुटी या मन्दिर का द्वार। उनके लिए मानव सेवा और ईश्वर की पूजा, पौरूष तथा श्रद्धा, सच्चा नैतिक बल और आध्यत्मिकता में कोई अन्तर नहीं हैं। एक दृष्टि से उनकी सम्पूर्ण वाणी को इसी केन्द्रिय दृढ आस्था के भाष्य के रूप में पढा जा सकता है। एक बार उन्होने कहा था कला, विज्ञान एवं धर्म एक ही सत्य की अभिव्यक्ति के त्रिविध माध्यम हैं। लेकिन इसे समझने के लिए निश्चय ही हमें अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त चाहिए।''

व्यावहारिक वेदान्त की अवधारणा– वेद हिन्दू चिन्तन परम्परा के पवित्रत्म एवं प्राचीनतम धार्मिक ग्रन्थ हैं। इन वेदों के अन्तिम भाग जो आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण हैं, उन्हें उपनिषद् या वेदान्त कहते हैं। वेद शब्द 'विद्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है–जानना। अतः शाब्दिक व्युत्पति की दृष्टि से वेद का अर्थ हुआ–ज्ञान। वेदान्त वेद का अन्तिम भाग है, जिसका अर्थ है ज्ञान का अन्त या ज्ञान की पराकाष्ठा। ज्ञान की पराकाष्ठा वह अवस्था है, जिसमें एकत्व की अनुभूति होती है तथा अनेकत्व एकत्व में लीन हो जाता है। व्यावहारिक वेदान्त का अर्थ है–परमतत्व ब्रह्म के एकत्व की ऐसी अनुभूति जिसकी अभिव्यक्ति हमारे दैनिक जीवन की प्रत्येक गतिविधि में प्रतिक्षण हो। यदि एकत्व की अनुभूति केवल सैद्धान्तिक स्तर पर हो किन्तु वह हमारे दैनिक जीवन की गतिविधियों में अभिव्यक्त न हो, तो उसका कोई विशेष योगदान नहीं है। स्वामी विवेकानन्द व्यवहारिक वेदान्त के प्रमुख चिन्तक है। स्वामी विवेकानन्द का मानना है कि किसी भी सिद्धान्त के तर्कसंगत होने पर भी उसका व्यवहारिक रूप में परिणत होना एक प्रमुख समस्या है। यदि उस सिद्धान्त को व्यवहारिक रूप में परिणत नहीं किया जा सकता तो बौद्धिक व्यायाम के अतिरिक्त उसका और कोई मूल्य नहीं है। अतः यदि वेदान्त धर्म के स्थान पर आरूढ होना चाहता है, तो उसे पूर्ण रूप से व्यवहारिक होना चाहिए। हमें अपने जीवन की सभी अवस्थाओं में उसे कार्यरूप में परिणत करना आना चाहिए। आध्यात्मिक और व्यवहारिक जीवन के मध्य जो काल्पनिक भेद है, उसे भी समाप्त होना चाहिए, क्योकि वेदान्त एक अखण्ड ब्रह्म के सम्बन्ध में उपदेश करता है–वेदान्त कहता है कि एक ही ब्रह्मतत्व सर्वत्र व्याप्त है।

व्यवहारिक जीवन में वेदान्त की सार्थकता एवं आवश्यकता के विषय में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं–''हमें देखना है कि किस प्रकार यह वेदान्त हमारे दैनिक जीवन में, नागरिक जीवन में, ग्राम्य जीवन में, राष्ट्रीय जीवन में और प्रत्येक राष्ट्र के घरेलू जीवन में परिणत किया जा सकता है। यदि धर्म मनुष्य को जहां भी और जिस स्थिति में भी वह है, सहायता नहीं दे सकता, तो उसकी उपयोगिता अधिक नहीं है। तब वह कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के लिए मात्र सिद्धान्त होकर रह जाता है। यदि धर्म मानवता का कल्याण करना चाहता है, तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह मनुष्य की सहायता उसकी प्रत्येक अवस्था में कर सकने में समर्थ और सक्षम हो। मनुष्य चाहे गुलामी में हो या आजादी में, घोर पतन हो या अत्यन्त पवित्रता की अवस्था में धर्म को सर्वत्र मनुष्य की सहायता करने में समर्थ होना चाहिए। केवल तभी वेदान्त के सिद्धान्त अथवा धर्म के आदेश सार्थक हो सकेंगे।''

स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार वेदान्त की अनुभूति

केवल वन, पहाडी अथवा गुफाओं में ही नहीं हो सकती अपितु प्राचीन काल में जिन राजर्षियों ने इन सत्यों का साक्षात्कार किया, वे महान कर्मयोगी थे। विशेष रूप से कर्मठ जीवन व्यतीत करते थे। उन्हें सैन्य संचालन करना पडता था। वे सिंहासन पर बैठकर आम प्रजा की समस्याओं का समाधान करते थे। जब वे जीवन की इन कठिन व्यस्तताओं के मध्य इस सर्वोच्च आदर्श का अनुभव कर सकते हैं तो सामान्य मनुष्य द्वारा इनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न न करना अत्यन्त लज्जाजनक है। कुरूक्षेत्र भीषण युद्धस्थल में अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण से इस उच्चतम आदर्श को सुनने और क्रियान्वित करने के लिए समय निकाल सकता है, तो हमें अपने इस अपेक्षाकृत स्वाधीन और आरामदायक जीवन में इसकी अनुभूति के लिए अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं–''गीता वेदान्त दर्शन का एक सर्वोत्तम भाष्यरूप है। कितने आश्चर्य की बात है कि इस उपदेश का केन्द्र है संग्रामस्थल! यहीं श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस दर्शन का उपदेश दिया है गीता के प्रत्येक पृष्ठ पर जो मत उज्जवल रूप से प्रकाशित है, वह है तीव्र कर्मण्यता, किन्तु उसके मध्य अनन्त शान्तभाव। इसी तत्व को कर्मरहस्य कहा गया है और इस अवस्था को पाना ही वेदान्त का लक्ष्य है। हम सामान्यतः अकर्म का अर्थ करते है निश्चेष्टता, पर यह आदर्श नहीं हो सकता। यदि यही आदर्श होता तो हमारे चारों और की दिवारें भी परमज्ञानी होती, वे भी तो निश्चेष्ट हैं मिट्टी के ढेले और पेडों के तने भी जगत के माहन तपस्वी गिने जाते, क्योंकि वे भी तो निश्चेष्ट है। वेदान्त का आदर्श जो यथार्थ कर्म है, वह अनन्त शान्ति के साथ संयुक्त हैं। किसी भी प्रकार की परिस्थिति में वह स्थिरता कभी नष्ट नहीं होती–चित्त का वह साम्यभाव कभी भंग नहीं होता।'' स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित व्यवहारिक वेदान्त के मुख्य उपदेश इस प्रकार हैं –

आत्मा की महिमा में विश्वास– स्वामी विवेकानन्द के व्यवहारिक वेदान्त की प्रमुख शिक्षा है–अपनी आत्मा की महिमा में विश्वास करना। आत्मा सचिदानन्द स्वरूप है। आत्मा अजर–अमर, अविनाशी, शाश्वत तत्व है। आत्मा का न कभी जन्म होता है और न कभी नाश। आत्मा के सम्बन्ध में जन्म मृत्यु की बात करना कल्पनामात्र है। व्यवहारिक वेदान्त सर्वप्रथम मनुष्य को अपनी आत्मा पर विश्वास करने के लिए कहता है। प्राचीन धर्म कहता है जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक है, किन्तु वेदान्त कहता है जो अपनी आत्मा में विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक हैं। अपनी आत्मा के दिव्य स्वरूप में विश्वास नहीं करना ही वेदान्त के अनुसार नास्तिकता है। वेदान्त के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपनी आत्मा के दिव्य स्वरूप की अनुभूति कर सकता है। वेदान्त जाति, लिंग, वर्ण, धर्म आदि किसी भेद को स्वीकार नहीं करता। ये सभी भेद बाह्य हैं। आत्मिक दिव्यता की दृष्टि से सभी मनुष्यों में एक ही ब्रह्म तत्व का प्रकाश विद्यमान है। यह आत्मविश्वास ही मानव जाति का सर्वाधिक सहायता कर सकता है। स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार इस आत्मविश्वास की अनुभूति एवं प्रचार प्रसार में ही विश्व की समस्त समस्याओं का समाधान है। **आत्मविश्वास के स्वरूप की व्याख्या करते हुए स्वामीजी कहते है–''यह आत्मा केवल इस क्षुद्र 'मैं' को लेकर नहीं है। क्योंकि वेदान्त एकत्वाद की शिक्षा देता है। इस विश्वास का अर्थ है–सबके प्रति विश्वास, क्योंकि हम सब एक है। अपने प्रति विश्वास का अर्थ है–समस्त प्राणियों से प्रेम, समस्त पशु–पक्षियों से प्रेम एवं समस्त जगत से प्रेम। यही महान आत्मविश्वास जगत को अधिक अच्छा बना सकेगा। इस आत्मविश्वास जाग्रत करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी आत्मा की दिव्यता का श्रवण कर हम इसका सतत ध्यान करें। ज्योतिर्मय आत्मा की तेजस्विता, सर्वशक्तिामता और दिव्यता सतत विचार हममें अदभुत शक्ति का संचार करता है। व्यवहारिक स्तर पर जो वेदान्त का अभ्यास करना चाहते है, उनके लिए यही प्रथम पाठ हैं। मनुष्य को स्वयं से अथवा किसी दूसरे से यह नहीं कहना चाहिए कि वह दुर्बल हैं। हमारी आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान हैं। यह कभी नहीं सोचना कि आत्मा के लिए कुछ असम्भव है, यह सोचना ही भयानक नास्तिकता है। यदि पाप नामक कोई वस्तु है तो वह यह कहना कि मैं दुर्बल हूं अथवा अन्य कोई दुर्बल है। यदि मनुष्य इस आत्मविश्वास को जाग्रत करने का अभ्यास करता है, तो उसकी समस्त दुर्बलताएं तत्काल समाप्त हो जाती हैं।''**

मनुष्य दिव्य स्वरूप है– स्वामी विवेकानन्द के व्यवहारिक वेदान्त के मतानुसार मनुष्य दिव्य स्वरूप है। मनुष्य पूर्ण और शुद्ध स्वरूप है। जिसे हम पाप समझते हैं, वह हमारा निम्नतम प्रकाश है। मनुष्य पापी नहीं अपितु दिव्यस्वरूप है। मनुष्य को पापी कहना उसकी आत्मिक महानता एवं अनन्तता की उपेक्षा है। इस शिक्षा का मनोवैज्ञानिक प्रभाव अत्यन्त व्यापक है। वेदान्त मनुष्य में किसी प्रकार की दीनता, हीनता और निम्नता नहीं स्वीकार करता। स्वामी विवेकानन्द वेदान्त के इस संदेश के विषय में कहते हैं–**''तुम प्रभु की सन्तान, अमर आनन्द के हिस्सेदार, पवित्र और पूर्ण हो। हे पृथ्वी निवासी ईश्वर स्वरूप भाईयों! तुम भला पापी मनुष्य को पापी कहना ही पाप है। यह कथन मानव स्वरूप पर एक लाछंन है। हे सिंहो ! आओ और अपने भेड बकरी होने का भ्रम दूर कर दो। तुम अमर आत्मा, शुद्ध–बुद्ध, मुक्त स्वभाव, शाश्वत और मंगलमय हो। तुम जड नहीं हो, तुम शरीर नहीं हो जड तुम्हारा गुलाम है, तुम उसके गुलाम नहीं।''**

वेदान्त अज्ञानता और दुर्बलता को समस्त बुराइयों की जड मानता है। उसे दूर करने के लिए वह कोई निशेधात्मक शिक्षा नहीं देता, अपितु हमें सकारात्मक दृष्टिकोण देता है। स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार केवल दुर्बलता का स्मरण कराने से अधिक उपकार नहीं होगा। उसका उपचार करना होगा। यह कहते रहना कि ''मैं रोगग्रस्त हुँ —रोग की औषधि या उपचार नहीं है। मनुष्य को सदैव उसकी दुर्बलता की याद कराते रहना उसकी दुर्बलता का प्रतिकार नहीं, अपितु उसे, अपने बल का स्मरण करा देना ही इसके प्रतिकार का उपाय है। मनुष्य को उसके दिव्य स्वरूप का बोध कराते हुए सतत इसके चिन्तन के लिए वेदान्त प्रेरित करता है कि मैं अजर, अमर, अविनाशी, आनन्दमय, सर्वज्ञ, सर्व—शक्तिमान, नित्य ज्योतिर्मय आत्मा हुँ। स्वामी विवेकानन्द मनुष्य में निहित इसी दिव्यता का आह्वान करते हुए कहते हैं—''हे महान! उठो! यह नींद तुम्हें शोभा नहीं देती। यह मोह तुम्हारे लिए उचित नहीं। तुम अपने को दुर्बल और दुःखी समझते हो ? हे सर्वशक्तिमान! उठो, जागो, अपना स्वरूप प्रकाशित करो। तुम स्वयं को पापी समझते हो, यह तुम्हारे लिए उचित नहीं है।''

आत्मा के दिव्य स्वरूप की अनुभूति के अभ्यास में यदि हम असफल हों तो हमें निराश नहीं होना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द तो असफलताओं को 'जीवन का सौन्दर्य' मानते हैं। उन असफलताओं के बिना जीवन भला क्या होता? जीवन में यदि संघर्ष न रहे तो जीवित रहना व्यर्थ है। इस संघर्ष में ही जीवन की सार्थकता हैं। स्वामीजी कहते हैं—''संघर्षो और त्रुटियों की परवाह मत करो। मैने किसी गाय को झूठ बोलते नहीं सुना किन्तु वह केवल गाय है, मनुष्य कभी नहीं। इसलिए इन असफलताओं पर ध्यान मत दो, ये छोटी—छोटी फिसलने हैं। आदर्श को सामने रखकर हजार बार आगे बढने का प्रयत्न करो। यदि तुम हजार बार असफल होते हो, तो एक बार फिर प्रयत्न करो।'' वेदान्त का यह संदेश प्रत्येक मनुष्य को सतत पुरूषार्थ करने की प्रेरणा प्रदान करता है।

जगत ब्रह्मस्वरूप है— स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार विश्व के अधिकांश धर्म यह स्वीकार करते हैं कि यह जगत नश्वर, दुःखद और परिवर्तनशील है। इस जगत से परे एक अनन्त सत्ता विद्यमान है, जहां दुःख का लेशमात्र भी नहीं है। उसे कोई गॉड, कोई अल्लाह, कोई जिहोवा, कोई जोव, कहता है । वेदान्ती उसे ब्रह्म कहते है। जगत को दुःखमय मानने के कारण अधिकतर धर्म इसके त्याग का उपदेश देते है। निश्चय ही यह एक महान संदेश है कि सत्य को जानने के लिए असत्य का त्याग करना होगा, अच्छी वस्तु पाने के लिए बुरी वस्तु का त्याग करना होगा तथा जीवन प्राप्त करने के लिए मृत्यु का त्याग करना होगा। किन्तु यदि इस मतवाद का यही अर्थ है कि हमें जीवन का त्याग करना होगा, तब फिर हमारे पास क्या शेष रहा? वेदान्त इस समस्या का तर्कसंगत समाधान प्रस्तुत करता है। वेदान्त शिक्षा देता है कि जगत को ब्रह्मस्वरूप देखो। वेदान्त वास्तव में जगत को एकदम उडा नहीं देना चाहता। यह सत्य है कि वेदान्त में जिस प्रकार के चूडान्त वैराग्य का उपदेश है, उस प्रकार का और कहीं नहीं है। किन्तु इस वैराग्य अर्थ का जीवन और जगत का त्याग नहीं है। वेदान्त में वैराग्य का अर्थ है जगत का ब्रह्मस्वरूप देखना।

जगत को हम जिस भाव से देखते है। वह जैसा हमारे समक्ष प्रतीत होता है। उसे हम जैसे जानते है। इन सबका त्याग करते हुए जगत को उसके वास्तविक स्वरूप में ग्रहण करना होगा। उसे ब्रह्मस्वरूप देखना होगा। वास्तव में जगत ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी कारण सबसे प्राचीन उपनिषद् ईशोपनिशद में कहा गया है ''जगत में जो कुछ है, वह सब ईश्वर से अच्छादित हैं।'' समस्त जगत को ईश्वर के द्वारा अच्छादित कर लेना होगा। यह किसी मिथ्या आशवादिता से नहीं, जगत के अशुभ और दुःख कष्ट की उपेक्षा करके नहीं अपितु वास्तविक रूप से प्रत्येक वस्तु में ईश्वर का दर्शन करना होगा। इसी प्रकार इस संसार का त्याग करना होगा। जब संसार का त्याग कर दिया तो शेष क्या रहा ? ईश्वर। इस जगत को ब्रह्मस्वरूप देखने का अर्थ इसकी प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक परिस्थिति में ब्रह्म की अनुभूति करना। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—**''वेदान्त यही कहता है तुमने जगत की जिस रूप में कल्पना कर रखी है, उसे छोडो, क्योंकि तुम्हारी कल्पना अत्यन्त आंशिक अनुभूति पर क्षीण तर्क, युक्ति और तुम्हारी दुर्बलता पर आधारित है। उसे त्याग दो, हम इतने दिन जगत को जैसे सोचते थे, इतने दिन जिसमें अत्यन्त आसक्त थे, वह तो हमारे द्वारा रचित एक मिथ्या जगत है, उसको छोडो। आँखे खोलकर देखो, हम अब तक जिस रूप में जगत को देख रहे थे, वास्तव में उसका अस्तित्व वैसा कभी नहीं था, वह स्वप्न था, माया थी। जो था वह था एकमात्र प्रभु। वे ही सन्तान के भीतर, वे ही पत्नी में, वे ही पति में, वे ही अच्छे में, वे ही बुरे में, वे ही पाप में, वे ही पापी में, वे ही जीवन में और वे ही मृत्यु में वर्तमान है।''** इसी प्रकार मनुष्य सर्वत्र ब्रह्म दर्शन करके ही जीवन दुःखों को दूर कर सकता है।

मनुष्य के समस्त दुःखों का कारण वासनाएं है। इन वासनाओं का त्याग आवश्यक है, किन्तु वासनाओं के त्याग का वास्तविक अर्थ क्या है? सामान्यतः वासनाओं के त्याग का अर्थ माना जाता है— वासनाओं का अन्त, किन्तु यह यथार्थ समाधान नहीं है। मनुष्य को अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएं जैसे भोजन, आवास, धन सम्पति आदि रखनी चाहिए। किन्तु इन सभी वस्तुओं में स्वामित्व का भाव नहीं रखना चाहिए। ईशोपनिषद् के प्रथम श्लोक में ही यह स्पष्ट किया गया है कि जगत के समस्त पदार्थ ईश्वर द्वारा आच्छादित है, अतः इनको

त्यागपूर्वक भोग करो। वेदान्त जगत के समस्त पदार्थो का त्यागपूर्वक भोग करने की शिक्षा देता है और यहां त्याग का अर्थ है–सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करना। सब जगह ईश्वर बुद्धि कर लेने पर ही हम वास्तविक अर्थो में कार्य करने में समर्थ होंगे। इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्म दर्शन करते हुए मनुष्य पृथ्वी पर दीर्घ काल तक सेवापूर्ण, आनन्दपूर्ण और क्रियाशील जीवन व्यतीत करने की इच्छा करे। स्वामी विवेकानन्द के कथनानुसार–**''जो व्यक्ति सत्य को न जानकर अबोध की भांति संसार के भोगविलास में निमग्न हो जाता है, समझ लो उसे ठीक मार्ग नहीं मिला, उसका पैर फिसल गया है। दूसरी ओर जो व्यक्ति संसार को कोसता हुआ वन में चला जाता है, अपने शरीर को कष्ट देता रहता है, धीरे–धीरे सुखाकर अपने को मार डालता है, अपने हृदय को शुष्क मरूभूमि बना डालता है, अपने सभी भावों को कुचल डालता है और कठोर, बीभत्स और रूखा हो जाता है, समझ लो वह भी मार्ग भूल गया है। ये दोनों दो छोर की बातें हैं, दोनों ही भ्रम में है–एक इस ओर और दूसरा उस ओर। दोनों ही पथभ्रष्ट हैं–दोनों ही लक्ष्यभ्रष्ट हैं।''** वेदान्त सर्वत्र ब्रह्ममय बुद्धि के द्वारा कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। ब्रह्म सभी वस्तुओं में व्याप्त है, उसे प्राप्त करने के लिए कहीं जाने की आवश्यकता नहीं हैं। वह हमारे प्रत्येक कार्य में, प्रत्येक भाव में एवं प्रत्येक विचार में पहले से ही विद्यमान है। इस प्रकार ब्रह्ममय बुद्धि से कार्य करने पर कर्मफल हमें बन्धनग्रस्त नहीं करता। समस्त दुःखों का कारण वासनाएं हैं। किन्तु जब यह वासनाएं ब्रह्ममय बुद्धि के द्वारा पवित्र भाव धारण कर लेती है, तो वे हमारा अनिष्ट नहीं करती।

बहुत्व में एकत्व की अनुभूति– बहुत्व में एकत्व की अनुभूति स्वामी विवेकानन्द के व्यावहारिक वेदान्त की महत्वपूर्ण शिक्षा है। वेदान्त का मूल सिद्धान्त एकत्व अथवा अखण्ड भाव है। द्वित्व कहीं नहीं है। एकमात्र जीवन है, एकमात्र जगत है, एकमात्र सत् है। सब कुछ वही एकमात्र सत् है। भेद या अनेकता केवल परिणाम का है प्रकार का नहीं। वेदान्त प्राणियों में भेद को अस्वीकार करता है। समस्त प्राणीजगत उसी अखण्ड सत्ता की अभिव्यक्ति है। यदि मनुष्य का जीवन अनन्त है, तो पशु जीवन भी उसी प्रकार है। भेद केवल परिमाणगत है, प्रकारगत नहीं। अमीबा और मनुष्य मे केवल परिमाण का भेद है, प्रकारगत नहीं। सर्वोच्च जीवन दृष्टि से देखने पर समस्त भेद समाप्त हो जाते है। उच्चतम सता के दृष्टिकोण से निम्नतम पशु और उच्चतम मनुष्य सभी समान हैं। यदि एक ही ब्रह्मतत्व में विश्वास करें तो हमें पशुओं से लेकर उच्चतम प्राणी तक समत्व स्वीकार करता होगा। किसी भी प्राणी का अनिष्ट न किया जायें, क्योंकि पशु भी उस परमपिता परमेश्वर की सन्तान होने के कारण हमारे भाई हैं। यदि हम मनुष्यों की भॉति समस्त प्राणियों के प्रति अपने भ्रातृत्वभाव विकसित करने में समर्थ हो तभी हमारे भ्रातृत्वभाव की सार्थकता है। केवल मनुष्यों के प्रति भ्रातृत्वभाव किन्तु पशुओं के प्रति घृणा हमारे संकुचित दृष्टिकोण का परिचायक है। अतः हमें समस्त प्राणियों की प्रति बन्धुता का भाव विकसित करना आवश्यक है।

बहुत्व में एकत्व की अनुभूति के लिए आवश्यक है कि हम दूसरों को घृणा की दृष्टि से नहीं देखें। दुर्बलता और सबलता में भेद केवल परिमाणगत है। प्रकाश और अन्धकार में भेद केवल परिमाणगत है, पाप और पुण्य के मध्य भेद केवल परिमाणगत है। जीवन और मृत्यु में भेद केवल परिणामगत है। इस प्रकार एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद केवल परिमाणगत ही है, प्रकारगत नहीं, क्योंकि वास्तव में सभी वस्तुएँ एक ही अखण्ड सत्ता ब्रह्म की अभिव्यक्ति मात्र हैं। एक ही परमसत्ता है, जो अपने को विचार, जीवन, देह के रूप में अभिव्यक्त करती है और उनमें अन्तर केवल परिमाण का है। अतः जो किसी कारणवश हमारे समान उन्नति नहीं कर पायें, उनके प्रति घृणा करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिए। यदि हम किसी की सहायता करने में समर्थ हों तो अवश्य करनी चाहिए, अन्यथा शान्तिपूर्वक रहना चाहिए। दूसरों की निन्दा और आलोचना में हम अपनी शक्तियों का दुरूपयोग करते है। क्योकि अन्त में देखते हैं कि सभी लोग उसी एक ही आदर्श की ओर अग्रसर हो रहे हैं। अतः विवेक या सदसत् विचार की कसौटी है– पवित्रता तथा एकत्व का ज्ञान जिससे एकत्व की प्राप्ति हो, वही सत्य है। प्रेम सत्य है, घृणा असत्य है, क्योकि वह अनेकत्व को जन्म देती है। घृणा ही मनुष्य को मनुष्य से पृथक करती है। यह एक विघटक शक्ति है। प्रेम एकत्व सत्यापित करता है।

बहुत्व में एकत्व की अनुभूति मे प्रेम की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रेम की महत्ता को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते है– **''प्रेम जोडता है, प्रेम एकत्व स्थापित करता है। सभी एक हो जाते हैं– मां सन्तान के साथ परिवार नगर के साथ सम्पूर्ण जगत पशु पक्षियों के साथ एकीभूत हो जाता है, क्योंकि प्रेम ही सत् है, प्रेम ही भगवान है और यह सब कुछ उसी एक प्रेम का ही न्यूनाधिक प्रस्फुटन है। भेद केवल मात्रा के तारत्म्य मे है, किन्तु वास्तव में सभी उसी एक प्रेम की अभिव्यक्ति हैं। अतः हमें देखना चाहिए कि हमारे कर्म अनेकत्व विधायक है अथवा एकत्व सम्पादक। यदि एकत्व सम्पादक हैं तो उन्हें ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार विचारों के सम्बन्ध में भी सोचना चाहिए, देखना चाहिए कि उनमें विघटन या अनेतत्व उत्पन्न होता है या एकतत्व और वे एक आत्मा को दूसरी आत्मा से जोड़कर महान शक्ति उत्पन्न करते हैं या नहीं। यदि करते हैं तो ऐसे विचारों को अंगीकार करना चाहिए**

अन्यथा उन्हें अपराध मानकर त्याग देना चाहिए।''

बन्धन और मोक्ष– अद्वैत वेदान्त के अनुसार मुक्ति कोई प्राप्त करने की वस्तु नहीं है, वह सदैव प्राप्त ही है। केवल हम अपने वास्तविक मुक्त स्वरूप को भूल जाते हैं और उसे अस्वीकार करते हैं। पूर्णता हमें प्राप्त करनी नहीं हैं, वह तो सदैव ही हमारे भीतर विद्यमान है। यह अमरत्व, यह आनन्द हमें आर्जित करना नहीं है, वह तो सदा से ही हमें प्राप्त है। **स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार यदि तुम साहस के साथ यह कह सको कि ''मैं मुक्त हूँ इसी क्षण तुम मुक्त हो। यदि तुम कहो ''मै बद्ध हूँ '' तो तुम बद्ध ही रहोगे। वेदान्त के मतानुसार इस समस्त प्रतीयमान अशुभ का कारण भी हमारे भीतर ही है। मनुष्य का अज्ञान ही समस्त अशुभ का कारण है।** स्वामी विवेकानन्द कहते हैं– '' हम रेशम के कीडे के समान हैं। अपने ही शरीर से अपने आप जाल बनाकर उसी में आबद्ध हो गये हैं, किन्तु यह बद्धभाव चिरकाल के लिए नहीं है। हम लोग उससे तितली के समान बाहर निकलकर मुक्त हो जायेंगे। हम लोग अपने चारों ओर इस कर्मजाल को लगा लगा देते है और अज्ञानवश सोचने लगते हैं कि हम बद्ध हैं और सहायता के लिये रोते चिल्लाते हैं। किन्तु बाहर से कोई सहायता नहीं मिलती, सहायता मिलती है भीतर से दुनिया के सारे देवताओं के पास तुम रो सकते हो, मैं भी बहुत वर्ष इसी तरह रोता रहा, अन्त में देखा कि मुझे सहायता मिल रही है, किन्तु यह सहायता भीतर से मिली। भ्रान्तिवश इतने दिन तक जो अनेक प्रकार के वाद करता रहा, उस भ्रान्ति को मुझे दूर करना पडा। यही एकमात्र उपाय है। मैने स्वयं अपने को जिस जाल में फंसा रखा है, वह मुझे ही काटता पडेगा और उसे काटने की शक्ति भी मुझमें ही है। हम जो भी अशुभ या अनुचित करते हैं, उसका कारण हमारी दुर्बलता है और हम दुर्बल है अज्ञानी होने के कारण। समस्त दुर्बलताओं और अशुभ का कारण अज्ञान है। जब तक ज्ञान सूर्य उदय नहीं होगा हम इन दुर्बलताओं पर विजय नहीं प्राप्त कर सकते। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं– **''ज्ञानाग्नि प्रज्जवलित करो एक क्षण में सब अशुभ चला जाएगा। अपना चरित्र का निर्माण करो तथा अपने यथार्थ स्वरूप को उसी ज्योतिर्मय, उज्जवल, नित्य शुद्ध ''मैं'' को प्रकट करो एवं प्रत्येक व्यक्ति में उसी को जगाओ। मैं चाहता हूँ कि सभी व्यक्ति ऐसी दशा में आ जाएं कि अत्यन्त दुष्ट मनुष्य को भी देखकर उसकी बाह्य दुर्बलताओं की ओर दृष्टिपात न करें बल्कि उसके हृदय में रहने वाले भगवान को देख सकें और उसकी निन्दा न कर यह कह सकें– हे स्वप्रकाश, ज्योतिर्मय उठो! हे सदाष्शुद्ध स्वरूप उठो! हे अज अविनाशी, सर्वष्शक्तिमान, उठो! अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट करो। तुम जिन अशुद्ध भावों में आबद्ध हो, वे तुम्हे शोभा नहीं देते। अद्वैतवाद इसी श्रेष्ठत्म प्रार्थना का उपदेश देता है। अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट करो। तुम जिन क्षुद्रभावों में आबद्ध हो, वे तुम्हे शोभा नहीं देते। अद्वैतवाद इसी श्रेष्ठतम प्रार्थना का उपदेश देता है। अपने यथार्थ स्वरूप का स्मरण उस अन्तःस्थ ईश्वर का स्मरण उसके अनन्त सर्वशक्तिमान, सदाशिव, निष्काम स्वरूप सदा चिन्तन करों, यही एकमात्र प्रार्थना है। यह क्षुद्र ''मैं'' उसमें नहीं रहता, क्षुद्र बन्धन उसे नहीं बाँध सकते।''** इस प्रकार अपने शुद्ध, नित्य, ओज स्वरूप, सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञ स्वरूप आत्मतत्व का चिन्तन, मनन और स्मरण ही हमें समस्त अज्ञानताओं और दुर्बलताओं से मुक्त कर सकता है। हमें स्वयं के भीतर तथा दुसरों में विद्यमान इस ज्योतिस्वरूप आत्मतत्व को प्रकाशित करने के लिए सतत् प्रयासरत रहना आवश्यक है। आत्मतत्व के वास्तविक स्वरूप के प्रकाशित होने पर हमारी समस्त दुर्बलताओं और बन्धनों का अन्त हो जाता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

बहुविकल्पात्मक प्रश्न–

1. याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार योग के प्रथम वक्ता कौन हैं?
   (अ) महर्षि व्यास (ब) महर्षि पतंजलि
   (स) विज्ञानभिक्षु (द) हिरण्यगर्भ
2. योगसूत्र किसकी रचना है ?
   (अ) ईश्वर कृश्ण (ब) विज्ञानभिक्षु
   (स) महर्षि पतंजलि (द) महर्षि व्यास
3. निम्न में कौन सा यम नहीं है ?
   (अ) सत्य (ब) अहिंसा
   (स) शौच (द) ब्रह्मचर्य
4. निम्न से कौन सा योग का अन्तरंग साधन नहीं है ?
   (अ) धारणा (ब) ध्यान
   (स) समाधि (द) तप
5. निम्नलिखित में से कौन सा ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी में नहीं है?
   (अ) उपनिशषद (ब) श्रीमद्भगवद्गीता
   (स) महाभारत (द) ब्रह्मसूत्र
6. अद्वैत वेदान्त के अनुसार माया का आश्रय कौन है ?
   (अ) जीव (ब) मन
   (स) बुद्धि (द) ब्रह्म
7. आदिगुरू शंकराचार्य के मतानुसार एकमात्र सत् है ?
   (अ) माया (ब) जगत्
   (स) ब्रह्म (द) ईश्वर

8. स्वामी विवेकानन्द के अनुसार भारतीय संस्कृति के दो प्रमुख आदर्श कौन से हैं ?

(अ) त्याग और सेवा (ब) प्रेम और करूणा

(स) सत्य और अंहिसा (द) शौच और सन्तोष

9. 'अपनी मुक्ति और जगत का कल्याण' यह सन्देश किस संस्था से सम्बन्धित है ?

(अ) ब्रह्म समाज (ब) रामकृष्ण मिशन

(स) आर्य समाज (द) चिन्मयानन्द मिशन

10. स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार जगत की समस्त समस्याओं का अन्त किस प्रकार सम्भव है ?

(अ) संन्यास के द्वारा (ब) आत्मविश्वास के द्वारा

(स) धर्म के द्वारा (द) वैराग्य के द्वारा

अतिलघुतरात्मक प्रश्न–

1. योग शब्द की व्युत्पत्ति को स्पष्ट कीजिए ?
2. योग किसे कहते हैं ?
3. चित्त से आप क्या समझते हैं ?
4. यम कौन से हैं ? स्पष्ट कीजिए।
5. स्वाध्याय की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?
6. निर्गुण ब्रह्म की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?
7. ब्रह्म के स्वरूप लक्षण को स्पष्ट कीजिए ?
8. माया के दो प्रमुख कार्य कौन से हैं ?
9. माया का निराकरण किसके द्वारा होता है ?
10. व्यवहारिक वेदान्त के प्रवर्तक कौन है ?
11. नास्तिक किसे कहते हैं ?
12. वेदान्त की मुख्य शिक्षा क्या है ?

लघुत्तरात्मक प्रश्न –

1. अष्टांग योग में यम की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?
2. अष्टांग योग में नियम के विभिन्न प्रकारों को स्पष्ट कीजिए ?
3. योग की परिभाषा को स्पष्ट कीजिए ?
4. योग के अन्तरंग साधनों की व्याख्या कीजिए ?
5. वेदान्त की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?
6. अद्वैत वेदान्त में सगुण ब्रह्म की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?
7. अद्वैत वेदान्त में माया की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?
8. स्वामी विवेकानन्द के अनुसार आत्मा के स्वरूप की व्याख्या कीजिए ?
9. स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार मनुष्य के स्वरूप की व्याख्या कीजिए ?
10. 'जगत ब्रह्मस्वरूप है' इस कथन की व्याख्या कीजिए ?

निबन्धात्मक प्रश्न :–

1. अष्टांग योग के विभिन्न सोपानों की व्याख्या कीजिए ?
2. अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्य कीजिए ?
3. अद्वैत वेदान्त में माया की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?
4. स्वामी विवेकानन्द के व्यवहारिक वेदान्त की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?

बहुविकल्पात्मक प्रश्नों के उत्तर

1. (द) 2. (स) 3. (स) 4. (द) 5. (स)

6. (द) 7. (स) 8. (अ) 9. (ब) 10. (ब)

सन्दर्भ पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन – डॉ हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा
2. भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा–राममूर्ति पाठक
3. भारतीय दर्शन – चन्द्रधर शर्मा
4. व्यावहारिक जीवन मे वेदान्त –स्वामी विवेकानन्द
5. ज्ञानयोग – स्वामी विवेकानन्द
6. गीता रहस्य – बालगंगाधर तिलक
7. धर्म दर्शन – डॉ हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा
8. गीता तत्वचिंत्तन – स्वामी आत्मानन्द

अध्याय – 5

पाश्चात्य–दर्शन

(i) पाश्चात्य दर्शन का परिचय एवं दर्शन शास्त्र की शाखाऐं

(तत्वमीमांसा एवं ज्ञान मीमांसा)

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। इसलिये विचारणा अथवा चिन्तन उसका अनिवार्य लक्षण है। अपनी इसी विलक्षण क्षमता के कारण प्रत्येक सामान्य मनुष्य प्रत्येक विषय के प्रति अपना विशेष दृष्टिकोण, मत अथवा विश्वास रखता है। यही विशेष दृष्टिकोण, मत एवं विश्वास जब तर्क के विश्लेषणात्मक आधार पर पुष्ट किया जाता है, तब दर्शन का जन्म होता है।

दर्शन का इतिहास बहुत प्राचीन है, किन्तु इसके स्वरूप और उसके विषयवस्तु के संबंध में कोई सर्वमान्य विचार उपलब्ध नहीं होते है। ऐसी मान्यता है कि दर्शन विश्व तथा जीवन को उनकी समग्रता में समझने का एक प्रयास है। यहॉ उसकी चर्चा भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों संदर्भो में करना अनुचित नहीं होगा।

भारतीय दार्शनिकों का मानना है कि ''दर्शन का कार्य ज्ञान के विभिन्न साधनों द्वारा उपलब्ध सामग्री का कुछ भी न छोड़ते हुए व्यवस्थित करना और उनको एक सत्य, एक सर्वोच्च, सार्वभौम सद्वस्तु से समुचित संबंध में रखना है।'' (श्री अरविंद)

दूसरी ओर ब्राइटमैन जैसे पाश्चात्य दार्शनिक का कहना है कि 'दर्शन अनुभव के विषय में निष्कर्षों का समूह न होकर मूलरूप से अनुभव के प्रति एक दृष्टिकोण या पद्धति है।'' उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि दर्शन का स्वरूप समन्वयात्मक (Synthetic) और समीक्षात्मक(Analytical) दोंनो है।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन हो अथवा पाश्चात्य चिन्तन दोनों जगत एवं जीवन का अध्ययन उनकी समग्रता में करते है। चिन्तशील मनुष्य के समक्ष जब, जगत की उत्पत्ति कैसे हुई, इसकी उत्पत्ति के पीछे कौन–कौन से तत्वनिहित है? जगत एवं जीवन का वास्तविक स्वरूप क्या है, इसका कोई लक्ष्य है या नहीं और है, तो वह क्या है? मृत्यु जीवन का अन्त है या और भी कुछ? आदि मौलिक एवं आधारभूत प्रश्न उठते हैं, तो दर्शन का कार्य इन्हीं प्रश्नों का समग्रता से अध्ययन कर इनके उत्तरों की खोज करना है। समानार्थक प्रतीत होने वाले शब्द 'दर्शन' और फिलॉसोफी में भिन्न अर्थ रखते है। अंग्रेजी शब्द 'फिलॉसोफी' ग्रीक शब्द फिलॉस और 'सोफिया' से मिलकर बना है। जिसका अर्थ क्रमशः 'अनुराग या प्रेम' और ज्ञान (विवेक) है। इस प्रकार ज्ञान के प्रति अनुराग रखने को ही फिलॉसोफी कहते है (Love for wisdom) इससे यह स्पष्ट है कि दर्शन का उदय सम्पूर्ण जीवन और जगत संबंधी मूलभूत प्रश्नों के उत्तर संबंधी जिज्ञासा से होता है।

भारतीय संदर्भ में दर्शन का साधारण अर्थ, 'देखना' और दार्शनिक अर्थ 'साक्षात्कार' रूप में लिया जाता है। भारतीय दर्शन का प्रारंभ मात्र जिज्ञासा से नही बल्कि आध्यात्मिक असन्तोष अर्थात जीवन और जगत में व्याप्त असीम दुःख से छुटकारा पाने की भावना से हुआ है।

भारतीय दर्शन की पद्धति भी पाश्चात्य दर्शन की पद्धति से भिन्नता रखती हैं। पाश्चात्य दर्शन की पद्धति मुख्यतः बौद्धिक है। जिसमें तर्क–वितर्क, विचार–विमर्श द्वारा जीवन और जगत के मौलिक स्वरूप को समझने की चेष्टा की जाती है, जबकि भारतीय दर्शन बौद्धिकता के साथ–साथ साक्षात्कार पद्धति को भी स्वीकार करती है।

पाश्चात्य दर्शन में मुख्यतः बुद्धि को दार्शनिक अध्ययन का आधार माना हैं बुद्धि का मुख्य आदर्श संगति है। इसलिये पाश्चात्य दार्शनिक अनुभव संबंधी कुछ आधारभूत बातों से प्रारंभ कर, बुद्धि और तर्क के द्वारा एक संगत तंत्र (Consistent of System) की स्थापना करता है।

यहा प्रश्न यह उठता है कि जीवन और जगत की विभिन्न समस्याओं के संबंध में विज्ञान भी बौद्धिक पद्धति का अनुसरणकर समाधान करता है तो दर्शन के कार्य का क्या औचित्य रह जाता है?

वस्तुतः विज्ञान जगत के अलग–अलग विभागों तथा मानव जीवन के अलग–अलग पहलुओं का अध्ययन अलग–अलग रूप में करता है। इसलिये भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, अर्थ विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज विज्ञान, राजनीति विज्ञान आदि कई प्रकार के विज्ञान हमारे सामने आते है। दर्शन का कार्य, जीवन और जगत के भिन्न–भिन्न पक्षों के इन भिन्न–भिन्न वैज्ञानिक अध्ययनों का समग्रता से अध्ययन करना है। यह समग्रता इन अध्ययनों का योगफल नही समझी जानी चाहिए।

भारतीय दर्शन में साक्षात् अनुभूति को दर्शन का आधार माना जाता हैं। इसलिये यहाँ इन्द्रियात्मक अनुभव के अतिरिक्त अन्तःप्रज्ञात्मक या रहस्यात्मक अनुभूति (Intuitive or mystical experience) को भी स्वीकार किया गया। इस अनुभूति को व्यवस्थित रूप में दूसरों तक पहुॅचाने के लिये बुद्धि

और तर्क की आवश्यकता को भी स्वीकार किया गया है। किन्तु, दार्शनिक ज्ञान अपने मौलिक रूप से अन्तः प्रज्ञात्मक अनुभूति (रहस्यात्मक अनुभूति) द्वारा ही संभव है।

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् दार्शनिक कार्य और उनके द्वारा अपनाई गई पद्धतियों में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। वैज्ञानिक प्रवृति रखने वाले कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने यह अनुभव किया कि जीवन और जगत संबंधी मौलिक प्रश्नों का उत्तर बौद्धिक चिन्तन द्वारा देने में दार्शनिक असफल रहे हैं। तथ्यात्मक जगत की खोज वैज्ञानिक ज्ञान का विषय है, अतः दर्शन का कार्य विज्ञानों से संबंधित अवधारणाओं का ही विश्लेषण करना है क्योंकि इन अवधारणाओं की इन्द्रियात्मक एवं बौद्धिक परीक्षण सम्भव है। तत्वमीमांसा, धर्म और नीतिमीमांसा आदि के वाक्य निरर्थक है क्योंकि इनके वाक्य तथ्यात्मक (Factual) नहीं होते हैं और न ही इन्हें इन्द्रियानुभव द्वारा सत्यापित कर उनके अर्थ को स्पष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार के विचारधारा को तार्किक अनुभववादी (Logical Empericism) कहा जाता है। इस मत के अनुसार वे ही वाक्य सार्थक कहे जा सकते है, जो इन्द्रियानुभव द्वारा सत्यापित हो सकते थे। ऐसे वाक्य केवल वाक्य केवल वैज्ञानिक वाक्य, पद, अवधारणाऐं ही हो सकते है। अतः दर्शन मात्र विज्ञानों का एक व्याकरण (Grammar of Science) बनकर रह गया।

किन्तु कालान्तर में दर्शन को सभी विज्ञानों के अतिरिक्त तत्वमीमांसा, धर्म, समाजशास्त्र, गणित, विधि, इतिहास, राजनीतिशास्त्र आदि विषयों में प्रयुक्त भाषाओं का विश्लेषणात्मक कार्य दिया गया। दर्शन अब एक पद्धति ;डमजीवकद्धके स्वरूप में विकसित हुई। दर्शन का विस्तार इस रूप में, विज्ञान दर्शन विधि दर्शन, इतिहास दर्शन, नीति दर्शन, धर्म दर्शन, शिक्षा दर्शन, आदि रूप में विकसित होने लगा। इसीलिये दर्शन को सभी विज्ञानों की मॉं कहा जाना लगा।

दर्शनशास्त्र की शाखाऐं (अध्ययन क्षेत्र)

दर्शन अपने पारम्परिक स्वरूप में सम्पूर्ण जगत एवं सम्पूर्ण जीवन का व्यापक अध्ययन करता है। जगत और जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नही जो दार्शनिक चिन्तन से बाहर हो, जैसा कि दार्शनिक केयर्ड ने अपनी पुस्तक Philosophy of Relegion (P.3.) में कहा है –"There is no province of human experience, there is nothing in the hole realm of reality, which lies beyond the domain of philosophy, of to which philosophical envestigation does not exctend."

वास्तव में दर्शन जगत एवं जीवन के आधारभूत सामान्य पहलुओं और उससे जुड़े प्रश्नों के समाधान की खोज करता है। दार्शनिक खोज अलग–अलग विषय वस्तु के आधार पर निम्न प्रकार से विभाजित की जा सकती है–

1. तत्वज्ञान या तत्वमीमांसा (Ontology or Metaphycics) : दर्शन की वह शाखा जिसके अन्तर्गत जगत के मूल तत्वों, उनके स्वरूप पर चिन्तन किया जाता है, उसे तत्त्वमीमांसा या तत्त्वज्ञान कहा जाता है। इस शाखा के चिन्तन के प्रमुख प्रश्न है – जगत की उत्पति के पीछे मूल तत्व क्या है? उसका स्वरूप क्या है, वह एक है या अनेक वह जड़ है या चेतन, जगत की उत्पति एकाएक हुई या वह लम्बे विकासक्रम का परिणाम है? जगत का अपने मूल तत्व से क्या संबंध है? आदि। इनसे संबंधित चर्चा बाद में की जायेगी।

2. ज्ञानमीमांसा (Epistemology) : दर्शनशास्त्र की वह शाखा जिसके अन्तर्गत ज्ञान किसे कहते है? यह कैसे संभव होता है? इसके कौर–कौन से साधन है? ज्ञान की सीमाऐं क्या है? किसी ज्ञान की प्रामाणिकता कैसे निश्चित होती है? ज्ञाता और ज्ञेय अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने वाले और ज्ञान के विषय में बीच क्या संबंध है? आदि विषयों पर चिन्तन किया जाता है। इस शाखा की विस्तार से व्याख्या बाद में की जायेगी।

3. तर्क शास्त्रीय समस्याऐं (Logic) : इस शाखा के अन्तर्गत विचार क्या है? बाहय जगत से उसका क्या संबंध है? चिन्तन की स्वाभाविक विधियां, परिभाषा, परिकल्पना, विभाजन आदि की व्याख्या करना है। इसे तर्कशास्त्र कहा जाता है।

4. शब्द विज्ञान : यह भाषा के अर्थ का विज्ञान है। इसके अन्तर्गत भाषा में पाये जाने वाले शब्दों, प्रतीकों, चिन्हों और संकेतों आदि के कार्यो का विश्लेषण किया जाता है। तार्किक भाववाद (Logical Posilivism) इसी समस्या को दर्शन की मुख्य समस्या मानते है। क्योंकि इनकी मान्यता हैं कि इन्यानुभव द्वारा तत्वभीमांसीय तथ्यों का ज्ञान संभव ही नही है। इसलिये दर्शन का कार्य विभिन्न विज्ञानों एवं सामाजिक विज्ञानों एवं धर्म आदि में प्रयुक्त पदों और भाषा का विश्लेषण करना मात्र है।

5. विज्ञान दर्शन (Philosophy of Science) : दर्शन के इस क्षेत्र के अन्तर्गत विज्ञानों द्वारा मान्य कारण कार्य के नियम, वैज्ञानिक विधियों की समीक्षा तथा उनकी वैद्य और अवैद्य/अप्रामाणिक स्थितियों को स्पष्ट किया जाता है।

6. मूल्य शास्त्र (Axiology) : दर्शन का मूल्य से घनिष्ट संबंध है। इसके अन्तर्गत मूल्य क्या है, इनके कितने प्रकार है? परममूल्य क्या है? आदि प्रश्नों पर चिन्तन किया जाता है। इसकी प्रमुख दो शाखाऐं है–

(अ) नीतिशास्त्र (Ethics)

(ब) सौन्दर्य शास्त्र (Asthetics)

(अ) नीतिशास्त्र– इसके अन्तर्गत शुभ–अशुभ, कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य, संकल्प स्वातन्त्र्य अर्थात क्या मनुष्य को कर्म करने की स्वतन्त्रता है? या सब पूर्व निर्धारित है? अपने कर्मों के

प्रति मनुष्य कब, कैसे और कहॉ तक उत्तरदायी है? हमारे नैतिक निर्णय के विषय क्या है? आदि प्रश्नों पर चिन्तन किया जाता है।

(ब) सौन्दर्य शास्त्र– सौन्दर्य शास्त्र की सौन्दर्य की दार्शनिक विवेचना करता है। कला, सौन्दर्य की सृष्टि करती है। कला क्या है? सौन्दर्य आत्मगत है अर्थात् व्यक्ति विशेष की अनुभूतिद्वारा उत्पन्न होती है? अथवा वस्तुगत् अर्थात् कलात्मक अभिव्यक्ति में ही सौन्दर्यत्मक गुण विद्यमान रहते है? कला की कसौटी क्या है? ये सभी सौन्दर्य शास्त्र से संबंधित प्रश्न है।

7.धर्म दर्शन (Philosophy of Religion) : धर्म दर्शन, धर्म के क्षेत्र से संबंधित समस्याओं को उठता है। जैसे धर्म का अर्थ, धर्म का मूल तत्व, धर्म का नीति एवं आध्यात्म से संबंध, ईश्वर का अस्तित्व एवं स्वरूप, अशुभ की सत्ता आदि समस्याओं पर विश्लेषणात्मक चिंतन करता है।

8.विभिन्न समाज विज्ञानों की दार्शनिक समस्याऐं : शिक्षा, समाज शास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, विधि आदि सामाजिक विज्ञानों में उठने वाली दार्शनिक समस्याओं की विवेचना करना भी दर्शन का महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसलिये उपरोक्त विज्ञानों से संबंधित दर्शन, शिक्षा दर्शन, राजनीति दर्शन, इतिहास दर्शन, समाज दर्शन, विधि दर्शन आदि कहलाते है।

आधुनिक दर्शन सभी विज्ञानों मे निहित अवधारणाओं, पदों, वाक्यों, युक्तियों आदि का विश्लेषणात्मक अध्ययन करता है। अतः दर्शन के अन्वेष्णात्मक विषय, सर्वग्राही एवं विस्तृत है।

अब हम दर्शन की मुख्य शाखाओं तत्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा की चर्चा करेंगे।

तत्त्व मीमांसा (Metaphysics) – जैसा कि पिछली चर्चा में हमने देखा कि तत्वभीमांसीय चिन्तन जगत के अन्तिम तत्वों उनके स्वरूप, उनकी संख्या, जगत की उत्त्पति एवं जगत और उन तत्वों के संबंध से जुड़ी हुई है। पाश्चात्य जगत में, तत्व विज्ञान विश्व विज्ञान एवं ईश्वर विज्ञान को व्यापक अर्थ में तत्वमीमांसा के अन्तर्गत रखा जाता है। इनसे संबंधित कुछ प्रमुख विचारधाराओं की चर्चा करना आवश्यक है–

(अ) तत्व विज्ञान संबंधी धारणाऐं– पाश्चातय दर्शन में तत्त्व या सत्ता का अर्थ वर्ण द्रव्य शब्द द्वारा अथवा अनित्य और परिवर्तनों का नित्य तथा शाश्वत् आधार व अधिष्ठान के रूप में किया गया है। इस प्रकार परमसत्ता की दृष्टि से पाश्चात्य दर्शन में प्रमुख रूप से निम्न विचार धाराऐं प्रचलित हैं–

(अ) एक तत्ववाद Monoism

(ब) द्वैतवाद Dualism

(स) बहुतत्ववाद Pluralism

(अ) एकतत्ववाद– इस सिद्धान्त के अनुसार जगत की सभी चेतन और अचेतन तत्व का आधार तत्व एक है और उसी से सबकी उत्पत्ति हुई है। यह एक तत्व केवल जड़ भी हो सकता है और केवल चेतन भी हो सकता है अथवा तठस्थ।

1. भौतिकवाद (जड़वादी एकवाद)– सत्ताशास्त्र के इस सिद्धान्त के अनुसार जगत का अन्तिम या परम सत्ता एक मात्र जड़ है। जड़तत्व से ही जड़ और चेतन तत्व की उत्पत्ति हुई है।

2.विज्ञानवाद– सत्ता शास्त्र के इस सिद्धान्त के अनुसार जगत का परम सत या तत्व आध्यात्मिक या चेतन है। इस मत को प्रत्ययवाद भी कहते है।

(ब) द्वैतवाद– सत्ताशास्त्र में इस सिद्धान्त के अनुसार जगत में दो परस्पर विरोधी गुण वाले परम तत्व दृष्टिगोचर होते है– जड़तत्व और मनस तत्व (चेतन)। अतः इस मत के अनुसार अन्तिम तत्व दो है – शरीर (जड़ तत्व) और मनस (चेतन) तत्व।

(स) बहुतत्ववादी– सत्ताशास्त्र के इस सिद्धान्त के अनुसार जगत अनेक तत्वों से बना हैं। प्रत्येक जीव और प्रत्येक वस्तु अन्य से भिन्न और स्वतन्त्र सत्ता रखती है। सत्ता के स्वरूप की दृष्टि से यहॉ भी ध्यान देने वाली बात यह है कि बहुतत्ववादी मत जड़वादी भी हो सकते है, अथवा आध्यात्मवादी (चेतन) भी हो सकते है तत्वमीमांसा की एक महत्वपूर्ण समस्या यह भी रही है कि जगत की उत्पत्ति एकाएक, एक ही बार में हो गयी है या कई हजारों वर्षो के क्रमिक परिवर्तनों और विकास के परिणाम स्वरूप। इस संबंध में प्रमुख रूप से दो सिद्धान्त सम्मुख आते है –

(अ) सृष्टिवाद (Reationism)

(ब) विकासवाद (Evolutionism)

(अ) सृष्टिवाद– सृष्टिवाद के अनुसार जगत अपने स्वरूप जैसा आज है, उसी रूप मे उसकी सृष्टि एक ही बार हुई है। जगत का सृष्टिकर्त्ता ईश्वर है।

(ब) विकासवाद– विकासवाद के अनुसार जगत का वर्तमान स्वरूप अनेकों वर्षो के क्रमिक विकास का परिणाम है।

तत्वमीमांसा चर्चा में जगत की उत्पत्ति के साथ, ईश्वर के अस्तित्व का चिन्तन अवश्य जुड़ा हुआ है। ईश्वर संख्या में एक है या अनेक इसके संबंध में दो धारणाऐं प्रचलित है–

(अ) अनेकेश्वरवाद (Polithism)

(ब) ऐकेश्वरवाद (Monotheism)

(अ) अनेकेश्वरवाद– अनेकेश्वरवाद वह सिद्धान्त है, जो जगत के अधिष्ठाता, शासनकर्त्ता, पालनकर्त्ता आदि के रूप में एक नही बल्कि अनेको ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते है।

(ब) ऐकेश्वरवाद– इस सिद्धान्त के अनुसार एक ही ईश्वर जगत का अधिष्ठाता है। जो अनंत सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञ है–

इस सिद्धान्त के पुनः भेद है–

(1) तटस्थ ईश्वरवाद (Deism)

(2) सर्वेश्वरवाद (Pantheism)

(3) ईश्वरवाद (Theism)

(4) आन्तरातीत ईश्वरवाद (Pahentheism)

(1) तटस्थ ईश्वरवाद– इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण (साकार), चेतन, निरपेक्ष, पूर्णतया शाश्वत (नित्य) सत्ता है। यही एक निश्चित समय में जगत की सृष्टि करता है। तत्पश्चात् जगत की क्रियाओं में हस्तक्षेप नही करता।

(2) सर्वेश्वरवाद– सर्वेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर निराकार और व्यक्तित्वहीन (निराकार) और सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है। ईश्वर ही जगत है और जगत ही ईश्वर है।

(3) ईश्वरवाद– इस विचारधारा के अनुसार ईश्वर जगत में व्याप्त भी है और जगत से परे भी है। जगत में रहकर वह इसका पालन भी करता है।

(4) आन्तरातीत ईश्वरवाद– इस सिद्धान्त के अनुसार सब कुछ ईश्वर में है। 'PAN'=ALL 'en'=in तथा Theos =God

ज्ञानमीमांसा (Epistemology)

ज्ञानभीमांसीय समस्याओं की चर्चा पूर्व में की जा चुकी है अतः यहाँ ज्ञानभीमांसीय विभिन्न धारणाओं की चर्चा की जा रही है–

पाश्चात्य दर्शन में ज्ञान प्राप्ती के साधन या स्त्रोत की चर्चा तीन प्रकार से की गई है –

(अ) बुद्धिवाद (Rationalism)

(ब) अनुभववाद (Empiricism)

(स) समीक्षावाद (Criticism)

(अ) बुद्धिवाद– वह ज्ञानभीमांसीय सिद्धान्त जिसके अनुसार वास्तविक ज्ञान का एक मात्र साधन बुद्धि है।

(ब) अनुभववाद– वह ज्ञानभीमांसीय सिद्धान्त जिसके अनुसार ज्ञान का एकमात्र साधन इन्द्रियानुभूति है।

(स) समीक्षावाद– समीक्षावाद व ज्ञानभीसांसीय सिद्धान्त है जो ज्ञान की प्राप्ती केवल बुद्धि या केवल इन्द्रिय अनुभव से नहीं होती बल्कि बुद्धि एवं अनुभव दोनों के सहयोग प्राप्त होता है।

ज्ञान के तीन पक्ष होते है– ज्ञाता (जानने वाला/ज्ञान प्राप्त करने वाला, ज्ञेय (ज्ञान का विषय), ज्ञान (विषय संबंधी ज्ञान)। ज्ञानमीमांसीय समस्याओं में ज्ञाता एवं ज्ञेय के संबंध की समस्या महत्वपूर्ण है। इस संबंध में मुख्य धाराऐं निम्न है–

(अ) प्रत्ययवाद (Idealism)– प्रत्ययवाद के अनुसार ज्ञेय पदार्थ का अस्तित्व ज्ञाता से स्वतंत्र नहीं बल्कि उसका (पदार्थ) का अस्तित्व ज्ञाता पर ही निर्भर करता है। ज्ञाता से संबंधित होने पर ही ज्ञेय का अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है।

(ब) वस्तुवाद/वास्तववाद (Realism)– इस मत के अनुसार ज्ञेय (पदार्थ) ज्ञाता के अस्तित्व पर निर्भर नहीं बल्कि इसका अस्तित्व ज्ञाता से स्वतंत्र है।

सत्य सम्बंधी सिद्धान्त ज्ञानमीमांसीय शाखा में इसी प्रकार एक महत्वपूर्ण समस्या, ज्ञान की सत्यता के संबंध भी उठती है। इसके अन्तर्गत किसी ज्ञान को सत्य कहने का आधार या अर्थ क्या है, तथा कोई ज्ञान सत्य है या असत्य इसकी जॉच (परीक्षण) कैसे संभव है? आदि समस्याऐं सम्मुख आती है। इन प्रश्नों से संबंधित तीन सिद्धान्त प्रचलित है।

1.संसक्तता (सामन्जस्य) सिद्धान्त (Coherence theory of truth)– इस सिद्धान्त के अनुसार किसी निर्णय के सत्यासत्य की कसौटी उसका विषय या तथ्य से सामन्जस्य रखना है तथा तार्किक सामन्जस्य रखना है। जिसमें आत्म विरोध का अभाव हैं। जैसे :– एक ही वस्तु एक ही स्थान एवं समय पर सफेद और काली दोनो है। यह ज्ञान आत्म–विरोधी है। अतः असत्य है।

2. अनुकूलतावाद– इस सिद्धान्त के अनुसार सत्य की कसौटी वस्तु से अनुकूलता है। जैसे दूर से दिखने वाला पानी पानी ही होता वह ज्ञानसत्य, यदि बालू हो तो असत्य।

3.व्यवरहारवादी सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के अनुसार सत्य की कसौटी उपयोगिता एवं उसकी मानव द्वारा व्याख्या पर निर्भर है।

4.स्वतः प्रामाण्यवाद– इस सिद्धान्त के अनुसार बौद्धिक दृष्टि से जो धारणा सहज, सरल और स्पष्ट अनुभूत होते है, वे संदेह से परे एवं स्वतः सिद्ध सत्य होते है। जैसे– त्रिभुज की परिभाषा।

वर्तमान जीवन में दर्शन शास्त्र की महत्ता (Utility of Philosophy in morden life)

वर्तमान मानव–जीवन, भौतिक सुख साधनों एवं अपनी मूलभूत आवश्यकताओं यथा– रोटी, कपड़ा, मकान आदि समस्याओं में इतना उलझ गया है कि प्रत्येक वस्तु के प्रति उसका मापदण्ड उससे प्रति आर्थिक लाभ पर टिका हुआ है। अधिक से अधिक धनोपार्जन के लक्ष्य के सम्मुख, ईश्वर आत्मा,

पुनर्जन्म, नैतिकता, बौद्धिक उच्चत्तर ज्ञान, जैसे विषयों की क्या सार्थकता रह जाती हैं। इसीलिये विद्याथियों एवं जन मानस इस विषय को अव्यवहारिक, अनुपयोगी एवं अनुपयुक्त विषय के रूप में स्वीकार करते है।

वास्तव में प्रश्न यह है कि हम मनुष्य जीवन से क्या अभिप्राय रखते है? जीवन तो पशु भी जीता है। उसकी भी भौतिक आवश्यकताऐं होती है। क्या मानव जीवन, पशुजीवन के समान ही है? ग्रीक दार्शनिक अरस्तू ने बताया कि मनुष्य जीवन के दो पक्ष है :–पशुत्व तथा विचारशीलता। इनमें दूसरा ही प्रधान है। विचारणा ही मनुष्य में पाया जाने वाला वह गुण है, जो उसे पशु से भिन्न करता है। यदि मनुष्य को सार्थक जीवन की प्राप्ति करनी हैं, तो विचारणा को विकसित करना ही पड़ेगा। अपने जीवन के वास्ततिक स्वरूप (बौद्धिक) को जब तक वह जान नहीं लेता, परिवार, समाज एवं राष्ट्र में उसका क्या स्थान हैं? उसके कर्त्तव्य क्या है? इसका बोध नही कर लेता, जीवन एवं जगत के प्रति अपना एक दृष्टिकोण विकसित नहीं कर लेता, तब तक उसका जीवन सार्थक नही बन सकता। इन सभी पक्षों का बोध दर्शन द्वारा ही संभव है। वास्तविकता तो यह है कि दर्शन जीवन ओर उसकी सभी समस्याओं से अनिवार्य रूप से जुड़ी हैं। दर्शन का अध्ययन करें अथवा नहीं, हमारी चिन्तनशीलता हमें दार्शनिक बनने पर विवश करेंगी। इसमें चयन का कोई स्थान नही है। चिन्तन हमारा स्वभाव है। यदि हम इस पक्ष की अवेहलना करते है, तो हम मनुष्य कहलाने के अधिकारी नही। जैसा कि कनिंधम ने अपनी पुस्तक में कहा है –

"Philosophy grows directly out of life and its needs every one who lives, if he lives at all reflectively, is in some degree a philosopher."

दर्शन के विरूद्ध ये विचार, भी सम्मुख आते है कि दार्शनिक समस्याओं के समाधान के लिये परिकल्पनात्मक विधियों का प्रयोग किया जाता है, उससे इन्द्रियाँतीत तथ्यों ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म आदि का समाधान इन विधियों से संभव नही। तार्किक भाववादी के दार्शनिक भी इन्द्रियाँतीत विषयों का ज्ञान असंभव और तत्त्वमीमांसा को निरर्थक मानते थे। किन्तु ऐसी धारणा उचित नही है। दर्शन केवल परिकल्पना पर ही आधारित नही, साधारण अनुभव, रहस्यात्मक अनुभव, बुद्धि एवं तर्क आदि का भी सहारा लेता है। इतिहास साक्षी है कि दर्शन के कुछ महत्वपूर्ण पूर्व कल्पनाऐं विज्ञान को प्रदान की गई। जो विज्ञान में महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को आधार बनीं। जैसे भौतिक परमाणु वाद, वनस्पति विज्ञान और जीव विज्ञान में विकासवाद का प्रभाव। आज भौतिक शास्त्र अपने उच्चतर स्तर पर परिकल्पनात्मक दर्शन का ही रूप ले चुका है। वैज्ञानिक रसेल एवं आइन्सटाइन आदि उच्चस्तर के दार्शनिक भी रहे है। वास्तव में दार्शनिक चिन्तन और अध्ययन कितना प्रभावकारी एवं उपादेयता रखता है, यह इसी बात से भलीभाँति प्रमाणिक होता है कि बड़े–बड़े सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक, धार्मिक परिवर्तन के पीछे दार्शनिक चिन्तन ही क्रियाशील रहती है मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने न केवल आर्थिक धारणाओं में बल्कि राजनैतिक अवधारणाओं को भी पलट कर रख दिया। समाज पर दार्शनिक चिन्तन ने कई रूढ़िगत परम्पराओं और धार्मिक क्षेत्रों के आडम्बरों को समाप्त कर दिखाया।

यह कहने में कोई अतिश्योक्ति नहीं कि दार्शनिक चिन्तन न केवल मनुष्य की बौद्धिक क्षमताओं को विकसित करने में सक्षम है वरन् मनुष्य को मनुष्य बनाऐं रखने में भी उसका बहुत बड़ा योगदान है। नीतिशास्त्र एवं मूल्यशास्त्र मनुष्य को आदर्श, सच्चा मनुष्य बनने में सहायक होता है।

अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक चिन्तन हमारा स्वभाव होना चाहिये, किन्तु केवल बौद्धिक सन्तुष्टि मात्र के लिये नहीं बल्कि जीवन के सर्वांग क्रियाओं में प्रकट होना चाहिये जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा, ''फिर भी एक बार ज्ञात हुआ सत्य हमारी अन्तरात्मा और हमारी बाह्य क्रियाओं में उतारने योग्य होना चाहिये। यदि ऐसा नही है तो उसका सर्वांग नही केवल बौद्धिक महत्त्व हो सकता है।''

(2) सुकरात एवं प्लेटो :

सुकरात

सुकरात एक युनानी दार्शनिक थे। प्लेटो, सुकरात के शिष्य और अरस्तू प्लेटो के शिष्य थे। सुकरात ने यूनानी दर्शन को एक नई धारा प्रदान की। सुकरात ने अपने दार्शनिक विचारों को कोई भाषायी रूप प्रदान नहीं किया था। लेकिन इनके शिष्य प्लेटो, जेनोफन (Xenophon) और अरस्तू की कृतियों में उनके दार्शनिक विचार उपलब्ध होते हैं। प्लेटो के 'एपोलाजी', प्लेटो के संवादों एवं फीडो में सुकरात के अधिकांश दार्शनिक विचार प्रस्तुत किए गए हैं।

सुकरात ने मानव के नैतिक पक्ष एवं ज्ञान पर विशेष बल दिया। ज्ञान जीवन का परम लक्ष्य है। सुकरात ज्ञान के अन्वेषक थे, क्योंकि उनका विचार था कि ज्ञान ही सद्गुण है और सद्गुण ही ज्ञान है। उनके मत में प्रत्येक व्यक्ति 'सुख' चाहता है और सुख 'शुभकर्मो' पर आधारित है, 'शुभकर्मो' के लिये 'शुभ' का ज्ञान होना आवश्यक है। इस प्रकार ज्ञान शुभकर्मो का सार है। अतः ज्ञान ही सद्गुण है।

सुकरात की दार्शनिक समस्या

प्रत्येक दार्शनिक के समक्ष उसके पूर्व एवं समकालीन विचारधाराऐं कुछ प्रश्न एवं जिज्ञासाऐं उत्पन्न करती है। सुकरात की दार्शनिक समस्या को भी उनसे पूर्व और समकालीन दार्शनिक परिवेश में ही समझा जा सकता है।

सुकरात का जन्म यूनान के इतिहास में एक ऐसे युग में

हुआ जब सोफिस्ट मत का प्रचलन था। सोफिस्ट मत के समर्थक प्रोटेगोरस थे। ज्ञान, सत्य के सम्बंध में सोफिस्ट के प्रमुख विचार निम्न हैः–

(i) इन्द्रियॉ ही ज्ञान का अन्तिम स्त्रोत है।

(ii) सत्य और असत्य में कोई भेद नहीं है।

(iii) सत्य परिवर्तन शील है।

(iv) मनुष्य सभी वस्तुओं का माप दण्ड है।

इस प्रकार सत्य, व्यक्ति सापेक्ष (निर्भर), परिवर्तनशील और अनेक माने जाने लगे। 'सत्य' का कोई वस्तुनिष्ठ मापदण्ड नहीं रहा। उसी तरह व्यक्ति को एक मात्र निर्णायक मान लेने पर, रीति रिवजों, नैतिक मान्यताओं एवं परम्पराओं के सम्बंध में भी किसी सामान्य वस्तुनिष्ठ मानदण्ड का निषेध किया।

सुकरात के समक्ष मुख्य प्रश्न सोफिस्टो की चुनौती का सामना करना था। जिन्होंने अपने कुतर्कों द्वारा "ज्ञान" और "नैतिकता" की जड़े ही बिल्कुल हिलादी। संशयवाद के पूर्ण समर्थन से उच्छेदवाद (उदण्ड स्वतन्त्रता) को प्रश्रय मिलता है। सुकरात ने स्पष्ट रूप से अनुभव किया कि ज्ञान, नैतिकता और राजनीति के क्षेत्र में जो उसके चारो ओर बैद्विक अराजकता फैली हुई, उसका एक मात्र कारण 'सत्य' और 'ज्ञान' के स्वरूप को ठीक प्रकार न समझना है। अतः 'ज्ञान' की समस्या का उचित समाधान ढूढ़ना उनके दर्शन का प्रथम उद्देश्य है। परन्तु 'ज्ञान' में सुकरात की अभिरूचि केवल बौद्धिक क्रिड़ा नही बल्कि उनका उद्देश्य लोगो में 'ज्ञान' के प्रति निष्ठा उत्पन्न कर उन्हें सदगुणी बनाया था। उसका लक्ष्य मनुष्यों को 'ज्ञान' देना नही, वरन् 'ज्ञानी' बनाना था।

अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सर्वप्रथम सुकरात सोफिस्ट विचारधारा का खण्डन करते है। सुकरात के अनुसारः–

(i) ज्ञान का अन्तिम स्त्रोत इन्द्रियाँ नहीं, बुद्धि है। इन्द्रियों द्वारा भ्रमजनित ज्ञान भी उत्पन्न होता है। जैसे–तारे टिमटिमाते हुए दिखते है, पानी में पड़ी लकड़ी टेढ़ी नजर आती है, आदि।

दूसरी ओर इन्द्रियों को ज्ञान का अन्तिम स्त्रोत मान लेने पर, पशुज्ञान और मनुष्य ज्ञान में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। पशुओं के ज्ञान में उचित–अनुचित का भेद नही होता जबकि मनुष्य में विवेक द्वारा यह भेद करने की क्षमता होती है।

(ii) सत्य व्यक्ति सापेक्ष नहीं होता, बल्कि वस्तुनिष्ठ होता है। दूसरे शब्दों में यदि सत्य को व्यक्तिगत निर्णय पर निर्भरकर दे तो एक का सत्य दूसरे व्यक्ति के लिये असत्य हो जायेगा, सत्य क्षणिक एवं अनेक एवं परिवर्तनशील हो जायेगा। 'सत्य बोलना चाहिये', 'सभी मनुष्य मरणशील है', ऐसे ही कई कथन व्यक्ति के आधार पर बदलते रहते। जबकि वास्तविकता यह है कि सत्य विशेष और परिस्थिति विशेष द्वारा नही बदले जा सकते। वे किसी पर निर्भर नही होते है। इसलिये सत्य परिवर्तनशील एवं विशेष नही सामान्य एवं अपरिवर्तनशील होते है।

(iii) सुकरात एक तर्क के द्वारा सोफिस्टों के विरूद्ध कहते है कि एक व्यक्ति रूप मे, मेरा (सुकरात का) कथन है कि सोफिस्टों का यह मत गलत है यदि सोफिस्ट मेरे कथन को गलत सिद्ध करते है तो उनका स्वयं का सिद्धान्त (मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदण्ड है) गलत सिद्धान्त के अनुसार सत्य मापते हैं तो भी इनका सिद्धान्त गलत सिद्ध होता है।

इस प्रकार सुकरात के अनुसार सत्य, निरपेक्ष, सामान्य, अपरिवर्तनशील एवं बौद्धिक होता है। अपनी इसी दृष्टिकोण अथवा लक्ष्य को स्थापित करने के लिये सुकरात एक विशिष्ट पद्धति का आविष्कार किया जो सुकरातीय पद्धति के नाम से विख्यात हुआ।

सुकरात की पद्धति (Socrates Method)

सुकरात का उद्देश्य किसी दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना करना नही था। सुकरात की विचारधारा लोगों में केवल आत्मज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा जागृत करना चाहते थे। सोफिस्टों के विरूद्ध वे एक स्वयं सिद्ध, सहज और सार्वभौम सत्य (ज्ञान) की स्थापना करना चाहते थे। यही सुकरात के दर्शन का प्रारम्भ बिन्दू है।

सुकरात का सद्गुण में अटल विश्वास था। सद्गुण के बिना सुकरात किसी जगत की कल्पना नहीं कर सकते थे। सदगुण है, तो उसका ज्ञान भी अनिवार्य रूप से होना चाहिए। सोफिस्ट ने ज्ञान को असंभव माना किन्तु सुकरात ज्ञान को संभव मानते है। क्योकि ज्ञान के बिना 'सद्गुणो' के अस्तित्व का निश्चित ज्ञान कभी नहीं हो सकता था। इस प्रकार सुकरात के दर्शन में नैतिक चेतना ज्ञान का पूर्वाग्रह है यानि ज्ञान से पूर्व हमें नैतिक चेतना के अस्तित्व को पहले स्वीकार करना होगा। बाद में सुकरात ने सद्गुण और ज्ञान में तादात्म्य को स्वीकार करते हुए 'सद्गुण ही ज्ञान है' और 'ज्ञान ही सद्गुण है' की घोषणा करते है। इसी नैतिक चेतना को जाग्रत करने हेतु सुकरात ने जिस पद्धति का प्रयोग किया उसे द्वन्द्वात्मक तर्कपद्धति कहते है। यह पद्धति प्रश्नोत्तर की पद्धति है। उस पद्धति की, निम्न विशेषताऐं हैः–

1. सन्देहात्मक (Sceptical Method)–सुकरात अपना दर्शन सन्देह से आरम्भ करते है। सर्वप्रथम सुकरात किसी भी समस्या के प्रति पूर्ण रूप से अपनी अज्ञानता प्रकट करते है, जिसे सुकरात विडम्बना (Soesatis Irery) कहते है। सुकरात के

अनुसार ज्ञान प्राप्त करने के लिये बौद्धिक विनम्रता होना आवश्यक है। सन्देह या संशय सुकरात दर्शन का प्रारंभ है, सन्देह या संशय, निश्चयात्मक एवं निर्णयात्मक स्थिति तक पहुँचने का माध्यम है।

2. **विवादात्मक (Conversational)**– सुकरात वाद–विवाद के अत्यधिक समर्थक थे, किन्तु यह वाद–विवाद व्यर्थ का वाद–विवाद नहीं बल्कि इसके द्वारा तत्त्व ज्ञान प्राप्ति तक पहुँचना है। प्रश्नोत्तर पद्धति शिक्षात्मक महत्व रखती है। इस पद्धति के अनुसार सुकरात के समक्ष कोई प्रश्न रखा जाता तो सुकरात प्रश्नकर्त्ता से ही उसका हल ढूढ़ने को कहते। प्रश्नकर्त्ता के उत्तर पर सुकरात उसकी आलोचना करते और तत्पश्चात प्रश्नकर्त्ता दूसरा समाधान देता। सुकरात पुनः उसकी आलोचना करते। इस प्रकार यह प्रक्रिया तब तक चलती जब तक प्रश्न का सन्तोष जनक हल नहीं मिलता। सुकरात की यह पद्धति धात्री–प्रणाली कहलाती है। जिस प्रकार किसी धात्री (दाई) का कार्य बच्चे को जन्म देने में मदद करना भर है, न कि बच्चे को मॉ की गर्भ में रखना। इसी तरह शिक्षा का कार्य किसी बाहरी ज्ञान का व्यक्ति की बुद्धि में स्थापित न कर के, आत्मा में पूर्व में विद्यमान ज्ञान को स्पष्ठ और विकसित और प्रस्फुटित करना है। इसीलिये इस पद्धति के 'बौद्धिक प्रसाविका' (Intelleclual Midwiyery) कहते है।

3.**प्रत्यायात्मक (Conceptual)**– सुकरात के अनुसार ज्ञान उसके प्रत्ययों या परिभाषाओं में विद्यमान रहता है। जैसे हमें मनुष्य का ज्ञान प्राप्त करना है, तो हमें विशेष मनुष्यों की तुलना, उनके विशेष गुणों को अलग करके, उनके सामान्य गुणों को देखना होगा। हम पाते है कि मनुष्य में बौद्धिकता एवं पशुता दोनों के सामान्य गुण पाऐ जाते है। इस प्रकार मनुष्य की परिभाषा बनती है– "मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है।" अतः वास्तविक ज्ञान क्षणिक, परिवर्तनशील संवेदनाओं एवं प्रत्यक्षों में न होकर नित्य प्रत्यय और परिभाषाओं में निहित है।

4.**अनुभवात्मक एवं आगमनात्मक (Inductive)**:– सुकरात की ज्ञान की पद्धति में आगमन विधि भी महत्वपूर्ण है क्योंकि हमारे दैनिक अनुभवों के द्वारा ही हम विशेष अनुभवों की तुलना करके वस्तु के सामान्य गुणों को विशेष गुणों से पृथक करते है। तत्पश्चात उनका सामन्यीकरण करते है। अन्त में उस सामान्य को नाम दिया जाता है। यही सामान्य हमारे ज्ञानों के स्त्रोत है। जैसे विशेष मनुष्यों का अनुभव कर उनके विशेष गुणों, रंग, भाषा, जाति, भार, लम्बाई आदि का ज्ञान प्राप्त किया जो परस्पर भिन्न है किन्तु विचरणा या चिन्तन शक्ति सभी में विद्यामान है, इसी को सामान्य गुण मान कर उस प्राणी को 'मनुष्य' नाम दिया गया (मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है)

5.**निगमनात्मक (Deductive)**:– सुकरात की पद्धति निगमनात्मक भी है क्योकि वे आगमन पद्धति की सीमाऐं जानते थे। उनके अनुसार आगमन (विशेष अनुभव से सामान्य ज्ञान की ओर ले जाने वाली विधि) को जब तक निगमन (सामान्य के ज्ञान द्वारा विशेष ज्ञान को स्थापित करना) की कसौटी द्वारा सिद्ध नही किया जाता तब तक उनकी स्थापना नही की जा सकती।

6.**प्राम्कल्पना (Hypothesies)**– सुकरात की पद्धति की इस विशेषता के अनुसार प्रतिवादी के पक्ष के साथ–साथ उन अवधारणाओं को भी सम्मिलित किया जाता है, जिनके परस्पर विरोधी अर्थ निकलते है। तत्पश्चात एक प्राक्कल्पना की स्थापना की जाती है।

इस प्रकार सुकरात की पद्धति में द्वन्द्वात्मक पद्धति ने प्लेटो और अरस्तू के दर्शन पर अत्यधिक प्रभाव डाला। प्लेटो की द्वन्द्वात्मक पद्धति और अरस्तू की व्यवस्थित तर्क शास्त्र सुकरात की पद्धति का ही विकसित रूप है।

सुकरात के प्रत्ययवाद ने ग्रीक दर्शन में क्रान्तिकारी विचार उत्पन्न किये। अपने पूर्व विचारक सोफिस्टों के 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही ज्ञान है' मत के विरूद्ध ज्ञान को वस्तुनिष्ठ एवं सार्वभौमिकता का रूप दिया। सुकरात के वस्तुनिष्ठ एवं सार्वभौमिकता का रूप दिया। सुकरात के अनुसार हमारा सम्पूर्ण ज्ञान अनुभव पर आधारित है किन्तु ज्ञान की उत्पति बुद्धि से होती है क्योंकि प्रत्यय बुद्धि द्वारा ही उत्पन्न होते है।

प्लेटो

प्लेटो भी यूनानी दार्शनिक है। ये सुकरात के शिष्य है। ग्रीक दर्शन के इतिहास में प्लेटो ही पहले दार्शनिक है, जिन्होंने एक ऐसे विकसित और परिपूर्ण दर्शन की स्थापना की, जिसमें दर्शन के सभी पक्षों यथा मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, तत्वशास्त्र, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र और सौन्दर्य शास्त्र की समुचित व्याख्या ही नहीं कि बल्कि उनसे संबंधित समस्याओं का सन्तोष जनक समाधान भी किया। प्लेटो ने अपने पूर्ववर्ति दार्शनिकों के विचार अपने दर्शन में सम्मिलित किया। सुकरात को प्लेटो ने धर्म गुरू के रूप स्वीकार किया और उन्हीं के आदर्शो पर जीवन पर्यन्त चले। प्लेटो के प्रमुख्य ग्रंथ– रिपब्लिक, लॉज, प्रोटोगोरस, एपॉलोजी आदि है। उनके वृद्ध कालीन रचनाओं में मेनो, फीडो, सिम्पोजियम, पालिटिक्स, फाइलेब्स, टिमेयस, थीटिट्स, स्टेटसमैन, सॉफिस्ट आदि प्रमुख है।

ज्ञान मीमांसा (Epistemology)

प्लटो ने सुकरात के विचारों का प्रधानता देते हुए उसे विकसित किया है। जिस द्वन्द्वात्मक विधि की स्थापना सुकरात ने की, उसी को प्लेटो ने अपनी ज्ञान मीमांसा का आधार बनाया। प्लेटो की ज्ञान मीमांसा के दो पक्ष है – 1. विधि मूलक 2. निषेध मूलक

1. विधि मूलक के अन्तर्गत प्लेटो ने ज्ञान के स्वरूप, स्त्रोत, प्रामाणिकता, बुद्धि और इन्द्रियों के विषय आदि पर

चिन्तन किया। 'प्रजातंत्र नामक ग्रंथ में इस पक्ष की विस्तार से चर्चा की है।

2. निषेध मूलक पक्ष के अन्तर्गत प्लेटो ने यह बताया कि कौनसी वस्तुएँ सत्य के अन्तर्गत नहीं आती। निषेध मूलक उनके 'थिट्टिस' नामक ग्रंथ में विकसित किया गया है।

विधि मूलक पक्ष – 'प्रजातंत्र' नामक ग्रंथ में प्लेटो ने ज्ञान के निम्न प्रकारों को वर्गीकृत किया –

1. प्रतिमासिक या काल्पनिक
2. व्यवहारिक या इन्द्रिय जन्य ज्ञान
3. बौद्धिक या विश्लेषण ज्ञान
4. प्रज्ञा

प्लेटो ने अपनी ज्ञान मीमांसा को एक विभाजित रेखा के माध्यम द्वारा प्रस्तुत किया है। एक लम्बरेखा अ, ब को चार खण्डों में इस प्रकार विभाजित किया गया है। जिसमें अ द : द स :: स य : य ब :: अ स : स ब

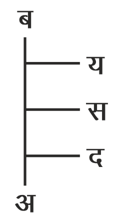

इस लम्बरेखा में प्रत्येक खण्ड, ज्ञान के एक निश्चित स्तर का द्योतक है अ ब के भीतर स बिन्दू इन्द्रिय जगत को विज्ञान जगत (प्रत्यय जगत) से पृथक करता है। इसमें प्रत्येक खण्ड के ज्ञान का विषय और उसकी प्राप्ती की प्रणाली तथा निश्चित सीमा होती है :–

1.प्रतिमासिक या काल्पनिक ज्ञान– इस वर्ग के अन्तर्गत इन्द्रिय जन्य ज्ञान, रखा गया है। प्लेटो के अनुसार यह निम्न कोटि का ज्ञान है। इसमें स्वप्न, प्रतिबिम्बों, भ्रम आदि का बोध होता है। जैसे रेगिस्तान में जल देखना, अंधेरे में रस्सी को सांप समझना आदि ऐसे ही ज्ञान के अन्तर्गत आते है। यह सदैव भ्रामक एवं संभाव्य होता है। लम्ब रेखा में ये प्रतिमासिक ज्ञान को दर्शाता हैं

2.व्यवहारिक या इन्द्रिय जन्य ज्ञान– प्लेटो क मत में व्यवहारिक ज्ञान जो इन्द्रिय संवेदनाओ से उत्पन्न होता है, प्रतिमासिक ज्ञान से अधिक विश्वसनीय है। किन्तु यह भी वस्तुओं का केवल प्रतिती या संभाव्य ज्ञान कराता है, यथार्थ नही। विभाजित रेखा का द्वितीय खण्ड य स व्यवहारिक ज्ञान को दर्शाता है।

3.बौद्धिक या विश्लेषण ज्ञान– विभाजित रेखा का तृतीय खण्ड स, द बौद्धिक या विश्लेषणज्ञान को प्रदर्शित करता है। इस ज्ञान का संबंध ज्ञानेन्द्रियों से न होकर गणित, ज्यामिति के प्रत्ययों, संख्याओं रेखाओं आदि से होता है। इसे सापेक्ष ज्ञान कहते है। प्लेटो ने इस ज्ञान को बहुत महत्ता दी है, क्योंकि प्लेटो के मत में यही ज्ञान बुद्धि को इस योग्य बनाता है, जिससे मनुष्य प्रत्ययों का ज्ञान प्राप्त कर सकें।

4.प्रज्ञा– विभाजित रेखा का चतुर्थ एवं अन्तिम खण्ड द अ श्रेष्ठतम ज्ञान का द्योतक है। यह विशुद्ध प्रत्ययों (परमतत्व) का ज्ञान है। इस ज्ञान के विषय 'प्रत्यय' हैं इनकी प्राप्ति द्वन्द्व, न्यायात्मक प्रणाली द्वारा होती है। यहॉ प्लेटो के द्वन्द्व एवं न्यायात्मक प्रणाली पर चर्चा करना आवश्यक हो जाता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पारमार्थिक ज्ञान (प्रत्ययों के ज्ञान) इन्द्रिय ज्ञान से नहीं बल्कि बुद्धि या प्रज्ञा (विवेक) से ही प्राप्त होता है। किन्तु इन्द्रियज्ञान से पारमार्थिक ज्ञान की ओर उन्मुखता के लिये सत्यनिष्ठा परमआवश्यक है। सत्यनिष्ठा हमें द्वन्द्वात्मक तर्क द्वारा प्राप्त होती है। द्वन्द्वात्मक पद्धति के चार चरण होते है–

1.सामान्यीकरण– विभिन्न विशेषों को पृथककर, विशेष जाति के सदस्यों को एक–एक विज्ञान (प्रत्यय) के अधीन करना सामान्यीकरण है। जैसे विभिन्न प्रकार के पशुओं में एक बात 'पशुता', विभिन्न पशुओं को एक सामान्य के अधीन कर दिया जाता है। जो सामान्य है, वही प्रत्यय है।

2.वर्गीकरण– किसी प्रत्यय को उसके विभिन्न उपवर्गो में विभाजित करना वर्गीकरण है। जैसे 'पशुता' के आधार पर उसके उपवर्ग – गौ–प्रत्यय, मनुष्य–प्रत्यय, अश्व–प्रत्यय आदि में वर्गीकृत करना वर्गीकरण है।

3.तर्कवाक्य– विभिन्न प्रत्ययों में पारस्परिक संबंध की स्थापना के लिये जिस प्रक्रिया को अपनाई जाती है, वह तर्कवाक्य है।

4.निगमनात्मक अनुमान– इसके अन्तर्गत तर्कवाक्यों को परस्पर सम्बद्ध कर निगमनात्मक अनुमान ॅ;लससवहपेउद्ध का निर्माण किया जाता है, जिससे हम किसी निर्णय पर पहुॅच सके।

प्लेटो की दर्शन–प्रणाली द्वन्दात्मक है, जो वाद–विवाद अथवा प्रश्नोत्तर की प्रणाली है।

निषेधात्मक पक्ष– प्लेटो ने इस पक्ष में सोफिस्टों के मतों का खण्डन किया है।

1.ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है– प्लेटो के अनुसार सोफिस्टों का यह विचार गलत है कि व्यक्ति का प्रत्यक्षज्ञान सत्य होता है। क्योंकि भविष्य में उसका वह ज्ञान सत्य हो, यह आवश्यक नही।

2.प्रत्यक्ष परस्पर विरोधी ज्ञान के उत्पत्ति करता है। एक ही वस्तु समीप से बड़ी और दूर से छोटी दिखाई पड़ती है।

3.ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने पर शिक्षा, वाद–विवाद,

प्रमाणिकरण, अप्रमाणिकरण सभी असंभव हो जायेंगे।

4. यदि व्यक्ति के प्रत्यक्ष ज्ञान को सत्य मानकर, सभी वस्तुओं का मापदण्ड मान लिया जाय तो पशुओं को भी मापदण्ड मानना पड़ेगा।

5. प्लेटो के मत में प्रोटेगोरस का मत आत्म विरोधी है। इसके अनुसार मुझे जो सत्य प्रतीत होता है वही सत्य है। अतः यदि मुझे यह प्रतीत हो कि उनका सिद्धान्त गलत है, तो उन्हें मान लेना चाहिए कि उनका सिद्धानत गलत है।

6. इस सिद्धान्त के मानने से सत्य की वस्तुनिष्ठता समाप्त हो जाती है।

7. कुछ ऐसे विषय भी है जिसका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा नही होता जैसे तुलना, वर्गीकरण आदि।

ज्ञानमत नहीं है– प्लेटो के अनुसार मिथ्या मत ही नही, सही मत भी ज्ञान नही है क्योंकि सही मत भी अटकलों के अतिरिक्त अन्य बातों पर भी निर्भर होता है। मत सही और गलत दोनों हो सकते है किन्तु ज्ञान सदैव सत्य ही होता है। कहा भी जाता है कि सौ मूर्खों की राय से एक बुद्धिमान की राय अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्लेटो ने ज्ञान और मत के भेद के निम्न प्रकार से भेद किया है।

ज्ञान	सही मत
शिक्षण द्वारा ज्ञान को आरोपित किया जा सकता है।	सही मत के प्रेरणा द्वारा आरोपित किया जा सकता है।
ज्ञान और सम्यक बुद्धि (विवेक) एक साथ पाये जाते है। दोनों में अनिवार्य संबंध है अर्थात् एक के अभात में दूसरा अस्तित्व नही रख सकता।	सही मत के लिये बुद्धि की आवश्यकता नही होती।
उत्तेजना और प्रेरणा के द्वारा ज्ञान में परिर्वतन नही लाया जा सकता।	सही मत में उत्तेजना और प्रेरणा द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है।
ज्ञान विशुद्ध शुद्ध सत (वास्तविकता) है।	सही मत, मन और असत के बीच की अवस्था है।

प्लेटो का प्रत्ययवाद

प्लेटो के तत्वभामांसीय सिद्धान्त को प्रत्ययवाद के नाम से जाना जाता है। प्रत्यय प्लेटो के दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। यह जगत का सार, मूल द्रव्य है। जिनसे जगत की वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। प्रत्यय केवल विचार स्वरूप नहीं है, बल्कि वास्तविक तात्विक या उपादन रूप (Constitutive) भी है। इन्हें ही प्लेटो 'विज्ञान' कहते है।

प्लेटो ने विज्ञानों को वास्तविक तत्वों के रूप में सिद्ध करने से पूर्व प्रत्यक्ष जगत के स्वरूप एवं उससे संबंधित ज्ञान का आलोचनात्मक विश्लेषण किया। उनका मत है कि बाह्य जगत का ज्ञान कभी भी सन्देह मुक्त और निरपेक्ष नही हो सकता। जैसे एक ही जल, ज्वर वाले व्यक्ति को ठण्डा और स्वस्थ व्यक्ति को गर्म लग सकता है, एक ही वस्तु कमजोर व्यक्ति को भारी, तो बलवान को हल्की लग सकती हैं अतः जगत की वस्तुओं का ज्ञान निश्चित नहीं हो सकता, उसकी केवल प्रतीति (Opinion) ही हो सकती है।

प्लेटो के अनुसार वास्तविक ज्ञान केवल प्रत्ययों या सामान्य विज्ञानों का ही संभव है। जगत की वस्तुए अनित्य संदेह युक्त, सापेक्ष, परिवर्तनशील है। अतः ये हमारे ज्ञान के विषय नहीं बन सकते । विज्ञान जो नित्य, सार्वभौम और असंदिग्ध हैं, हमारे ज्ञान के वास्तविक विषय है।

प्लेटो द्वारा स्थापित 'विज्ञान' आत्मा द्वारा निर्मित कोई अमूर्त कल्पना नहीं है, बल्कि विज्ञान आत्मा से स्वतंत्र और आत्मा से बाह्य अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। प्लेटो अपने विज्ञानवाद की स्थापना के लिये वस्तुवादी और सत्य के सामन्जस्यतावादी सिद्धान्त का सहारा लेते है। वस्तुवादी रूप में, प्लेटो विज्ञानों को आत्मा से स्वतंत्र और बाह्य सत्ता के रूप में स्वीकार करते है तथा सत्य के सामन्जस्यवादी सिद्धान्त के द्वारा ये बताये है कि सत्य हमारे मानसिक प्रत्ययों और बाध्य तथ्यों के सामन्जस्य का परिणाम है। जैसे हमारे मन में 'कमल' का प्रत्यय है, तो यह प्रत्यय तब ही वास्तविक समझा जायेगा। जबकि प्रत्यय कमल के अनुरूप बाध्य जगत में 'कमल' का फूल विद्यमान हो। यदि 'कमल' प्रत्यय के अनुरूप बाध्य रूप में कमल का फूल नही है तो हमारा प्रत्यय असत्य अथवा अयथार्थ ;न्दतमंसद्ध होगा। प्लेटो ने इसी सामन्जस्यवादी सत्य के सिद्धान्त को अपने विज्ञानों के प्रतिपादन का माध्यम बनाया।

प्लेटो के अनुसार वास्तविक ज्ञान प्रत्ययात्मक होता है अर्थात् ज्ञान यथार्थ तभी होगा जब प्रत्यय यथार्थ होगा और प्रत्यय की यथार्थता तभी संभव है जबकि उसका सामन्जस्य बाध्य और वास्तुनिष्ठ विज्ञानों के साथ है। अतः विज्ञानों का बाहृय, स्वतंत्र अस्तित्व अनिवार्य है।

साधारण अनुभव में जब हम प्रश्न करते है कि 'सौन्दर्य क्या है?' 'न्याय क्या है?' 'ईमानदारी क्या है?' आदि तो हम सुन्दर फूल, मकान, व्यक्ति, न्याय युक्त घटनाओं और ईमानदार व्यक्ति का उदाहरण देते हैं। किन्तु ये क्रमशः 'सौन्दर्य', 'न्याय',

'ईमानदारी' प्रत्यय के उदाहरण है, न कि प्रत्यय। वास्तव मे यह आदर्शरूप मानदण्ड है, जो आत्मा में स्थित रहते है और इनकी संगति या सामन्जस्य आत्मा से स्वतंत्र वस्तुनिष्ठ 'सौन्दर्य', 'न्याय' आदि से होना आवश्यक है, वरना आत्मा में स्थित प्रत्यय काल्पनिक माने जायेंगे। अतः इन्द्रियात्मक जगत में जितनी भी वस्तुएँ है, उनके प्रत्यय आत्मा से स्वतंत्र, वस्तुनिष्ठ रूप में विद्यमान होते हैं। ये प्रत्यय जगत, जो प्रत्यक्ष जगत से भिन्न है, में अस्तित्व रखते हैं और आत्मा को इन प्रत्ययों का ज्ञान रहता है।

प्रत्यय या विज्ञान के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये प्लेटो ने जो प्रमाण दिए, उसकी व्याख्या अरस्तू ने निम्न प्रकार से किया है –

1.विज्ञान मूलक तर्क (The arguments from the Science) – इस तर्क के अनुसार विशेष वस्तुऐं उन विज्ञानों के विषय कभी नही बन सकते, क्योंकि विशेष, अनित्य परिणामी, परिवर्तनशील होते हैं और विज्ञानों के विषय नित्य एवं अपरिणामी होते हैं। अतः नित्य, शाश्वत, अनश्वर, अपरिवर्तनशील सत्ताओं का होना आवश्यक है जिन्हें हम विज्ञान (Idea) कहते है।

2.अभेदमूलक तर्क (The argument of the one over the many) – इस तर्क के अनुसार इन्द्रिय जगत की जितनी भी वस्तुऐं है वे सभी विशेष है। इसलिये उनमें अभेद स्थापित नहीं किया जा सकता जबकि प्रत्ययों में पूर्णरूप से अभेद रखते हैं। अतः इन्द्रिय जगत से परे इन प्रत्ययों का अस्तित्व प्रत्यय जगत में रहता है। जैसे जगत में जितने भी मनुष्य है, वे मनुष्य होते हुए भी 'सामान्य मनुष्य' नहीं हो सकते क्यों 'सामान्य' की व्यापकता 'विशेष' से कहीं अधिक है।

3.अभावमूलक तर्क (The argument from the knowledge of thing that are no more) – जब हम किसी सामान्य मनुष्य या जानवर का चित्रण करते है तो हमारे चित्रण का एक विषय होता है, जो सामान्य है और जिसमें विशेष मनुष्य और विशेष जानवर के अभाव का कुछ भी प्रभाव नही पड़ता। अतः विशेषो के अतिरिक्त सामान्य की सत्ता अनिवार्य है।

4.संबंध मूलक तर्क (The argument from Relation) – इस तर्क के अनुसार वस्तुओं का एक ही नाम तीन प्रकार से स्वीकार किया जाता है–1. उन वस्तुओं में तादात्म्य (एकत्व) हो, 2. उनके भीतर सादृश्य हो, 3. उनमें से एक, दूसरे की प्रतिलिपी हो। प्लेटो के अनुसार जगत की वस्तुऐं न तो प्रत्यय से एकरूपता रख सकती हैं और न ही सादृश्यता बल्कि ये प्रत्यय के अनुकरण या प्रतिलिपी है और जिन प्रत्ययों के अनुकरण है, उन्हीं को प्लेटो ने विज्ञान (Idea) कहा है।

5.'तृतीय मनुष्य 'मूलक तर्क' (The argument implying the fallacy of the third man)– 'तृतीय मनुष्य मूलक तर्क कुछ इस प्रकार है, 'जब वस्तुओं को एक ही नाम से बुलाया जाता है और वे वस्तुए इतना व्यापक न हो जितना कि वह नाम है। इसका अभिप्राय यह है कि वे विशेष वस्तुए एक सामान्य सत्ता के साथ समान संबंध रखती हैं जैसे मनुष्य, काला, गोरा, लम्बा, छोटा, भाषा आदि से विशेष है, किन्तु वे सभी मनुष्यत्व के साथ समान रूप से संबंधित है। वही सामान्य सत्ता प्लेटो का विज्ञान हैं।

प्रत्ययों की विशेषताऐं– प्रत्यय, जगत का सार, द्रव्य, सामान्य, विचार रूप, इकाई, कुठस्थ, अपरिवर्तनशील देश–काल से परे बौद्धिक तत्व है।

द्रव्य– प्लेटो के अनुसार प्रत्यय निरपेक्ष द्रव्य है। अर्थात् वे अपने अस्तित्व के लिये किसी अन्य वस्तु पर आश्रित नहीं है।

सामान्य– प्रत्यय अपने वर्ग के सभी सदस्यों का सामान्य रूप से प्रतिनिधित्व करता है।

विचार– प्लेटो के अनुसार प्रत्यय विचार रूप (मानसिक) हैं, किन्तु किसी व्यक्ति के विचार नहीं और न ही वे ईश्वर के विचार है। बौद्धिक होने के कारण विचार रूप है।

ईकाई– प्रत्यय अनेक है, किन्तु उनमें एकता है। इसलिये एक वर्ग के लिये एक ही प्रत्यय है।

देशकाल से परे– प्रत्यय इन्द्रिय अनुभव के विषय नही हो सकते क्योकि वे असीम एवं अपरिवर्तनशील है। इसलिये वे देश–काल से परे है।

बौद्धिक– प्लेटो बुद्धिवादी दार्शनिक है। इसीलिये वे परमतत्व प्रत्ययों का ज्ञान बुद्धि द्वारा ही संभव मानते है।

प्रत्ययों के प्रकार– प्लेटो के अनुसार प्रत्यय जगत में असंख्य प्रत्ययों की सत्ता है जिन्हें निम्न प्रकारों मे बांटा जा सकता है–

1. **नैतिक प्रत्यय**– न्याय, शुभत्व, सुन्दरता आदि
2. **अनैतिक प्रत्यय**– अन्याय, अशुभत्व, कुरूपता आदि
3. **प्राकृतिक वस्तुओं के प्रत्यय**– अग्नि, वायु, जल, मनुष्य, पशु आदि
4. **कृत्रिम वस्तुओं के प्रत्यय**– मकान, कुर्सी, मेज आदि
5. **गुणों के प्रत्यय**– सफेदी, मीठापन, कड़वापन, आदि
6. **परम शुभ का प्रत्यय**– प्लेटो ने प्रत्यय जगत में असंख्य प्रत्ययों की सत्ता स्वीकार की है और उन सभी प्रत्ययों में श्रेणीबद्धता पाई जाती हैं। इसी श्रेणीबद्धता का सर्वोच्च स्तर, परम शुभ का प्रत्यय है। यह 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' है। इसी परम शुभ के प्रत्यय को प्लेटो कहीं–कहीं ईश्वर रूप में भी स्वीकार करते है। सम्पूर्ण जगत (दृश्य जगत) इसी परम शुभ से

गतिमान होता है।

इन्द्रिय जगत और प्रत्यय जगत में संबंध

प्लेटो दर्शन में दो प्रकार के जगत का वर्णन मिलता है – 1. इन्द्रिय जगत 2. प्रत्यय जगत (पारमार्थिक जगत)। प्लेटो के अनुसार इन्द्रय जगत विशेषों का जगत है। जो अनित्य, परिवर्तनशील, सीमित, कार्य–कारण पर आश्रित एवं देश–काल सापेक्ष (निर्भर) है। जबकि प्रत्यय जगत पारमार्थिक, नित्य अपरिर्वनशील, पूर्ण, देश–काल से परे और बुद्धिगम्य है।

प्लेटो के अनुसार इन्द्रिय जगत मिथ्या (अवास्तविक) और प्रत्यय जगत की प्रतिछाया (अनुकृति) मात्र है। यहॉ प्रश्न यह उठता है कि यदि इन्द्रिय जगत प्रत्यय जगत की अनुकृति है और हमारे अनुभव का प्रथम सोपान है, तो वह प्रत्यय जगत से भिन्न या अवास्तविक कैसे हो सकता है? इसके समाधान के लिये प्लेटो ने दो सिद्धान्तों का उल्लेख किया है –

1. अंशवाद (सहभागितावाद) (Participation theory)

2. प्रतिबिम्ववाद (Copy theory)

1. अंशवाद के अनुसार इन्द्रिय जगत की वस्तुऐं प्रत्यय जगत में 'भाग' लेती है। अर्थात् इन्द्रिय–जगत वास्तव में प्रत्यय जगत का 'सत्य अंश' है।
2. प्रतिबिम्बवाद के अनुसार इन्द्रिय जगत प्रत्ययों का प्रतिबिम्ब, अनुकरण प्रतिछाया मात्र है।

(iii) अरस्तू

ग्रीक दर्शन में प्लेटो के बाद एरिस्टॉटल (अरस्तू) दूसरे महान दार्शनिक है। इन पर भी सुकरात एवं प्लेटो के विचारों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। अरस्तू एक सर्वतोन्मुख प्रतिभा वाले दार्शनिक है। इन्होंने जीवन से जुड़े सभी विषयों पर विद्वतापूर्ण चिन्तन कर, विभिन्न ग्रंथो की रचना कीं।

प्लेटो के दर्शन का मुख्य सिद्धान्त प्रत्ययवाद को अरस्तू ने नया दृष्टिकोण प्रदान किया। प्लेटो के प्रत्ययवाद के अनुसार इन्द्रिय जगत, प्रत्यय जगत की प्रतिछाया मात्र है। यह जगत परिवर्तनशील, विशेष, अनित्य अवास्तविक और प्रत्यय जगत से बिलकुल भिन्न है। प्रत्ययों का अस्तित्व इस जगत में न होकर प्रत्यय जगत में होता है। प्रत्यय, जगत के विषयों का सामान्य रूप है और अपने विशेषों से नितान्त भिन्न एवं पृथक हैं।

अरस्तू के समक्ष, प्लेटो के उपरोक्त विचारों ने कई समस्याओं को खड़ा कर दिया। अरस्तू के अनुसार प्लेटो का प्रत्ययवाद, प्रत्यय जगत एवं इन्द्रिय जगत को परस्पर इतना भिन्न बना देता है कि जगत की व्याख्या सन्तोष जनक रूप से नही कर पाये है। अपरिवर्तनशील, अविकारी, नित्य प्रत्यय द्वारा किस प्रकार परिवर्तनशील, विकारशील एवं अनित्य जगत की उत्पत्ति संभव है? प्रत्यय, जगत का सार कैसे हो सकता है, यदि वह जगत, इन्द्रिया जगत से परे है। क्या गुलाब जल (गुलाब का सार) गुलाब के फूल से पृथक एवं भिन्न हो सकता है? मनुष्यत्व (प्रत्यय) को मनुष्य से पृथक नहीं किया जा सकता। अतः अरस्तू दर्शन के सामने सबसे बड़ी समस्या थी, जगत में व्याप्त परिवर्तनशीलता की व्याख्या करना।

कारणता संबंधी सिद्धान्त–

प्लेटो के प्रत्ययवाद से जगत के परिवर्तन की व्याख्या संभव नही हो सकी। क्योंकि जगत के परम तत्व नित्य, अपरिवर्तनशील, अविकारी, बौद्धिक और इन्द्रिय जगत से परे है। जबकि जगत की वस्तुए विकारी, अनित्य और परिवर्तनशील है। इसी समस्या के समाधान के लिये अरस्तू ने कारणता के सिद्धान्त की स्थापना की। यही कारणता का सिद्धान्त उनके तत्वमीमांसा का आधार बनी। अरस्तू ने मुख्य रूप से चार प्रकार के कारणों की स्थापना की है–

1. भौतिक कारण
2. निमित कारण
3. स्वरूप कारण
4. अन्तिम या लक्ष्य कारण

1.भौतिक कारण– जिस द्रव्य से या पदार्थ से किसी वस्तु का निर्माण किया जाता है, उसे भौतिक कारण कहते है। घड़े के संदर्भ में मिट्टी। इसी अर्थ के साथ–साथ अरस्तू ने भौतिक कारण का एक अन्य अर्थ भी लिया है वह है – 'सम्भाव्य' अर्थात् जिस द्रव्य में अनेक सम्भावनाऐं विद्यमान हो। जैसे – मिट्टी में घड़ा, अन्य बर्तन, मूर्ति, मकान आदि बनने की संभावनाऍ छिपी है। इसी अर्थ में भौतिक कारण को, सम्भाव्य भी कहा गया है।

2.निमित कारण– वह चालक शक्ति जिससे वस्तु में परिवर्तन उत्पन्न होता है जैसे कुंभकार, स्वर्णकार आदि

3.स्वरूप कारण– किसी वस्तु का 'सार' या 'तत्व' स्वरूप कारण कहलाता है। किसी वस्तु का सार उसका प्रत्यय होता है, जो परिभाषा द्वारा ज्ञात होती है। मूर्तिकार के मस्तिष्क में जो मूर्ति का आदर्श है, वही स्वरूप कारण है।

4.अन्तिम या लक्ष्य कारण– जिस उद्देश्य या लक्ष्य को ध्यान में रखकर परिवर्तन किया जाता है, उसे अन्तिम या लक्ष्य कारण कहते है। लक्ष्य ही किसी वस्तु को उसकी पूर्णावस्था को प्राप्त करवाता है। जैसे पूर्ण प्रतिमा, जो निर्माण का परिणाम है, वही लक्ष्य कारण है।

अरस्तू ने उपर्युक्त चारों कारणों को पुनः दो कारणों में सीमित किया–

1. द्रव्य कारण 2. आकार कारण

इसको प्रमाणित करने के लिये अरस्तू ने निम्न तर्क प्रस्तुत किए है–

1. स्वरूप, निमित और लक्ष्य कारण तीन अलग–अलग वस्तुऍं नही है, वे स्वरूप (Form) के ही परिवर्तित रूप है। अरस्तू के अनुसार लक्ष्य कारण, स्वरूप कारण का ही मूर्त रूप है। स्वरूप कारण किसी वस्तु का 'सार' प्रत्यय अथवा विज्ञान है और लक्ष्य कारण उसी सार, प्रत्यय या विज्ञान का साकार रूप है। अतः लक्ष्य और स्वरूप कारण में भेद नहीं है।

2. उसी प्रकार निमित्त और लक्ष्य कारण में भी कोई भेद नही हैं निमित कारण वस्तु की उत्पत्ति का साधन है और लक्ष्य–कारण उस उत्पत्ति का साध्य या अन्त। अरस्तू के अनुसार जो गति, संभूति का कारण होता है, वही अन्त में लक्ष्य भी होता है। अतः निमित्त कारण और लक्ष्य–कारण अन्ततः एक ही है। जैसे एक मूर्तिकार, मूर्ति जिस वस्तु से (पत्थर, पीतल या तॉंबा) मूर्ति का निर्माण करता है, वह उपादान कारण हुआ, मूर्ति का प्रत्यय जो उसके मस्तिष्क में हैं वह, स्वरूप कारण हुआ, सम्पूर्ण मूर्ति जिसकों लक्ष्य करके मूर्तिकार मूर्ति का निर्माण कर रहा है, लक्ष्य कारण हुआ और स्वयं मूर्तिकार ही वह 'शक्ति' या गति प्रदान करता जिसके कारण निर्माण कार्य पूर्ण होता है निमित्त कारण हुआ। अरस्तू इस विचार पर बल देते है कि वास्तव में लक्ष्य कारण या साध्य ही निर्माण कार्य को गति प्रदान करता है।

अरस्तू का दर्शन जगत में व्याप्त परिवर्तन की व्याख्या अपने कारणता सिद्धान्त द्वारा करते है। हमने देखा कि अरस्तू 'कारण' को एक व्यापक अर्थ प्रदान करते है। उनके अनुसार उपादान और लक्ष्य (अन्तिम) (Form) कारण ही वे मौलिक आधारभूत कारण है, जिससे जगत की सभी वस्तुऍं गतिमान (परिवर्तित) हो रही है। द्रव्य को, तत्वमीमांसीय दृष्टि से संभूति (सम्भाव्य) और लक्ष्य को, सत या वास्तविकता (Form) कहा गया है। जगत की सभी वस्तुएँ इन्हीं से गतिमान (लक्ष्य की ओर) हो रही है। यह जगत आकार और द्रव्य का मिश्रण है। यह परिवर्तन, चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के जगत में घटित हो रहा है। यही द्रव्य और 'आकार' अरस्तू के तत्त्वमीमांसा के आधार भूत तत्व है।

जगत–द्रव्य और आकार का मिश्रण

प्लेटो ने जिसे विशेष और सामान्य कहा, उसी को अरस्तू ने द्रव्य और आकार कहा किन्तु प्लेटो ने विशेष (इन्द्रिय जगत) और सामान्य (प्रत्यय) को नितान्त भिन्न माना वही अरस्तू ने कहा कि संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं हैं जिसमें केवल आकार हो अथवा केवल द्रव्य हो। प्रत्येक वस्तु में ये दोनों ही तत्व मिश्रित रूप में रहते है।

अरस्तू के अनुसार आकार और द्रव्य को समझाते हुए अरस्तू ने बताया कि सभी प्रकार के परिवर्तनों में जो परिवर्तित होता है वह द्रव्य है तथा जिस ओर परिवर्तन अग्रसर हो रहा है वह आकार है। जैसे आम का वृक्ष आम के फल का आकार है। आभूषण, आकार है तो स्वर्ण, द्रव्य।

अरस्तू ने द्रव्य को 'सम्भावना' और आकार को 'वास्तविकता' के रूप में भी व्यक्त किया है, जो संम्भावनाओं से युक्त है वह द्रव्य है और आकार उन सम्भावनाओं का वास्तविक रूप। इस प्रकार जगत में द्रव्य, आकार की प्राप्ती कर लेता है तो वही आकार पुनः अपनी संम्भावनाओं के कारण द्रव्य बन जाता है। और अपने लक्ष्य आकार की ओर बढ़ता है। द्रव्य (सम्भावना) और आकार (वास्तविकता) की यही श्रृंखला परिवर्तन का आधार है। इस श्रृंखला का अन्तिम छोर शुद्ध आकार (आकारों का आकार) ईश्वर है। जगत का सम्पूर्ण परिवर्तन उसकी ईश्वर की प्राप्ति की और अग्रसर है। इसलिये अरस्तू ने ईश्वर को गतिरहित गतिदाता कहा है।

इस प्रकार प्लेटो के दर्शन में जगत के परिवर्तन का समाधान अरस्तू ने संभाव्य (द्रव्य) और वास्तविकता (आकार) के सिद्धान्त द्वारा किया। इस मत में जगत का निरन्तर विकास हो रहा है। द्रव्य निरन्तर अपने को उच्चतर आकारों में अभिव्यक्त कर रहा है।

देकार्त– पद्धति

मध्ययुगीन दर्शन के पश्चात्, पाश्चात्य दर्शन में मुख्य रूप से दो प्रकार की ज्ञान की धाराऐं विकसित हुई – 1. बुद्धिवाद 2. अनुभववाद

ज्ञानमीमांसा की वह विचारधारा जिसके अनुसार ज्ञान का एकमात्र साधन बुद्धि है, बुद्धिवाद कहलाता है। अनुभववाद ज्ञान मीमांसा की वह विचार धारा है, जिसके अनुसार ज्ञान का एकमात्र साधन इन्द्रियात्मक अनुभव है।

देकार्त एक बुद्धिवादी दार्शनिक है। देकार्त को आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का जनक कहा जाता है। देकार्त के पूर्व मध्य युग में धर्म का बोलबाला रहा। व्यक्ति के जीवन के हर क्षेत्र में, धर्म को सर्वाधिकार प्राप्त था। धर्म की अनुमति बिना, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और वैज्ञानिक क्षेत्र में किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं था। इस प्रकार व्यक्ति को किसी प्राकर की वैचारिक स्वतंत्रता नहीं थी। इसलिये इस युग को अंधकार युग कहा जाता है।

देकार्त ने ऐसे अंधकार युग में दर्शन और विज्ञान को धर्म से स्वतंत्र एवं पृथक करने का सफल प्रयास किया। दर्शन को विज्ञान की भॉंति धर्म से पृथक कर वस्तुनिष्ठ बनाने का प्रयास किया। इसलिये इन्हें आधुनिक पाश्चात्य दर्शन जगत का पिता (जनक) कहा जाता है।

देकार्त गणित से अत्यधिक प्रभावित थे। उन्हें दर्शन प्रेमी गणितज्ञ कहा जा सकता है। देकार्त ने यह देखा कि गणित में निश्चितयात्मकता है। उसके सिद्धान्त निर्विवाद और निःसंदेह सत्य हैं। इसी कारण गणित के सत्य सार्वभौमिक (सर्वत्र समान रूप से लागू) होते हैं। देकार्त दर्शन में भी गणित की भांति निश्चयात्मकता अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता लाना चाहते थे। यही उनके दर्शन का एकमात्र लक्ष्य एवं मुख्य समस्या थी।

सत्य का अनुसंधान करना दर्शन का लक्ष्य है। सत्य के दो रूप है–

स्वतः सिद्ध– ऐसा सत्य जिसे सिद्ध करने के लिये अन्य प्रमाणों की आवश्यकता नही वरन् समस्त प्रमाणों की सिद्धि ऐसे सत्य के द्वारा होती है।

प्रमाण जन्य सत्य– ऐसे सत्य जिन्हें प्रमाणों द्वारा सिद्ध अथवा असिद्ध करके स्थापित किया जाता है। ऐसा सत्य, जिन नियमों (बौद्धिक) द्वारा सिद्धि ओर असिद्धि का कार्य करता है, वे नियम स्वतः सिद्ध होते है। इन नियमों को अन्य प्रमाणों या नियमों द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं और यदि हम ऐसा प्रयास करते है, तो अनावस्था दोष आता है। इस दोष के अन्तर्गत अ को ब से, ब को स से और स को द से और इस प्रकार अनंत तक यह सिद्धि कार्य चलता रहता है, इस प्रक्रिया का कोई अन्त नही होता। साथ ही सत्यता की स्थापना भी असंभव हो जाती है। अतः देकार्त के अनुसार स्वयं सिद्ध सत्य का साधन है – सहज ज्ञान **(Intution)** है ओर प्रमाण जन्म सत्य का साधन है – सविकल्प बुद्धि है। सविकल्प बुद्धि, स्वयं सिद्ध सत्य के आधार पर अन्य नियमों को स्थापित करती है, जैसे गणित में कुछ मौलिक नियमों के आधार पर अन्य नियम सिद्ध किये जाते हैं।

इस प्रकार देकार्त के दर्शन–पद्धति के दो अंग है– 1. सहज अनुभूति (Intution) 2. निगमन (Deducative Method)

1.सहज अनुभूति– इसके द्वारा सत्य का स्वरूप इतना सुस्पष्ट रूप में अभिव्यक्त हो जाता है कि उस पर संदेह नही रहता। जैसे सूर्य को देखने के लिये दीपक के प्रकाश की आवश्यकता नही रहती।

2.निगमन– सविकल्प बुद्धि या तर्क की मुख्य प्रणाली है– निगमन। इस प्रणाली के अन्तर्गत बुद्धि, सहज अनुभूति द्वारा परिस्पष्ट नियमों द्वारा अन्य विशेष नियमों को निगमित अथवा निष्कर्ष रूप में स्थापित करती है।

यहॉं यह स्पष्ट करना अनुचित न होगा कि तर्क की दूसरी प्रणाली जिसे आगमन प्रणाली कहा जाता है और इस प्रणाली के द्वारा कुछ विशेष घटनाओं के आधार पर एक सामान्य सत्य की स्थापना की जाती है। देकार्त ने इस प्रणाली के मन एवं बाहय जगत के विश्लेषणात्मक अध्ययन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण माना है, किन्तु देकार्त यह स्वीकार करते हैं कि आगमन प्रणाली अपनी सत्यता के लिये निगमन पर ही निर्भर करती है।

दार्शनिक विधि के चार नियम

देकार्त ने अपनी पुस्तक 'डिसकोर्स' में चार नियमों का विवरण दिया है –

1. जब तक मुझे किसी वस्तु की सत्यता का स्पष्ट ज्ञान न हो जाय, तब तक उसे कभी सत्य नही मानना। अर्थात् स्वयं की धारणा निर्धारित करने में अतिशीघ्रता, पूर्वाग्रह को दूर रखना तथा अपनी धारणा में केवल वही चीज ग्रहण करना जिसकी सत्यता पर संदेह करने का अवसर ही उत्पन्न न हो।
2. किसी समस्या पर विचार करते समय उसके सही समाधान हेतु, उस समस्या का यथा संभव तथा पर्याप्त अंशों में विश्लेषण करना।
3. किसी प्रश्न पर व्यवस्थित ढ़ंग से विचार करना। इसके अन्तर्गत सरल, सुलभ ज्ञान से प्रारंभ कर, एक निश्चित क्रम में जटिलतर अवस्था तक पहुॅचन का प्रयास किया जाता है।
4. अपनी विचारों से संबंधित सभी पक्षों की इस प्रकार गणना एवं सर्वेक्षण करना ताकि इस बात की पूर्ण निश्चितता हो जाय कि विचार कड़ी में कही भी कोई पक्ष छूटा नहीं है।

देकार्त द्वारा उपरोक्त दार्शनिक नियम केवल दर्शन तक ही सीमित नहीं है। इनकी व्यापक तो इतनी है कि किसी भी क्षेत्र से संबंधित समस्या पर ये नियम लागू किये जा सकते हैं।

दार्शनिक विधि का प्रथम नियम बहुत महत्वपूर्ण है। इस नियम के अनुसार दार्शनिक तब तक किसी चीज के सत्य स्वीकार नही करें जब तक वह उस चीज के इतनी स्पष्टता और परिश्ट दृष्टि के साथ न देख ले कि उसकी सत्यता में उसे सन्देह की कोई सम्भावना ही नहीं रहें। स्पष्टता से अभिप्राय है– जिसका अर्थ या बोध हमें साफ–साफ दिखाई दे और परिस्पष्ट से अभिप्राय है कि जिसका बोध या अर्थ इतना निश्चित हो कि उसे किसी अन्य बातों से मिल जाने का धोखा न हो।

देकार्त का यही नियम यदि दार्शनिक खोज के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया जाय तो यही नियम देकार्त के सन्देह विधि के जन्म देता है।

देकार्त की संदेह–विधि

देकार्त की दार्शनिक पद्धति है– सन्देह की पद्धति किन्तु वे सन्देहवादी नहीं है। वे तो बुद्धिवाद के कट्टर समर्थक है, किन्तु निश्चित, सन्देह रहित, सार्वभौम सत्य तक पहुॅचने के लिये सन्देह आवश्यक है। सन्देह तो साधन है। निश्चितात्मक

सत्य साध्य है, सन्देह साधन है। देकार्त ने कहा है कि ''ज्ञान का उद्गम सन्देह है'' (Dubito ul Intelligam)

अपनी इस सन्देह पद्धति से देकार्त ने इस प्रकार विचार करना प्रारंभ किया– 'जहॉ भी किसी भी ज्ञान में तनिक भी सन्देह हो अथवा उसमें सन्देह की कल्पना की जा सके, तो उसमें तब तक के लिये अपना विश्वास न रखों जब तक कि उसमें सन्देह की गुंजाईश बनी रहें। अपनी इस विधि के अनुसार वे समस्त भौतिक जगत, अपने शारीर की सत्ता में, ईश्वर की सत्ता में, भूत के अस्तित्व में, वैज्ञानिक एवं गणित के सत्यों में भी अपने विश्वास को स्थगित कर देते है। देकार्त कहते है ''अभी तक मैं जिसे सवर्था सत्य और निश्चियात्मक मानता आया हूँ, वह ज्ञान मुझे या तो इन्द्रियों से साक्षात् मिला है या इन्द्रियों के द्वारा किन्तु इन्द्रियों ने कई बार धोखा दिया है, और बुद्धिमानी इसी में है कि जो एक बार धोखा दे उसका पूरा विश्वास कभी नहीं किया जाय। ....''मेरा पुराना विश्वास रहा है कि ईश्वर है, उसने सृष्टि बनाई है, उसने मुझे उत्पन्न किया है। मैं यह कैसे मानू कि उन्होंने यह सृष्टि मुझे धोखा देने के लिये बनाई है? तब क्या मैं यह समझू कि यह कार्य शैतान का है? या यह सब मेरी ही कल्पना है?

इस प्रकार सन्देह की विधि के अन्तर्गत सब दृश्य पदार्थो को असत् मान लिया जाय, इनकों मात्र भ्रम कहा जाय, फिर भी यहॉ एक तत्व ऐसा है, जिस पर सन्देह का तनिक भी अवसर नहीं रहता और वह है– सन्देह की प्रक्रिया, हम सन्देह की क्रिया पर सन्देह नही कर सकते। जब क्रिया पर सन्देह नही संभव है तो क्रिया किसी कर्त्ता के बिना संभव ही नही। अतः सन्देह क्रिया के द्वारा सन्देह कर्त्ता का अस्तित्व स्वयं सिद्ध सत्ता के रूप में सिद्ध होता है। इसे देकार्त इस प्रकार कहते है ''मैं सोचता हूँ इसलिये मैं हूँ। (Cogito Ergo Sum) देकार्त के अनुसार मैं कुछ भी कहूँ, सोचूँ, विचारूँ, उन सब में मेरा अस्तित्व अन्तर्निहित है, अतः भली भॉति सोच लेने के बाद और प्रत्येक बात की सावधानी से परीक्षा कर लेने के बाद, मैं इस परिणाम पर पहुॅचने और इस सत्य को मानने के लिये बाध्य हूँ कि ''मै हूँ मेरा अस्तित्व हैं।'' यदि हम अपनी सत्ता का निषेध ''मैं नही हूँ।'' कह कर करते है, तब भी निषेध से पूर्व मेरी सत्ता सिद्ध होती है। मैं सोचता हूँ इसलिये मैं हूँ। कथन में देकार्त सोचना या विचारणा का व्यापक अर्थ लेते है। विचारणा से अभिप्राय है–चेतन प्रक्रिया और 'मैं' से अभिप्राय चेतन तत्व से है।

इस प्रकार देकार्त की सन्देह पद्धति आत्मा के आगे समाप्त हो जाती है। यही स्वयं सिद्ध सत्ता है। इस पर सन्देह की कोई भी गुंजाइश नही। स्वयं सिद्ध सन्देह रहित अनिवार्य सत्य के रूप में आत्मा की सत्ता निगमन प्रणाली का निष्कर्ष नही है और न ही अनुमान द्वारा स्थापित, बल्कि निर्विकल्प अतिइन्द्रिय प्रत्यक्ष (सहज अनुभूति) (Sum Cogitaus) द्वारा सिद्ध है। इसी के द्वारा सभी प्रमाण कार्य करते है। देकार्त के दर्शन का आधार यही स्वयं सिद्ध सत्य है।

हमने देखा कि देकार्त किस प्रकार सन्देह विधि के द्वारा एक स्वयं सिद्ध सन्देह रहित अनिवार्य सत्य–आत्म तत्व की स्थापना करते है। इसी आत्म तत्व के द्वारा वे पुनः जगत और ईश्वर की सत्ता को भी सिद्ध करते है।

सर्वप्रथम स्वयं सिद्ध एवं निश्चयात्मक आत्मा की सत्ता के ज्ञान के द्वारा ईश्वर तत्व को सिद्ध करते है। देकार्त के अनुसार आत्मा में पूर्णता एवं अनंतता की एक धारणा है। इस धारणा का स्वरूप ही कुछ इस प्रकार है कि इसके होने मात्र से ही इस धारणा के विषय (ईश्वर) की स्वतंत्र सत्ता भी सिद्ध हो जाती है। अपूर्ण मनुष्य पूर्णता की धारणा का कारण नही हो सकता। पूर्णता और अस्तित्व में अनिवार्य संबंध है। ऐसा नही हो सकता पूर्णता हो किन्तु उसकी सत्ता या अस्तित्व न हो। ईश्वर ने ही पूर्णता की धारणा आत्मा में स्थित किया है।

दूसरी ओर देकार्त बाह्य जगत की सत्ता को ईश्वर की सत्ता द्वारा सिद्ध करते है। बुद्धिवादी होने के कारण देकार्त ये तो मानते है कि बुद्धि के स्पष्ट एवं परिस्पष्टता के मापदण्ड से अनेकता से पूर्ण एक बाध्य जगत का ज्ञान होता है किन्तु इससे जगत की सत्ता प्रमाणित नहीं होती। वास्तव में देकार्त ने ईश्वर के संबंध में तीन गुणो को स्वीकार किया है– 1. ईश्वर कभी गलती नहीं करता 2. ईश्वर धोखा नहीं देता 3. ईश्वर दया निधान है– वह सदैव हमें सद्ज्ञान की ओर ले जाता है।

आत्मा को संवेदनाएं बाहर से प्राप्त होती है और से संवेदनाएं बाह्य जगत से आती है। यह जगत ईश्वर की रचना है इसलिये वह आत्मा में बाह्य जगत के अनुरूप संवेदनाऐं पैदा करता है। यदि ऐसी अनुरूपता नहीं होती तो फिर हमें ईश्वर को इसके लिये उत्तरदायी ठहराना होगा, ऐसी स्थिति में ईश्वर निश्चय ही दुष्टात्मा है, किन्तु ईश्वर दुष्टात्मा नही है, पूर्ण है, वह हमें धोखा नही दे सकता। अतः संवेदानाओं के आधार पर, उनके अनुरूप भौतिक जगत एवं भूतकाल की सत्ता में हमारा सहज स्वाभाविक विश्वास सत्य है, असत्य नही। हमारे इस सहज स्वाभाविक विश्वास की सत्यता साक्षी ईश्वर है। इस प्रकार बाध्य जगत आत्मा से स्वतंत्र द्रत्य है, जो आत्मा से पृथक एवं भिन्न है। आत्मा का गुण चितंन है। तो जगत का गुण विस्तार है।

इस प्रकार अपने सन्देह विधि से दर्शन का प्रारंभ कर देकार्त ने सर्वप्रथम स्वयं सिद्ध निश्चियात्मक आत्मा की सत्ता को सिद्धि किया, फिर निगमन प्रणाली के आधार पर ईश्वर एव जड़ जगत की सत्ता को सिद्ध किया। अतः सन्देह देकार्त दर्शन का प्रारंभ है अन्त नहीं है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. सद्गुण ही ज्ञान है, ज्ञान ही सद्गुण है, यह कथन है :–
   (अ) अरस्तू का (ब) सुकरात का
   (स) सोफिस्टों का (द) प्लेटो का
2. 'व्यक्ति ही हर वस्तु का मापदण्ड है,' सोफिस्टो के इन विचारों का सर्वप्रथम खण्डन किया।
   (अ) सुकरात का (ब) प्लेटो का
   (स) अरस्तू का (द) देकार्त का
3. निम्न में से किसने अपना दर्शन प्रश्नोत्तर पद्धति पर विकसित किया।
   (अ) सोफिस्टों का (ब) सुकरात का
   (स) अरस्तू का (द) प्लेटो का
4. पाश्चात्य नीति शास्त्र –
   (अ) विधायक विज्ञान है (ब) आदर्शमूलक विज्ञान है
   (स) कला है (द) व्यवहारिक विज्ञान है
5. 'प्रत्यय परम तत्व, जगत का सार है' विचार है
   (अ) अरस्तू के (ब) सुकरात के
   (स) प्लेटो के (द) देकार्त के
6. प्लेटो के मत में दृश्य जगत
   (अ) प्रत्यय जगत का अंश है
   (ब) प्रत्यय जगत की प्रति छाया/अनुकृति है।
   (स) प्रत्यय जगत से भिन्न वास्तविक सत्ता है।
   (द) प्रत्यय जगत का प्रतिबिम्ब है।
7. प्रत्येक वस्तु के चार कारण होते है विचार है
   (अ) सुकरात का (ब) प्लेटो का
   (स) सोफिस्टों का (द) अरस्तू का
8. अरस्तू ने चार कारणों को निम्न में से कौन से दो कारणों में सीमित किया।
   (अ) भौतिक कारण, निमित कारण
   (ब) आकार कारण और अन्तिम कारण
   (स) अन्तिम कारण और नीमित कारण
   (द) भौतिक कारण और आकार कारण
9. देकार्त अपनी सन्देह विधि से किस निष्कर्ष पर पहुॅचे –
   (अ) मैं सोचता हूॅं इसलिये जगत है
   (ब) मैं सोचता हूॅं इसलिये ईश्वर है
   (स) मै सोचता हूॅं इसलिये मैं हूॅं
   (द) मै सोचता हूॅं इसलिये चेतना है
10. देकार्त के अनुसार आत्मा का अस्तित्व
   (अ) स्वतः सिद्ध है (ब) निगमनात्मक है
   (स) आगमनात्मक है (द) प्रमाण जन्म है

अति लघू उत्तरात्मक प्रश्न

1. तत्वमीमांसा
2. ज्ञानमीमांसा
3. नितिशास्त्र
4. एकतत्ववाद
5. विज्ञानवाद
6. बुद्धिवाद
7. अनुभववाद
8. द्वन्दात्मक पद्धति
9. प्रत्यय जगत
10. भौतिक कारण

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

1. सुकरात ने सोफिस्टो के मत का खण्डन कैसे किया?
2. प्लेटो के दर्शन में इन्द्रिय जगत का स्वरूप क्या हैं?
3. अरस्तू ने अपने कारणता सिद्धान्त द्वारा कौनसी समस्या का समाधान किया?
4. 'ज्ञान मत नही है' प्लेटो के इस विचार को स्पष्ट कीजिए।
5. दर्शन का जीवन में क्या महत्व है?
6. अरस्तू द्वारा प्रतिपादित चार कारणों को समझाइये।
7. देकार्त की सन्देह विधि को समझाइये।
8. देकार्त को आधुनिक पाश्चात्य जगत का पिता क्यों कहते है?
9. प्लेटो के अनुसार ज्ञान के प्रज्ञा स्तर को समझाइये।
10. देकार्त की दार्शनिक समस्या क्या थी? स्पष्ट करें।
11. देकार्त ने आत्मा की सिद्धि, सन्देह–विधि से किस प्रकार किया? समझाइये।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. दर्शन के अध्ययन क्षेत्र की व्याख्या कीजिये।
2. प्लेटो के प्रत्ययवाद की व्याख्या कीजिये।
3. अरस्तू के कारणता संबंधी सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये।
4. देकार्त के दार्शनिक विधि की विशेषताओं के समझाइये।

बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर

1. ब 2. अ 3. ब 4. ब 5. स 6. स
7. ब 8. द 9. स 10. अ

अध्याय 6
धर्म की भारतीय अवधारणा

(i) धर्म का अर्थ एवं स्वरूप :

प्रकृति का संचालन कतिपय नियमों एवं नैतिक मर्यादाओं के अनुरूप होता है। वही मर्यादाएं इस संचालन का आधार होती है, जिसे धर्म कहा जाता है। धर्म सनातन है। धर्म, गैर विभाजनकारी गैर अनन्य, और गैर निर्णायक है। धर्म एक व्यक्तिगत स्तर पर ब्रह्माण्ड और चेतना के आदेश के क्रम में ब्रह्माण्ड को समझने के लिए एक अन्वेषण है। धर्म, मानव कल्याण के लक्ष्य का सौपान है परन्तु इसके लिये धर्म के सही स्वरूप को समझना आवश्यक है। ''धर्म'' अपने स्वरूप और लक्ष्य को स्वयं स्पष्ट करता है। धर्म से तात्पर्य है, वह, जो समस्त विश्व को धारण कर रही है, अर्थात सम्पूर्ण विश्व का मूल आधार और समाज की एकता को मूर्तिमान करने वाला सशक्त माध्यम है। धर्म का अर्थ है ''कर्त्तव्यपरायणता''। व्यक्ति का स्वयं के प्रति , परिवार के प्रति, देश समाज के प्रति, यहां तक के मानव मात्र या प्राणिमात्र के प्रति क्या कर्तव्य है ? उन्हें पूरा करना क्यों आवश्यक है ? इसकी व्याख्या–विवेचना करने वाला एक शब्द में धर्म कहा जाता है।

धर्म शब्द 'धृ' धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है धारण करना। मुनि व्यास ने प्रज्ञा को धारण करने के अर्थ में धर्म की व्याख्या की है ''धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मों धारयते प्रज्ञाः। यत्स्याद्धारणसंयुक्तं सधर्मइतिनिश्चयः।'' अर्थात्– धारण करने से इसका नाम धर्म है। महामुनि कणाद ने कहा हैः– ''यतोऽभ्युदय निश्श्रेयस्सिद्धि स धर्मः। अर्थात्–जिससे इस लोक और परलोक दोनों में सुख मिले, वही धर्म है। किन्तु उक्त व्याख्या अंशतः ही सही है। धर्म जीवन का आधार है। आधार उसे कहते है, जिसके सहारे स्थिर रह सके, कुछ टिक सके। कितनी भी बड़ी इमारत क्यों न हो, उसका आधार नींव के पत्थर होते है। प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी आधार पर ही अवस्थित है। यहां तक ग्रह, तारे, नक्षत्र, जो अन्तरिक्ष में, शून्य में अवस्थित प्रतीत होते हैं, वे भी पारस्परिक आकर्षण शक्ति को आधार बनाए हुए हैं। आधार रहित कुछ भी नहीं हैं। वह आधार है धर्म।

वर्तमान समय के कतिपय चिन्तक और तथाकथित दर्शन मर्मज्ञ धर्म को सम्प्रदाय अथवा पंथ के रूप में प्रस्तुत करते है, जो भारतीय धर्म अवधारणा के आस पास भी नहीं है। चाहे वेद हो या वेदान्त, महाभारत हो या मनुस्मृति, श्रीमद्भागवत हो या श्रीमद्भगवतगीता–सर्वत्र धर्म शब्द नैतिक विधानों या आदर्शों के लिये प्रयुक्त हुआ है। मनु ने जिन दस आदर्शों को धर्म के लक्षण बताया है ''धृति, क्षमा, संयम, अचौर्य, शौच, इन्द्रिय–निग्रह, विवेक, विद्या, सत्य एवं अक्रोध'' अथवा व्यास ने जिन तीस आदर्शों को धर्म का सामान्य लक्षण माना था ''सत्य, तप, शुचिता, दया, सहिष्णुता, विवेक, निग्रह, संयम, ब्रह्मचर्य, त्याग, अहिंसा, स्वाध्याय, सन्तोष, सरलता, सम्यक् दृष्टि, सेवा, निःस्पृहता, उदासीनता, मौन, आत्म–चिन्तन, ईश्वर चिन्तन, ईश्वर सेवा, अराधना, दास्य, सख्य, समर्पण, सत्संग, सर्वात्मीयता, पूजा, स्तुति'' ये नैतिकता के ही अंग है। भारत की धार्मिक परंपराओं में धर्म के बुनियादी मूल्यों का साँझा स्वरूप हैं। इनमें अहिंसा, सत्य, दया और त्याग की तरह नैतिक सिद्धांत स्वतः सम्मिलित है। वे पवित्र रूप में सभी के जीवन और पूरे ब्रह्मण्ड में व्याप्त चेतना की मान्यता के लिए आवश्यक है। भारतीय वर्णाश्रम सिद्धान्त मानव के जीवन की विभिन्न अवस्था एवं भूमिका में धर्म को परीलक्षित करता है। अर्जुन को श्री कृष्ण द्वारा प्रदत्त गीता का संदेश मानव के धर्म का एवं उसके पालन का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। एक क्षत्रिय योद्धा का युद्ध काल में आवश्यक धर्म निभाते हुए ही श्री अर्जुन द्वारा अपने पितामह के समक्ष गाण्डिव लेकर खड़े हुए थे।

बौद्ध भिक्षु यू. थित्तील ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि ''यह एक शाश्वत् सत्ता एवं विश्व का प्राण है। इसे समस्त संसार को परिचालित करने वाला सिद्धान्तों का ऐसा समुच्चय समझा जा सकता है, जिसमें प्राणी मात्र का कल्याण सन्निहित है।'' वे अपनी पुस्तक ''दी पाथ ऑफ बुद्धा'' में लिखते है कि सूर्य चंद्र, पुष्प, पवन, पर्वत, सरिता पावक, अन्न आदि अपना–अपना धर्म निभा रहे है। इसीलिये जीवन चल रहा है एवं जगत स्थिर है। सूर्य अपना कार्य नहीं करेगा, अग्नि अपना दाहक धर्म खो देगी , उस दिन विश्व का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा । मनुष्य जीवन में भी धर्म का अवतरण इसी प्रकार होना चाहिये, जो समस्त विश्व को स्वयं में समाहित कर ले।

मनीषियों ने धर्म के दो भाग बताये है, पहला है कलेवर, दूसरा प्राण। कलेवर समय–समय पर आवश्यकता के अनुरूप बदलता रहता है, पर प्राण की सत्ता सदा एक जैसी रहती है। प्राण धर्म के वे शाश्वत सिद्धान्त है, जिन पर देश, काल की परिस्थितियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे सदा एक जैसे बने रहते हैं। धर्म का अस्तित्व इस प्राण सत्ता पर टिका हुआ है, जब कि कलेवर परिवर्तनशील है और समय–समय पर उसमें सुधार एवं परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है। धर्म का परिस्थिति अनुरूप परिवर्तनीय कलेवर ही विभिन्न सम्प्रदाय रूपों में दृष्टिगत होता है विभिन्न पंथ विभिन्न परिस्थितियों में जन्में और विकसित हुए है। प्रत्येक की अपनी महत्ता और उपयोगिता

है, पर कब ? जब कि वें धर्म के शाश्वत सिद्धान्तों का प्रतिपादन करें तथा मनुष्य जीवन के प्रमुख लक्ष्य की ओर उन्मुख रहें।

वस्तुतः धर्म शब्द का जितना व्यापक और विविधतापूर्ण प्रयोग भारतीय परम्परा ने किया है, उतना शायद ही किसी ने किया हो। धर्म चूंकि जीवन के मार्ग एवं और लक्ष्य दोनों के अर्थो में में प्रयुक्त होता था, इसलिये दार्शनिक अपनी प्रणाली अथवा परम्परा के अनुसार पृथक–पृथक अर्थ दे देतें है। सिद्धान्त चन्द्रिका नामक ग्रन्थ में इनका संक्षिप्त समेकन करते हुए कहा है कि ''सांख्य मनोवृत्ति विशेष को, बौद्ध चित्त की शुभ वासना को, जैन पुद्‌गल स्वरूप को, वैशेषिक आत्मा के विशेष गुण को तथा मीमांसक अपूर्व को धर्म मानते है।''

धर्म के अर्थ– व्यावहारिक रूप में भी धर्म के कम से कम तीन मुख्य अर्थ तो समझे जा सकते हैं–

प्रथम– नैतिक सद्‌गुण, जिस अर्थ में वेदों–स्मृतियों–काव्यों आदि में धर्म का प्रयोग हुआ है।

द्वितीय– प्राकृतिक गुण, जिस अर्थ में हम किसी वस्तु विशेष के स्वभाव या लक्षण के निर्देशन हेतु धर्म का प्रयोग करते है।

तृतीय– साम्प्रदायिक पंथ, जिस अर्थ का प्रयोग सामान्य अर्थ में वर्तमान में किया जाने लगा है।

यह स्पष्ट है कि यह, जो धर्म का तृतीय अर्थ है, प्रारंभ में वह धर्म का अर्थ नहीं था। कालातंर में भी वह अर्थ धर्म का गौण अर्थ ही था। संभवतः वर्णाश्रम धर्म की व्याख्या के साथ वर्ग विशेष के सामाजिक विधान के अर्थ में रूढ़ होने लगा था और बुद्ध ने अपने त्रिरत्न सिद्धान्त बुद्ध, धर्म, संघ, द्वारा इसे चरम पर पहुंचा दिया। बुद्ध से पूर्व भारतीय संस्कृति में न तो वर्ग–विशेष की अवधारणाओं को धर्म की संज्ञा दी जाती थी, न कि उसका कोई वक्ता था और न ही वह संघात्मक रूप में संगठित था। बुद्ध ने अनजाने में धर्म को पंथ की दिशा दे दी।

भारतीय परम्परा में धर्म का वर्गीकरण–

भारतीय परम्परा में धर्म का त्रिविध वर्गीकरण उल्लेखनीय है:–

प्रथम–सामान्य धर्म। इसमें मूलतः नैतिक एवं आध्यात्मिक आर्दश होते थे, जो सभी के लिये समान होते थे।

द्वितीय–विशेष धर्म। इसमें मुख्यतः सामाजिक विधान और बाहरी बंधन होते थे, जो वर्ण जाति, आश्रम, कुल, देश, पद, युग के अनुसार भिन्न हो जाते है ।

तृतीय–आपद्धर्म। इसमें कोई पृथक धर्म नहीं होता, अपितु पृथक्–पृथक् विशेष धर्म वालों को आपत्तिकाल में एक–दूसरे का धर्म अपनाने की छूट मिल जाती है। यह एक प्रकार से विशेष धर्म का ही अपवाद है।

भारतीय परम्परा में प्रायः धर्म को कर्म की भी संज्ञा दी जाती रही है और उसका भी इस अर्थ में त्रिविध वर्गीकरण करती रही है–विहित, काम्य एवं निषिद्ध। जिन विधानों को धार्मिक या सामाजिक दृष्टि से अनिवार्य माना जाता है, वे विहित कर्म होते है। अनिवार्य न होकर भी वांछनीय होते है, वे काम्य कर्म होते है। तथा जो सर्वथा अस्वीकार्य होते है, वे निषिद्ध–कर्म माने जाते है। इस दृष्टि से समान्य धर्म को विहित कर्म, विशेष धर्म को काम्य कर्म तथा आपद्धर्म को निषिद्ध कर्म माना जा सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय दृष्टिकोण से धर्म को उसके गुण एवं कर्तव्यों के अनुरूप नैतिक आदर्श को माना जाता है। यह पूजा पद्धति, पंथ अथवा सम्प्रदाय से भिन्न है।

(2) रिलिजन का अर्थ एवं स्वरूप

अंग्रेजी का शब्द ''रिलिजन'' लेटिन भाषा के ''Religio'' शब्द से व्युत्पन्न माना जाता है। मान्यता यह भी है कि यह शब्द ''Religere'' धातु से निष्पन्न है इसके तीन अर्थ है–

– एकत्रित करना (To collect)

– चयन करना (To Choose)

– आबद्ध करना (To Bind)

इस दृष्टि से रिलिजन वह विचार या दर्शन है, जो स्वयं वैज्ञानिक रूप से संकलित, चयनित तथा व्यवस्थित किया होता है फिर व्यावहारिक रूप से जनसामान्य को एकीकृत, वर्गीकृत और आबद्धिकृत करने का कार्य करता है। व्यावहारिक रूप से इसका अर्थ समाज को बांधने या व्यवस्थित करने वाला माना जाता है। उक्त तृतीय विवेचन को सर्वाधिक लोकप्रिय एवं मान्य समझा जाता है।

दूसरी व्याख्या के अनुसार रिलिजन शब्द Re उपसर्ग पूर्वक **Legere** धातु से बना है, जिसके भी तीन अर्थ माने जाते है–

– चयन करना (To pick or choose)

– मनन करना (To Consider or meditate)

– संबद्ध करना (To Link or relate)

वैसे तो रिलिजेयर और 'लिगेयर' शब्दों में बहुत फर्क नहीं लगता, किन्तु रि (Re) उपसर्ग लगने का अर्थ है–पुनः शब्द का जुड़ जाना। इस प्रकार दूसरी व्याख्या के अनुसार रिलिजन का अर्थ होता है –पुनः चयनित करना या पुनः संबद्ध करना या पुनः मनन करना। धर्म को सदा मौलिक माना जाता है ।

ऑक्सफोर्ड एडवांस्ड़ लर्नर्स डिक्शनरी का कहना है कि धर्म आस्था का सिस्टम है, जो कि एक विशेष देवता या देवताओं के अस्तित्व में विश्वास के आधार पर है। न्यू कोलिन्स शब्दकोश, दिव्य या मानव भाग्य का नियंत्रण मान कर, एक अलौकिक शक्ति(ओं) में विश्वास की कोई औपचारिक या

संस्थागत अभिव्यक्ति के रूप में धर्म का अर्थ देता है।

धर्म एवं रिलिजन में अन्तर–

प्रायः पश्चिम की अवधारणा अनुरूप रिलिजन, पंथ, मज़हब अथवा सम्प्रदाय को सामान्य अर्थ में धर्म के रूप में लिया जाता है, जो कि भारतीय धर्म अवधारणा के अनुरूप नहीं है। कर्म एवं सृष्टि के शाश्वत् नियमों पर आधारित भारतीय धर्म के लिये पश्चिम में वस्तुतः कोई स्पष्ट निरूपण नहीं है। रिलिजन पाश्चात्य विचार से उत्पन्न है, जिसमें पूजा पद्धति एवं आस्था के आधार पर बने लोगो का समूह रिलिजन अथवा धर्म को निरूपित करता है, जबकि धर्म भारतीय विचारधारा है जो कर्म का सहोदर है एवं नैतिक ब्रह्माण्ड नियमों को निरूपित करने वाला शाश्वत नियम है। जीवन में हमें जो धारण करना चाहिए, वही धर्म है अर्थात नैतिक मूल्यों का आचरण ही धर्म है। धर्म वह पवित्र अनुष्ठान है जिससे चेतना का शुद्धिकरण होता है। धर्म वह तत्व है जिसके आचरण से व्यक्ति अपने जीवन को चरितार्थ कर पाता है। यह मनुष्य में मानवीय गुणों के विकास की प्रभावना है, सार्वभौम चेतना का सत्संकल्प है। अतः पाश्चात्य रिलिजन जिसे सामान्य रूप में धर्म बुलाया जाता है वह पंथ अथवा मजहब के समान है।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस के अनुसार ''रिलजन (पंथ) प्रार्थना एवं धार्मिक नियमों में संहिताबद्ध लोगों के आम विश्वासों का एक समूह है। संसार में विभिन्न प्रकार के रिलिजन (पंथ) है और इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के लोग है।'' माईकिल डोमीनो के रिलिजन को भारतीय धर्म से अलग करते हुए कहते है कि ''रिलिजन एक पश्चिमी अवधारणा है, भारतीय धर्म अवधारणा न तो रिलिजन और न ही वाद। यह सनातन धर्म तो वह है, जो ब्रह्मण्ड का शाश्वत नियम है, जो किसी भी सिद्धान्त में अनन्तिम ही रहता है।''

मध्ययुग में विकसित धर्म एवं दर्शन के परम्परागत स्वरूप एवं धारणाओं के प्रति आज के व्यक्ति की आस्था कम होती जा रही है। मध्ययुगीन धर्म (पंथ) एवं दर्शन के प्रमुख प्रतिमान थे– स्वर्ग की कल्पना, सृष्टि एवं जीवों के कर्ता रूप में ईश्वर की कल्पना, वर्तमान जीवन की निरर्थकता का बोध, अपने देश एवं काल की माया एवं प्रपंचों से परिपूर्ण अवधारणा। उस युग में व्यक्ति का ध्यान अपने श्रेष्ठ आचरण, श्रम एवं पुरुषार्थ द्वारा अपने वर्तमान जीवन की समस्याओं का समाधान करने की ओर कम था, अपने आराध्य की स्तुति एवं जय गान करने में अधिक था।

विभिन्न पंथ अथवा रिलिजन के व्याख्याताओं ने संसार के प्रत्येक क्रियाकलाप को ईश्वर की इच्छा माना तथा मनुष्य को ईश्वर के हाथों की कठपुतली के रूप में स्वीकार किया, जबकि दार्शनिकों ने व्यक्ति के वर्तमान जीवन की विपन्नता का हेतु कर्म–सिद्धान्त के सूत्र में प्रतिपादित किया। इसकी परिणति मध्ययुग में यह हुई कि वर्तमान की सारी मुसीबतों का कारण भाग्य अथवा ईश्वर की मर्जी को मान लिया गया। नवीन बने पंथों ने पुरुषार्थवादी–मार्ग को दुरूह बना दिया और ईश्वर की भक्ति के लिये विभिन्न प्रतीकों का उद्भव होने लगा। पंथों की शिक्षाओं में ईश्वर प्राप्ति के लिये पूजा पद्धतियों का महत्व बढ़ने लगा। सुख एवं स्वर्ग की लालसा ने विभिन्न पंथों के मार्ग टटोलने के लिये मनुष्य को उद्वेलित किया। धीरे–धीरे उक्त पंथ अथवा रिलिजन का पीढ़ी हस्तान्तरण जन्म से होने लगा और जन्म के साथ ही मनुष्य का रिलिजन नियत होने लगा। अर्थात स्वीकार्य पंथ/रिलिजन के मर्म का महत्व कम होने लगा। भविष्यगत् धर्म परिवर्तन और असहिष्णुता का एक कारण यह भी बना।

धर्म एवं रिलिजन में अन्तर

1. धर्म का आधार ईश्वर और रिलिजन अथवा पंथ का आधार मनुष्य है। धर्म, उस ज्ञान का नाम है जिसे मनुष्यों और प्राणिमात्र के कल्याण के लिए परमात्मा ने आदि सृष्टि में प्रदान किया है। वहीं रिलिजन, वह है जिसे मनुष्यों ने समय समय पर अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए स्वीकार किया और पुनःस्वार्थ सिद्धि के लिए उसका विस्तार किया।
2. धर्म ईश्वर प्रदत्त है, इसलिए एक है। इसमें हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, यहूदी, पारसी किसी के लिए भी भेद भाव नहीं है। इसके विपरित मत मतान्तर, मनुष्यों के बनाये होने के कारण बहुत से हैं।
3. धर्म सबका साझा है। रिलिजन या पंथ अपना अपना है सबका समान नहीं है।
4. धर्म सदा से है, शाश्वत है, नित्य है, इसलिए उसका नाश नहीं होता है। पंथ अथवा मत–मतान्तर उत्पन्न हैं, मनुष्यों द्वारा बनाये हुए हैं, इसलिए वे स्थाई नहीं है।
5 .धर्म बुद्धि, तर्क और विज्ञान का उपासक है, धर्म से कोई इन्कार नहीं कर सकता। रिलिजन या मत बुद्धि, तर्क और विज्ञान के सापेक्ष हो, आवश्यक नहीं है, इसका मानना न मानना इच्छा पर आधारित है।
6. धर्म, कर्मानुसार फल की प्राप्ति मानता है। रिलिजन या सम्प्रदाय सिफारिश और उपदेशों पर अवलम्बित है अर्थात पैग़म्बर अथवा उनकी किताब में उल्लेख ही पाप–पुण्य अथवा स्वर्ग–नरक का निर्णय करता है।
7. धर्म, ईश्वर से मनुष्यों का सीधा सम्बन्ध बताता है, वह आत्मा और परमात्मा के मध्य मे किसी पीर, पैग़म्बर, गुरु, ऋषि, मुनि, अवतार आदि की आवश्यकता नहीं समझता। रिलिजन या सम्प्रदाय ईश्वर और मनुष्यों के बीच में अपने पैगम्बर धर्म गुरूओं का अस्तित्व होता है।
8. धर्म, प्राणिमात्र के सुख के लिए है और मत मतान्तर या

रिलिजन केवल अपने अनुयायियों के सुख का उत्तरदायित्व लेता है।

9. धर्म, मनुष्य के पूर्ण जीवन का पुरोगम बताता है, परन्तु रिलिजन या मजहब में ऐसा कोई पुरोगम नहीं वह केवल मनुष्यों को जीवन बिताना सिखाता है।

10. धर्म में सृष्टि के नियम के विरुद्ध कुछ नहीं। रिलिजन अथवा पंथ में चमत्कार एवं विश्वास माने जाते हैं।

11. धर्म, स्त्री पुरुष को समान अधिकार देता है। पृथक–पृथक पूजा पद्धतियों में स्त्रियों की स्थिति पृथक पृथक होती है, उनके अधिकार एवं कर्तव्य भी पुरूषों से भिन्न बताए गये है।

12. धर्म में सत्य, सरलता, संतोष, स्नेह, सदाचार और चरित्र आवश्यक हैं, जब कि पंथ या सम्प्रदाय में निशान अथवा चिन्ह सम्प्रदाय की पहचान बनाते है। जैसे तिलक, कृपाण या दाड़ी रखना आदि। अतः धर्म और रिलिजन को एक समझना भारी भूल है।

इहलौकिकवाद अर्थात सैक्यूलेरिज्म

सैक्यूलेरिज्म तथा मानववाद आधुनिक काल की सबसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रचलित अवधारणाओं में से है। इसलिये ही इस अवधारणा का प्रयोग दार्शनिक वांग्डमय की अपेक्षा व्यावहारिक, सामाजिक और राजनीतिक सन्दर्भों में अधिक होता है। 1851 ई. में जार्ज जैकब होलियॉक द्वारा प्रवर्तित मूलतः इस इहलौकिकवादी विचारधारा की अब तक अनेक विचारकों ने अपने–अपने दृष्टिकोणों के अनुरुप अनेक रूपों में व्याख्या कर दी है।

साधारण रूप में धर्मनिरपेक्षता शब्द के लिये अंग्रेजी में प्रयुक्त शब्द सैक्यूलेरिज्म (Secularism), जिसे लैटिन शब्द ''Seculam'' से बना है उसका मूल अर्थ है–यह जगत्। इस दृष्टि से सैक्यूलेरिज्म का वास्तविक अर्थ है–इहलौकिकतावाद। इस अवधारणा के मूल प्रवर्त्तक ''जार्ज जैकब होलियॉक'' ने जब यह शब्द रचा था, तो सोच समझ कर ही इसका नामकरण किया होगा। उन्होंने इसे अनीश्वरवाद (Atheism), भौतिकवाद (Materialism), प्रत्यक्षवाद (Positivism), अथवा समाजवाद (Socialism) बताया, जिससे यह अवधारणा पृथक अर्थ में स्पष्ट हो सकी । होलियॉक ने सदैव सैक्यूलेरिज्म अर्थात इहलौकिकवाद को सदैव अनीश्वरवाद से भिन्न माना। उनके अनुसार अनीश्वरवादी व्यक्ति न तो ईश्वरवादी होता है और न ही अनीश्वरवादी, वह तो स्वयं को इस दोनो से तदस्थ रह कर इस लोक के ज्ञान–कर्म पर केन्द्रित रहता है। यह धार्मिक एवं पारलौकित विवादों से तदस्थ रहने की विधा है, जिसे व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में अपनाने हेतु दिशा प्राप्त होती है।

भारत में आने पर यह सैक्यूलेरिज्य अथवा इहलौकिकवाद शब्द संवैधानिक रूप में पंथनिरपेक्षवाद और व्यवहार में धर्मनिरपेक्षवाद के रूप में प्रचलित होने लगा और धर्मनिरपेक्षवाद को सर्वधर्म–समभाव के रूप में व्याख्यायित कर लिया। यह भारतीय सांस्कृतिक वैचारिक दृष्टि है कि किस प्रकार एक तटस्थ अवधारणा ''इहलौकिकवाद'' ने पश्चिम में निषेधात्मक ''अनिश्वरवाद'' और पूर्व यानि भारत मे भावात्मक प्रसार पाया। इहलौकिकवाद से पंथनिरपेक्षवाद तक की यात्रा मात्र एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवादित शब्द अन्वेषण के प्रयास ही नहीं है, बल्कि इसके पीछे डेढ़ सौ वर्षों के मानव चिन्तन का विकास है। इहलौकिकवाद अब मानवतावाद का पर्याय बन रहा है। इसे धारणा के स्थान पर जीवन शैली कहें तो अनुचित न होगा। प्रो फ्लिंट ने इसे ''जीवन सिद्धान्त'' ही कहा है।

हार्वे कोक्स ने अपनी पुस्तक द सैक्यूलर सिटी में इहलौकिकता की छः विशेषताएं बताई है, उसमें यह तथ्य परीलक्षित होता है–

लौकिक दृष्टि (Profanitly)– विश्व एवं समाज के प्रति लौकिक एवं तार्किक दृष्टिकोण।

उपयोगितावाद या व्यवहारवाद (Pragmatiism)– आदर्शों में कार्यों के प्रति उपयोगितावादी एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण।

अनेकवाद (Pluralism)– विभिन्न संस्कृतियों का सह अस्तित्व, विभिन्न मतों को अभिव्यक्त व स्वीकार करने की स्वतंत्रता।

सहिष्णुता (Tolerance)– विभिन्न पंथों और मतों के प्रति सहिष्णुता एवं समभाव

अनामत्व (Anonymity)– सामान्य व्यवहार में नाम, जाति, पंथ का भेद एवं तहत्व न होना।

गतिशीलता (Mobility)– समाज के विधानों की गतिशीलता और साधनों की गतिशीलता।

होलियॉक ने इहलौकिकवाद के पांच लक्ष्य निर्धारित किये–

1. अपने आचारों–विचारों को पंथ एवं ईश्वर से पृथक रखना
2. तर्कसंगत नियमों की स्वीकृति
3. आस्था एवं श्रुतिजन्य ज्ञान की उपेक्षा
4. विचार स्वातन्त्रय
5. विश्व को श्रेष्ठ बनाने में सतत् प्रयास

होलियॉक इन्हीं आदर्शों के अनुसार श्रमिकों के अधिकारों के लिये संघर्षरत रहें तथा सहकारिता के भी प्रतिष्ठाता बने। ब्रेडलॉफ ने इन विचारों को प्रतिष्ठित करने के लिये 1866 ई में राष्ट्रीय इहलौकिकवाद संघ का गठन किया। इस प्रकार

इहलौकिकतावाद को पाश्चात्य जगत् में क्रमशः वैचारिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं संवैधानिक स्वीकृति मिलती गई। भारत में सविधान में पंथ निरपेक्षता का विचार इहलौकिकवाद से प्रेरित है।

आज इहलौकिकतावाद और धर्मनिरपेक्षतावाद लगभग पर्यायवाची रूप में स्वीकृत होने लगे है। यद्यपि भारतीय धर्म की अवधारधा के अनुसार धर्म स्वयं में आधार है अतः उससे निरपेक्षता अकल्पनिय है तथापि धर्म को जब पंथ या रिलिजन के रूप में देखते है तो उक्त समानता दिखाई पड़ती है।

भारतीय में सैक्यूलेरिज्म अथवा इहलौकिकवाद, सांस्कृतिक रूप में भारतीय प्राचीन परम्परा का हिस्सा है। भारत में सांस्कृतिक पंथ निरपेक्षता अत्यन्त महत्वपूर्ण है । भारत में धर्म निरपेक्षता, जिसे पंथ निरपेक्षता के अनुरूप यदि माना जाए तो यह अर्वाचीन धारणा है। हमारी धार्मिक एकता, सहिष्णुता, उदारता और समभाव की सतत् परम्परा इसका सुस्पष्ट प्रमाण है। वैदिक काल में विविध देवों की भिन्न–भिन्न ऋषियों द्वारा उपासना वस्तुतः मत–स्वातन्त्रय और पंथ निरपेक्षता का ही सूचक है। हमारी संस्कृति में अनेकता में एकता रही है। विभिन्न दर्शनों का सह–अस्तित्व एवं सहविकास इस बात का सूचक है कि भारत में प्रत्येक मनुष्य को अपने मनोनुकूल धर्म के चयन का पूर्ण स्वातंत्रय था एवं है। भारत में धार्मिक आस्था कभी भी धर्मान्धता, धार्मिक कट्टरता या धार्मिक अंध विश्वास का रूप नहीं ले पाई। हिन्दुओं ने नास्तिक विचार के बुद्ध को अपने दशावतारों में परिणित कर लिया। जैनों ने सभी मतों में सापेक्षतः सत्य का अंश बताया। गुरूग्रंथ साहिब में विभिन्न मतों के संतो के पद्यों को संकलित किया गया है। शक, हूण, कुषाण आदि जातियां भारत में आयी और इस संस्कृति का रस हो गयीं। जब मध्य युग में पाश्चात्य देश पोप के अधीन होकर पूर्णतः धर्मतन्त्रात्मक हो गये थे, तब भी भारत धार्मिक दृष्टि से उदार बना रहा। वास्तव में, भारत में धर्म का सम्प्रदायगत अर्थ बहुत बाद में बाहरी हस्तक्षेपों के बाद रूढ़ हुआ।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति में धर्म का प्रभाव जन्म से लेकर मृत्यु तक रहता है। मनुष्य संस्कारों से आबद्ध रह कर जीवन यापन करता है। धर्म से सदैव सापेक्ष ही रहता है धर्मनिरपेक्ष होना संभव नहीं है परन्तु इहलौकिकतावाद अथवा पंथ निरपेक्षता भारत में सदैव से सांस्कृतिक विचार है। अतः भारत में विभिन्न मत मतावलम्बियों ने इस संस्कृति में अपने वैशिष्टय को समाहित किया है और भारत में पंथ अथवा मत का समभाव रहा है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

1. धर्म शब्द 'धृ' धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है धारण करना।

2 धर्म से तात्पर्य है, वह, जो समस्त विश्व को धारण कर रही है, अर्थात सम्पूर्ण विश्व का मूल आधार और समाज की एकता को मूर्तिमान करने वाला सशक्त माध्यम है। धर्म का अर्थ है ''कर्तव्यपरायणता''।

3 भारतीय परम्परा में धर्म का त्रिविध वर्गीकरण सामान्य धर्म, विशेष धर्म एवं आपद्धर्म

4 अंग्रेजी का शब्द ''रिलिजन'' लेटिन भाषा के ''Religio'' शब्द से व्युत्पन्न माना जाता है। मान्यता यह भी है कि यह शब्द ''Religere'' धातु से निष्पन्न है इसके तीन अर्थ है– एकत्रित करना, चयन करना, और आबद्ध करना

5 प्रायः पश्चिम की अवधारणा अनुरूप रिलिजन, पंथ, मजहब अथवा सम्प्रदाय को सामान्य अर्थ में धर्म के रूप में लिया जाता है, जो कि भारतीय धर्म अवधारणा के अनुरूप नहीं है। कर्म एवं सृष्टि के शाश्वत् नियमों पर आधारित भारतीय धर्म के लिये पश्चिम में वस्तुतः कोई स्पष्ट निरूपण नहीं है।

6 धर्म सबका साझा है। रिलिजन या पंथ अपना अपना है सबका समान नहीं है।

7 साधारण रूप में धर्मनिरपेक्षता शब्द के लिये अंग्रेजी में प्रयुक्त शब्द सैक्यूलरिज्म (Secularism), जिसे लैटिन शब्द '' Seculam'' से बना है उसका मूल अर्थ है–यह जगत्।

8 इहलौकिकवाद अवधारणा के मूल प्रवर्त्तक ''जार्ज जैकब होलियॉक'' है।

9 भारतीय सांस्कृतिक वैचारिक दृष्टि है कि किस प्रकार तटस्थ ''इहलौकिकवाद'' भारत मे भावात्मक प्रसार पाया।

10 भारत में धर्म निरपेक्षता, जिसे पंथ निरपेक्षता के अनुरूप यदि माना जाए तो यह अर्वाचीन धारणा है। हमारी धार्मिक एकता, सहिष्णुता, उदारता और समभाव की सतत् परम्परा इसका सुस्पष्ट प्रमाण है।

अभ्यास के प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 धर्म के दस आदर्शों का उल्लेख किया है?
(अ) मनु ने (ब) व्यास ने (स) कृष्ण ने (द) अर्जुन ने

2 अग्नि का धर्म है ?
(अ) दाहक (ब) शीतलता (स) युद्ध करना (द) कोई नहीं

3 पुद्गल स्वरूप को धर्म सम मानने वाला दर्शन है ?
(अ) बौद्ध (ब) जैन (स) चार्वाक (द) सांख्य

4 अंग्रेजी भाषा के रिलिजन की उत्पति भाषा से हुई है ?
(अ) हिन्दी (ब) फारसी (स) लेटिन (द) जर्मन

5 निम्न में से कौनसा रिलिजन अब्रहामिक श्रेणी का नहीं है ?

(अ) सनातन (ब) इस्लाम (स) मसीही (द) यहूदी

6 इहलौकिकतावाद के प्रवर्त्तक माने जाते है ?

(अ) होलियॉक (ब) प्लेटो (स) हीगल (द) ब्रेडलॉफ

7 राष्ट्रीय इहलौकिकतावाद संघ की स्थापना किसने की ?

(अ) ब्रेडलॉफ (ब) प्लेटो (स) हीगल (द) नेहरू

8 धर्म के त्रिविध वर्गीकरण में निम्न में से नहीं है ?

(अ) समान्य धर्म (ब) विशेष धर्म

(स) आपद्धर्म (द) जीव धर्म

9 होलियॉक के अनुसार इहलौकिकवाद के लक्ष्य कितने है ?

(अ) दो (ब) चार (स) दस (द) पांच

10 बुद्ध को भारत में अवतारों में सम्मिलित किया है ?

(अ) दो अवतारों में (ब) दसावतारों में

(स) एक अवतार में (द) अवतार में सम्मिलित नहीं किया

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1 धर्म शब्द की व्युप्तति किस धातु से हुई है ?

2 ''दी पाथ ऑफ बुद्धा'' पुस्तक क`लेखक कौन है ?

3 मनीषियों ने धर्म के दो भाग कौन कौन से बताये है ?

4 माईकिल डोमीनो के अनुसार ''रिलिजन'' किस सांस्कृतिक क्षेत्र की अवधारणा है ?

5 सामान्य धर्म का तात्पर्य क्या है ?

6 सैक्यूलरिज्म की उत्पति किस भाषा के शब्द से हुई है ?

7 इहलौकिकवाद का भावात्मक स्वरूप किस संस्कृति में सहज ही दिखाई पड़ता है ?

8 सैक्यूलर सिटी पुस्तक के लेखक कौ थे ?

9 किसी ऐसे पंथ का नाम बताये, जो अब्रहमिक समूह का नहीं है ?

10 मनु ने कितने आदर्शों को धर्म का लक्षण बताया है ?

11 धर्म की भारतीय अवधारणानुसार अग्नि का धर्म क्या है ?

12 गीता में भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को युद्ध में किस धर्म की पालना का संदेश दिया था।

13 भारतीय अवधारणा में धर्म के त्रिविध वर्गीकरण को समझाईये।

14 रिलिजन शब्द की व्युत्पति किस भाषा के किस शब्द से हुई है।

15 क्या रिलिजन एवं धर्म दोनो समानार्थी शब्द है ? यदि नहीं तो इनमें क्या अन्तर है स्पष्ट करें।

16 इहलोकिकवाद के प्रवर्तक किसे माना जाता है?

17 इहलोकिकवाद के लक्ष्य स्पष्ट करें।

18 न्यू कालिन्य शब्दकोष के अनुसार धर्म का अर्थ क्या है ?

19 धर्म के दो भाग प्राण एवं कलेवर में कौन परिवर्तनशील है ?

20 धर्म को कर्म मानते हुए उसका त्रिविध वर्गीकरण क्या है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1 धर्म नैतिक आदर्शों का ही पर्याय है इसे सिद्ध करते हुए मनु एवं व्यास के धर्म लक्षणों को उल्लेखित कीजिये ।

2 भारतीय परम्परा अनुसार धर्म के त्रिविध लक्षण बताईये एवं कर्म के आधार पर उनका वर्गीकरण स्पष्ट करें।

3 रिलिजन क्या है ? इसकी उत्पति कैसे हुई ? इसके अर्थ की व्याख्या कीजिये ।

4 भारतीय धर्म अवधारणा पश्चिम के रिलिजन की अवधारणा से कैसे भिन्न है ? स्पष्ट करें।

5 धर्म और पंथ में कोई छह भिन्नताऐ बताईये ।

6 इहलौकिकतावाद का अर्थ अनिश्वरवाद नहीं है । इसे बताते हुए इहलौकिकतावाद की विशेषताऐं बताईये ।

7 होलियॉक द्वारा बताई इहलौकिकवाद की विशेषताएं उल्लेखित कीजिये।

8 रिलिजन की अवधारणा भारतीय नहीं है ? इसे व्यक्त करने के लिये स्वामी रामकृष्ण परमहंस एवं माईकिल डोमिनो की परिभाषाऐं लिखिये।

9 सैक्यूलरिज्म शब्द उत्पति कैसे हुई ? यह अनिश्वरवाद से कैसे पृथक है समझाईये ।

10 भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में इहलौकिकतावाद अथवा सैक्यूलरिज्म भारतीय परम्परा का हिस्सा है उदाहरण सहित समझाईये।

निबंधात्मक प्रश्न

1 भारतीय धर्म की अवधारणा नैतिकता एवं कर्म पर आधारित है कथन की पुष्टि करते हुए धर्म के अर्थ एवं स्वरूप को स्पष्ट कीजिये।

2 धर्म एवं रिलिजन शब्द पृथक–पृथक है ? रिलिजन की व्याख्या करते हुए, धर्म से इसकी भिन्नता स्पष्ट कीजिये।

3 सैक्यूलरिज्म तथा इहलौकिकतावाद की अवधारणा को अभिव्यक्त कीजिये। होलियॉक द्वारा स्थापित इस सिद्धान्त की विशेषताएं एवं लक्ष्य उल्लेखित कीजिये।

4 भारतीय अवधारणा अनुरूप धर्म से निरपेक्ष होना संभव नहीं है परन्तु भारत में पंथ निरपेक्षता एवं मतों में समभाव सांस्कृतिक परम्परा है। कथन को पुष्ट करने के लिये

उदाहरण सहित व्याख्या कीजिये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न की उत्तर माला

1 (अ)	2 (अ)	3 (ब)	4 (स)	5 (अ)
6 (अ)	7 (अ)	8 (द)	9 (द)	10 (ब)

संदर्भ ग्रंथ

1 धर्म तत्त्व का दर्शन और मर्म– पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय (अखण्ड ज्योति संस्थान, मथूरा)

2 धर्म–दर्शन – डॉ. कृष्णा कांत पाठक(राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल)

3 धर्म–दर्शन– डॉ. रामनारायण व्यास (मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल)

अध्याय–7
हिन्दू, जैन एवं बौद्ध धर्म–पंथ

सभ्यता के आदिम काल से ही विश्व के प्रायः सभी देशों में धर्म की चर्चा होती रही है। मात्र सभ्य ही नहीं बल्कि असभ्य समाजों में भी धर्म के तात्पर्य को ठीक से समझे बिना ही धर्म और उसके कृत्यों का किसी न किसी रूप में प्रचलन रहा है। कई स्थानों पर धर्म के साथ दर्शन भी जुड़ जाता है।

धर्म शब्द की उत्पति धृ नामक धातु से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ है–धारण करना। महाभारत में कहा गया है, 'धियते लोकः अनेन इति धर्मः' अर्थात जो लोक को धारण करे वह धर्म है।' इस प्रकार से धर्म वह है जो सम्पूर्ण समाज को संगठित रखे। भारतीय धर्मग्रन्थों में धर्म और नैतिकता को प्रायः सापेक्ष माना गया है। इसके अतिरिक्त यहा धर्म और कर्म दोनों को समानार्थक भी माना गया है। इसी कारण यह भी कहा जाता है–धर्म ही कर्म है तथा कर्म ही धर्म है।

धर्म शब्द को धर्म दार्शनिकों ने अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया है, इसलिए धर्म की कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं दी जा सकती है। अनेक परिभाषाओं की समीक्षा के पश्चात यही कहा जा सकता है कि धर्म वह सर्वव्यापी अभिवृति है जो अलौकिक आदर्शपूर्ण विषय के प्रति आस्था पर आधारित होती है और जिसके प्रति आत्मबन्धन तथा वचनबद्धता को उपासना तथा समाधि के माध्यम से व्यक्त किया जाता है।

(i) हिन्दू धर्म

हिन्दू धर्म विश्व के प्राचीनतम धर्मों में से एक है, जिसे वैदिक धर्म और सनातन धर्म के रूप में भी जाना जाता है। सनातन धर्म उन्हें कहा जाता है, जो धर्म किसी ऐतिहासिक संस्थापक को स्वीकार न कर स्वयं को अनादि अथवा सनातन मानते हैं। कतिपय विचारकों का मत है कि हिन्दू–धर्म नाम का कोई वास्तविक धर्म नहीं है। यह सामान्य विशेषताओं से युक्त भारतीय संस्कृति का ही द्योतक है। बाहर से आयी हुई धार्मिक परम्पराओं को भारतीय परम्परा से पृथक करने के आशय से ही 'हिन्दू' शब्द का प्रचलन आरम्भ हुआ है। कई प्राचीन अहिन्दू विद्वानों ने सभी भारतीय धर्मों का एक सामान्य धर्म के रूप में वर्णन किया है। आधुनिक युग में भी अनेक हिन्दू विचारकों के अनुसार जैन, बौद्ध, सिख जैसे अनेक धर्म 'हिन्दू–धर्म' के अन्तर्गत् आते हैं। ऐसी मान्यता है कि बौद्ध–जैन आदि सम्प्रदायों की पृथकता हिन्दू धर्म से न होकर वैदिक धर्म से है।

आज जिसे 'हिन्दू–धर्म' के नाम से सम्बोधित किया जाता है, वे अनेक सम्प्रदायों एवम् परम्पराओं के अद्भुद समन्वय का प्रतीक है। हिन्दू धर्म का मुख्य स्रोत वैदिक परम्परा ही है, तथापि अवैदिक परम्पराओं ने भी इसके विकास में अपना योगदान दिया है। हिन्दू धर्म के क्रमिक विकास को क्रमशः वैदिक युग, आचार्य युग, सन्त युग एवम् आधुनिक युग का नाम दिया जा सकता है।

हिन्दू धर्म साहित्य–हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्त वेदों पर आश्रित है। वेद अपौरूषेय एवम् अनादि है, जिनका कोई रचयिता नहीं है। वेदों को सनातन माना जाता है क्योंकि वे किसी देश–काल में उत्पन्न नहीं हुए है।

हिन्दू धर्म–ग्रन्थों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग में श्रुतियाँ एवम् स्मृतियाँ हैं, जिन्हें हिन्दू धर्म का मूल आधार माना जाता है। चारों वेद, उपनिषद् एवम् श्रीमद्भगवद्गीता श्रुति के अन्तर्गत् सम्मिलित है। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि धर्मग्रन्थ स्मृतियों में सम्मिलित हैं। दूसरे धर्मग्रन्थ महाकाव्य, पुराण एवम् आगम हैं, जिनके अन्तर्गत् रामायण तथा महाभारत जैसे महाकाव्य, अनेक पुराण एवम् आगम आते हैं। तीसरे प्रकार के धर्म ग्रन्थ वे हैं जो विभिन्न आचार्यों के द्वारा श्रुति, स्मृतिया महाकाव्य एवं पुराण पर लिखे गये उपग्रन्थ, टीकाएं एवं व्याख्याएं हैं। श्रुति का सार स्मृतियों में संयोजित है। महाकाव्य तथा पुराणादि में गाथाओं, आख्यायिकाओं आदि के माध्यम से धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। उपग्रन्थों और व्याख्याओं में धर्म ग्रन्थों के अर्थ का निरूपण एवम् स्पष्टीकरण किया गया है।

वेद चार है – (1) ऋग्वेद, (2) यजुर्वेद, (3) सामवेद, (4) अथर्ववेद। ऋग्वेद में उन मन्त्रों का संग्रह है, जो देवताओं की स्तुति के निमित गाये जाते थे। यजुर्वेद में यज्ञ की विधियों का वर्णन है। सामवेद संगीत प्रधान है। अथर्ववेद में जादू, टोना, मन्त्र–तन्त्र निहित है। प्रत्येक वेद के तीन अंग है। वे हैं – मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद्।

मन्त्रों के संकलन को संहिता कहा जाता है। ब्राह्मण में कर्मकाण्ड की मीमांसा हुई है। यज्ञ, हवन, वर्ण, आश्रम आदि का विधान ब्राह्मण में निहित है। वेदों का अन्तिम भाग जिसमें दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन है उन्हे ही उपनिषद कहा जाता है। वेदों का अन्तिम भाग होने के कारण ही इन्हे वेदान्त कहा जाता है।

हिन्दू धर्म का विकास–वैदिक युग का विकास तीन महत्त्वपूर्ण अवस्थाओं में देखा जाता है, जिन्हें क्रमशः संहिताकाल, ब्राह्मण काल एवम् आरण्यक काल कहा जाता है।

संहिताकाल में वैदिक ऋषियों को विशिष्ट धार्मिक अनुभूति की अवस्था में वैदिक सत्यों का साक्षात्कार हुआ। ब्राह्मण काल में संहिताओं का कर्मकाण्ड की दृष्टि से विवेचन किया गया है। आरण्यक काल चिन्तनात्मक एवम् मनात्मक है, जिनमें वैदिक मान्यताओं का दार्शनिक विश्लेषण किया गया है। प्रमुख उपनिषदों की रचना भी इसी काल में हुई। वैदिक चिन्तन की पराकाष्ठा होने के कारण इन्हें 'वेदान्त' कहा जाने लगा। 'वेदान्त' उत्तरकालीन भारतीय धर्म एवम् दर्शन का मूल स्रोत है। तार्किक विधि प्रधान होने के कारण इसमें समस्याओं का समाधान नैतिक अथवा धार्मिक न होकर मुख्यतः बौद्धिक है। इस काल में प्रारम्भिक बहुदेव का स्थान अद्वैतवाद ले लेता है तथा कर्मकाण्ड के स्थान पर आध्यात्मवाद प्रधान हो जाता है। महर्षि बादरायण 'व्यास' ने ब्रह्मसूत्र की रचना करके 'वेदान्त' का प्रतिपादन किया है।

आचार्यकाल के अन्तर्गत् विभिन्न आचार्यों ने वेदान्त की अपने–अपने दृष्टिकोण से व्याख्या की है। आचार्य शंकर ने अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत् मायावाद का प्रतिपादन करके उपनिषदों की व्याख्या की है। उन्होंने ब्रह्म की एकमात्र सत्ता की प्रतिष्ठा एवम् द्वैत का पूर्ण निषेध किया है तथा नाना प्रपंचात्मक जड़ जगत को मिथ्या माना है। आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित 'वेदान्त' को सर्वाधिक मान्यता एवम् प्रतिष्ठा प्राप्त हुई तथा इसे वैदिक धर्म का पर्याय माना जाने लगा। कालान्तर में रामानुज, माधव, वल्लभ, निम्बार्क आदि आचार्यों ने पृथक–पृथक वेदान्त की व्याख्या की।

हिन्दू धर्म के विकास–क्रम में भक्तिकाल का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसका जन्म एक प्रकार से अद्वैत वेदान्त के प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप हुआ। शुष्क ज्ञानवाद पर आधारित मायावाद के विरूद्ध मध्यकालीन भारत में भक्तिवाद की प्रतिष्ठा की गयी। जिस प्रकार आचार्य शंकर ने बौद्धों एवम् जैनियों के वेद–विरोधी दर्शन से वैदिक धर्म की रक्षा की, ठीक उसी प्रकार भक्तिकालीन सन्तों, आचार्यों एवम् प्रचारकों ने इस्लाम धर्म के प्रहारों से हिन्दू धर्म की रक्षा की। हिन्दू धर्म का संरक्षण करने में तुलसी, सूरदास, कबीरदास, मीरां जैसे भक्तों और सन्तों का अमूल्य योगदान रहा है, जिन्होंने हिन्दू धर्म को समृद्ध करते हुए प्रगति–पथ पर अग्रसर किया।

आधुनिक काल में ईसाई मिशनरियों के प्रभाव से हिन्दू धर्म को मुक्त रखने तथा उसे युगानुरूप प्रासंगिक बनाने में राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण, विवेकानन्द, महात्मा गाँधी, तिलक आदि महापुरूषों ने अप्रतिम योगदान दिया। इन्होंने वर्तमान युग में सुधारवादी एवम् प्रगतिवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए हिन्दू धर्म की नवीन व्याख्याएं की। आधुनिक काल में ही प्रो. एस. राधाकृष्णन ने हिन्दू धर्म के सार–तत्त्व का विश्लेषण करके इसे सार्वभौम धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'भ्पदकन अपमू व स्पिमि' में उन्होंने हिन्दू धर्म को जीवन–पद्धति के रूप में निरूपित किया है।

हिन्दू–धर्म की प्रमुख विशेषताएँ–

हिन्दू–धर्म का मूलाधार वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास करना है। ईश्वर, आत्मा या मोक्ष सम्बन्धी किसी अवधारणा में विश्वास करना हिन्दू धर्म की आधारभूत विशेषता नहीं है अपितु वेदों में श्रद्धा रखना तथा उनकी प्रामाणिकता में विश्वास करना हिन्दू धर्म के लिये परम आवश्यक है। सांख्य और मीमांसा जैसे भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते फिर भी इन्हें हिन्दू–धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। दूसरी ओर बौद्ध और जैन, हिन्दू–धर्म से पृथक् इसलिये माने जाते हैं क्योंकि ये वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते। ईश्वर की धारणा, आत्मा की अमरता, सृष्टि सम्बन्धी धारणा, पुनर्जन्म एवम् आवागमन चक्र, कर्मवाद, वर्णाश्रम–विधान आदि हिन्दू धर्म की प्रमुख मान्यताएँ हैं –

1. ईश्वर की स्वीकार्यता– ईश्वर–विचार हिन्दू धर्म का केन्द्र बिन्दु है। हिन्दू धर्म में प्रायः एक ही ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है। आत्मा और जगत ईश्वर पर आधारित है। हिन्दू–धर्म में ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्त्ता और संहारकर्त्ता माना गया है, जिन्हें ब्रह्मा, विष्णु और महेश के रूप में स्वीकार किया गया है। ईश्वर कर्म का नियामक एवम् धर्म का संस्थापक है। अवतारवाद में विश्वास इस धर्म का विशिष्ट लक्षण है। ऐसा माना गया है कि जब पृथ्वी पर धर्म का नाश होने लगता है तो ईश्वर का पृथ्वी पर अवतार होता है जो विश्व में व्याप्त अधर्म एवम् पाप का संहार करते हैं तथा धर्म की रक्षा करते हैं। राम, कृष्ण, परशुराम आदि अवतार के रूप में स्वीकार किये गये हैं।

हिन्दू–धर्म में ईश्वर को विश्वव्यापी एवम् विश्वातीत दोनों माना गया है। ईश्वर इस विश्व में व्याप्त रहने के कारण विश्व का उपादान कारण है। इसी प्रकार विश्व से अलग रहने के कारण विश्व का निमित्त कारण भी है। ईश्वर को पूर्ण, सर्वशक्तिमान, पूर्ण स्वतन्त्र और पूर्ण सर्वज्ञ माना गया है। हिन्दू धर्म में ईश्वर को अनन्त गुणों से युक्त माना गया है, जिनमें से छः गुण अत्यधिक प्रधान हैं–आधिपत्य (Majesty), वीर्य (Almighty), यश (Allglorious), श्री (Infinitely beautiful), ज्ञान (Knowledge) एवम् वैराग्य (Detachment)। हिन्दू धर्म में ईश्वर को नैतिक व्यवस्थापक (Moral governor) कहा गया है, जो हमारे शुभ तथा अशुभ कर्मो का निर्णय करता है तथा सुख एवम् दुःख प्रदान करता है। हिन्दू–धर्म में ईश्वर को दयालु और कृपालु माना गया है जो अपने भक्तों का उद्धार करता है और धार्मिक आत्माओं की रक्षा करता है।

2. आत्मा–विचार– वैदिक परम्परा में आत्मवाद का विशिष्ट स्थान है। प्रायः सभी हिन्दू सम्प्रदाय आत्मा की नित्यता, व्यापकता और आध्यामिकता में विश्वास करते हैं। हिन्दू धर्म में आत्मा को चेतन द्रव्य माना गया है जो नित्य एवम् शाश्वत है। इसे अजर, अमर, अनादि और अनन्त माना गया है।आत्मा को शरीर से पृथक् आध्यात्मिक तत्त्व माना जाता है। आत्मा को शरीर, मन, बुद्धि एवम इन्द्रियों से पृथक् माना गया है। आत्मा स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि शरीरों के आवरण में स्थित रहती है। आत्मा को जीवात्मा कहा गया है, जो परमात्मा से भिन्न है।

जीवात्मा तथा परमात्मा में भेद–ईश्वर अर्थात परमात्मा का ज्ञान नित्य है, परन्तु जीवात्मा का ज्ञान अनित्य, आंशिक एवम् सीमित है। ईश्वर पूर्ण है, जीवात्मा अपूर्ण है।

जीवात्मा के भेद–जीव या जीवात्मा के दो भेद किये गये है–नित्य जीव तथा बद्ध जीव। नित्य जीव वे हैं जो निरन्तर मुक्त रहे हैं तथा कभी भी बन्धन ग्रस्त नहीं थे। मुक्त जीव वे हें जो कभी बन्धनग्रस्त थे परन्तु अब मुक्त हो गये हैं। बद्ध जीव वे हैं जो बन्धनग्रस्त हैं।

जीवात्मा के शरीर–जीवात्मा शरीर में स्थित आत्मा है।जीवात्मा को इस शरीर की प्राप्ति माता–पिता के माध्यम से अपने कर्मों द्वारा होती है।जीवात्मा के दो प्रकार के शरीर होते है–सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर। सूक्ष्म–शरीर में पाप–पुण्य का संचय होता है, मृत्यु के पश्चात् जीव इसी शरीर के माध्यम से स्थूल शरीर के बाहर जाता है। स्थूल शरीर अन्य शरीरों का कारण है। यह अविद्या द्वारा निर्मित है। वस्तुतः शरीर से संयोग होना ही बन्धन है और शरीर से स्वतन्त्र होना ही मुक्ति है। आत्मा का ज्ञान, इच्छा, क्रियाशीलता, सुख, दुःख आदि निवास करते हैं।

जीवात्मा की अवस्थाएँ–हिन्दू धर्म में जीवात्मा की चार अवस्थाएँ मानी गयी है–

- **जागृत अवस्था**– इसमें जीवात्मा के ज्ञान का विषय भौतिक पदार्थ होते हैं। इसी कारण इसे वैश्वानर कहते हैं।
- **स्वप्न अवस्था**– इसमें जीवात्मा के ज्ञान का विषय आन्तरिक अनुभव होते हैं। जैसे सुख–दुःख आदि। इसे तेजस कहते हैं।
- **सुषुप्ति अवस्था**– इसमें ज्ञान का विषय आनन्द होता है। इसी कारण इसे प्राज्ञ कहते हैं।
- **तुरीयावस्था**– इस अवस्था में जीवात्मा यह ज्ञान प्राप्त कर लेती है कि वह और ब्रह्म दोनों एक ही हैं, जिसे इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति हो जाये वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसे ब्रह्म कहते हैं और यह ही जीवात्मा की सर्वश्रेष्ठ अवस्था है।

जीवात्मा के कोश–जीवात्मा की चार अवस्थाओं के अतिरिक्त इसके कुल पाँच कोश स्वीकार किये गये हैं –

- **अन्नमय कोश**– कुछ लोग भोजन से निर्मित इस शरीर को ही आत्मा समझते हैं।
- **प्राणमय कोश**– आत्मा का दूसरा रूप शरीर में स्थित प्राणशक्ति है, जिसे प्राणमय कोश कहते हैं।
- **मनोमय कोश**– मन एक आन्तरिक इन्द्रिय है और जब इसे आत्मा समझ लिया जाता है तो इसे मनोमय कोश कहते हैं।
- **विज्ञानमय कोश**– जब बुद्धि को आत्मा समझ लिया जाता है तो इसे विज्ञानमय कोश कहते हैं।
- **आनन्दमय कोश**– यह आत्मा का वास्तविक स्वरूप है जिसमें आत्मा निर्गुण ब्रह्म के समान हो जाती है। अर्थात् सत्–चित्त और आनन्द से युक्त हो जाती है।

3. जगत–विचार– हिन्दू धर्म में युग–सृष्टि अथवा चक्राकार सृष्टि का विचार प्रतिपादित किया गया है। पश्चिमी धर्मों के अनुसार सृष्टि का निर्माण केवल एक ही बार होता है, किन्तु भारतीय मान्यतानुसार ईश्वर निरन्तर सृष्टि एवम् संहार की क्रिया में रत है। सृष्टि को चार युगों में विभाजित किया गया है– सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग एवम् कलियुग। प्रलय भी सामान्य प्रलय एवम् महाप्रलय के रूप में दो प्रकार के होते हैं।

सतयुग धर्म प्रधान युग है परन्तु बाद के युगों में यह क्रमशः क्षीण होने लगता है। कलियुग में धर्म की सर्वथा अवनति हो जाती है तथा अधर्म सर्व व्यापक हो जाता है। ऐसे समय में ईश्वर सृष्टि का संहार कर नवीन सृष्टि करते हैं। जब आसुरी और दानवी शक्तियाँ दैवी शक्तियों पर प्रभुत्व स्थापित कर लेती है और धर्म का विनाश होता है तब पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार होता है तथा वह धर्म की स्थापना करता है।

विश्व का विकास ब्रह्मा से हुआ है तथा ब्रह्माण्ड में सात लोक निहित है– (1) भूर लोक (पृथ्वी) (2) भुवर लोक (आकाश, चाँद, सूर्य, तारे, ग्रह) (3) स्वर लोक (प्रथम स्वर्ग) (4) महर लोक (दूसरा स्वर्ग) (5) ज्ञान लोक (तृतीय स्वर्ग) (6) तपो लोक (चतुर्थ स्वर्ग) (7) सत्य लोक (पंचम् स्वर्ग)। ब्रह्माण्ड के नीचे सात लोक हैं जो अतल, वितल, सुतल, रसातल तथा तल, महातल तथा पाताल कहे जाते हैं।

हिन्दू धर्म में विश्व को ईश्वर की रचना माना गया है तथा ईश्वर को विश्व का उपादान एवम् निमित्त कारण माना गया है। भारतीय दर्शन के कुछ सम्प्रदाय इस धारणा का समर्थन नहीं करते। नैयायिकों ने परमाणुओं को उपादान कारण तथा ईश्वर को निमित्त कारण माना गया है। इसी प्रकार सांख्य दर्शन में विश्व की उत्पत्ति अचेतन प्रकृति से मानी गयी है। सांख्य ने विश्व की उत्पत्ति में ईश्वर की किसी भूमिका को नहीं स्वीकार किया है। अन्य भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रायः ईश्वर को

विश्व का सृष्टा, पालनकर्त्ता और संहारकर्त्ता माना गया है। हिन्दू धर्म में विश्व को ईश्वर की क्रीड़ा या लीला माना गया है। ईश्वर द्वारा रचित यह विश्व परिवर्तनशील, अनित्य एवम् विनाशशील है।

4. कर्म–सिद्धान्त– हिन्दू–धर्म में यह प्रबल विश्वास किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों के अनुरूप फल भोगता है। कर्म के सिद्धान्त के अनुसार शुभ–कर्मों का फल शुभ तथा अशुभ कर्मों का फल अशुभ होता है। 'कृत–प्रणाश' की धारणा से यह पुष्ट किया गया है कि कर्मों का फल नष्ट नहीं होता है तथा अकृताम्युपगम' के आधार पर यह स्थापित किया गया है कि बिना कर्म किये फल नहीं प्राप्त किया जा सकता है। कर्म के सिद्धान्त के आधार पर हिन्दू–धर्म में कहा गया है कि प्रत्येक मनुष्य का वर्तमान जीवन उसके अतीत जीवन का फल है तथा भविष्य जीवन उसके वर्तमान जीवन के कर्मों का फल होगा। हिन्दू–धर्म में स्थापित कर्म के सिद्धान्त का समर्थन जैन धर्म और बौद्ध धर्म में भी किया गया है। ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म में भी कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन प्राप्त होता है। हिन्दू धर्म में कर्म के तीन रूप माने जा सकते हैं–

- **प्रारब्ध कर्म–** पिछले जन्म के वे कर्म जिनका फल मिलना प्रारम्भ हो गया है।
- **संचित कर्म–** पिछले जन्म के वे कर्म जिनका फल मिलना प्रारम्भ नहीं हुआ है।
- **संचियमान या क्रियमाण कर्म–** वर्तमान जीवन के वे कर्म जिनका फल भविष्य में मिलेगा।

कर्म को ही सांसारिक जीवन एवम् शरीर का कारण माना गया है तथा कर्म के त्याग करने पर ही जीव को अन्तिम मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

5. विश्व की नैतिक एव प्राकृतिक अवस्था का समर्थन– वैदिक धर्म में कर्म सिद्धान्त मूलतः ऋग्वेद में देखने को मिलता है, जिसे 'ऋत्' कहा गया है, जिसका अर्थ है 'जगत की व्यवस्था'। जगत की व्यवस्था के अन्दर नैतिक व्यवस्था समाहित थी। 'ऋत्' की अवधारणा उपनिषदों में कर्मवाद के रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। न्याय–वैशेषिक दर्शन में कर्म के सिद्धान्त को अपूर्व कहा गया है। न्याय–वैशैषिक दर्शन में अदृष्ट का संचालन ईश्वर के अधीन है परन्तु मीमांसा की धारणा है कि कर्म–सिद्धान्त स्वचालित है।

6. पुनर्जन्म का विचार– विश्व के प्राचीन धर्मों की तरह हिन्दू धर्म में भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त को महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया गया है। पुनर्जन्म शब्द का शाब्दिक अर्थ है, फिर से जन्म लेना या पुनः–पुनः जन्म ग्रहण करना। हिन्दू धर्म में जन्म–मृत्यु चक्र या जन्म और मृत्यु की श्रृंखला को स्वीकार किया गया है। हिन्दू–धर्म में पुनर्जन्म की धारणा का पोषण आध्यात्मवाद के माध्यम से किया गया है। हिन्दू–धर्म की मान्यता के अनुसार मृत्यु के समय शरीर त्याग के साथ जीवात्मा का विनाश नहीं होता, अपितु वह अपने कर्मों के अनुसार पुनः शरीर धारण करता है। गीता में कहा गया है कि जिस प्रकार व्यक्ति अपने पुराने वस्त्रों का त्याग करके नये वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा भी मृत्यु के समय पुराने शरीर को त्याग कर नये शरीर को धारण करती है।

हिन्दू धर्म में पुनर्जन्म की धारणा का समर्थन कर्मवाद तथा आत्मा की अमरता के द्वारा किया गया है। कर्मों के फल का एक ही जीवन में न भोग पाने के कारण कर्मों का फल भोगने के लिये जन्म ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है। आत्मा नित्य एवम् अविनाशी होने के कारण एक शरीर से दूसरे शरीर में मृत्योपरान्त प्रविष्ट होती है। हिन्दू धर्म में जीवात्मा को ईश्वर का अंश माना गया है। सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति की भावना रखने के फलस्वरूप आत्मा बन्धन ग्रस्त हो जाती है तथा उसे विभिन्न जन्मों में भटकना पड़ता है। ईश्वर के साथ अपने अभिन्न सम्बन्ध का बोध होते ही आत्मा अमरत्व को प्राप्त कर लेती है, जब तक वह ईश्वर के साथ तादात्म्य सम्बन्ध की सम्बन्ध की स्थापना नहीं कर लेता तब तक उसे जन्म ग्रहण करते रहना आवश्यक होता है।हिन्दू–धर्म में विभिन्न प्रकार के स्थूल शरीरों को माना गया है, जिनसे आत्मा को मोक्ष–प्राप्ति के लिये विचरण करना पड़ता है। ये हैं –

1. **उद्भिज्ज (Plant Organism)–** इस रूप में जीवात्मा को लता एवम् वृक्ष के रूप में विचरण करना पड़ता है।
2. **स्वेदज (Insect Organism)–** इस रूप में जीवात्मा को मच्छर, मक्खी आदि के रूप में निवास करना पड़ता है।
3. **अण्डज (Oviborn Organism)–** इस रूप में जीवात्मा को पक्षियों के रूप में विचरण करना पड़ता है।
4. **जरायुज (Viviborn Organism)–** इस रूप में जीवात्मा जानवरों एवम् मनुष्यों के रूप में विचरण करती है।

उपरोक्त चार प्रकार के स्थूल शरीरों के अतिरिक्त हिन्दू–धर्म में सूक्ष्म शरीर को भी माना गया है। सूक्ष्म शरीर ही स्थूल शरीर के नाश के पश्चात् दूसरे शरीर में प्रविष्ट होता है।

7. पुरुषार्थ–विचार– हिन्दू धर्म के विशिष्ट उल्लेखनीय तत्त्वों में पुरुषार्थ की धारणा भी सम्मिलित है। 'पुरुषार्थ' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है – 'पुरुष' और 'अर्थ' जिसका तात्पर्य है, पुरुष का लक्ष्य। पुरुषार्थ को मनुष्य का लौकिक और पारलौकिक लक्ष्य माना गया है, जिसके चार प्रकार हैं– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन पुरुषार्थो का संक्षिप्त उल्लेख निम्नलिखित अनुसार है–

- **धर्म–**हिन्दू चिन्तन में धर्म को शाश्वत, सामाजिक एवम

नैतिक मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया है।धर्म का तात्पर्य स्वकर्त्तव्यपालन तथा सद्–आचरण से लिया गया है। प्रत्येक आश्रम में व्यक्ति को धर्म के अनुसार आचरण करने पर बल दिया गया है।धर्म आचरण संहिता के रूप में व्यक्ति को सही मार्ग पर ले जाता है।

- **अर्थ–** अर्थ का तात्पर्य केवल धन अथवा सम्पति नहीं है बल्कि उन साधनों को संयुक्त रूप से अर्थ कहा जाता है जिनकी सहायता से हम अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करते है तथा अपना अस्तित्व बनाये रखते है। हिन्दू धर्म में अर्थ को साध्य न मानकर के केवल साधन माना गया है।
- **काम–** तृतीय पुरूषार्थ काम का तात्पर्य केवल भोगवासना ही नहीं है बल्कि इसका तात्पर्य सभी प्रकार की कामनाओं और इच्छाओं से लिया गया है। संकुचित अर्थ में काम का तात्पर्य यौन इच्छाओं की सन्तुष्टि है किन्तु व्यापक अर्थ में काम का तात्पर्य मानव की समस्त प्रकार की कामनाओं तथा इच्छाओं से लिया गया है।
- **मोक्ष–** मोक्ष को जीवन का अन्तिम पुरूषार्थ माना गया है।मोक्ष एकमात्र साध्य पुरूषार्थ है जिसकी प्राप्ति में अन्य तीन प्रकार के साधन पुरूषार्थ अर्थात धर्म, अर्थ और काम सहायक का कार्य करते है। मोक्ष को हिन्दू धर्म में परम निःश्रेयस माना गया है क्योंकि इसे प्राप्त कर लेने से समस्त प्रकार के दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त हो जाती है। हिन्दू धर्म में तीन प्रकार के दुःख माने गये हैं – आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। बन्धन की अवस्था में मनुष्य को उपरोक्त दुःख भोगना पड़ता है जबकि मोक्ष प्राप्त कर लेने से इन दुःखों से छुटकारा मिल जाता है तथा जन्म–मृत्यु के चक्र से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में मोक्ष के स्वरूप और इसकी अवस्थाओं का अलग–अलग प्रकार से उल्लेख प्राप्त होता है। अभावात्मक रूप में इसे अभयम् (Freedom from fear), अजरम् (Freedom from decay and Change), अमृत्युपदम् (Freedom from death) कहा गया है। इसी प्रकार भारतीय दर्शन के कुछ सम्प्रदायों में जीवन मुक्ति और विदेह के बीच भेद किया गया है।

हिन्दू धर्म में मोक्ष–प्राप्ति के लिये चार मार्गों का उल्लेख प्राप्त होता है जो निम्नवत् है– (1) राजयोग (The Path of concentration), (2) ज्ञानयोग (The Path of Knowledge), (3) कर्मयोग (The Path of Action), (4) भक्तियोग (The Path of Devotion)।

8. वर्णाश्रम– हिन्दू–धर्म में वर्णाश्रम व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनुष्यों को चार वर्णों में विभाजित किया गया है– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवम् शूद्र। इन चतुर्वर्णों में ब्राह्मण सर्वोपरि है, इसके बाद क्षत्रियों का स्थान, तदुपरान्त वैश्यों का स्थान और अन्त में शूद्रों का स्थान आता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को उच्च वर्ण माना गया है और इनको ही वेदाध्ययन और यज्ञादि करने का अधिकार प्राप्त होता है। उपनयन संस्कार के समय दीक्षा मिलने पर इन्हें आध्यात्मिक जन्म प्राप्त है, अतः इनको द्विज (दुबारा जन्म प्राप्त करने वाला) भी कहा जाता है। समाज में इन चारों वर्णों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्राह्मण की तुलना मुख से, क्षत्रिय की भुजाओं से, वैश्य की उदर से और शूद्र की तुलना पैरों से की गयी है। सभी वर्णों के सामाजिक कार्य विधिवत् निर्धारित हैं। ब्राह्मण का कार्य विद्या प्राप्त करना और दान करना है। इस प्रकार ब्राह्मण ज्ञान का, क्षत्रिय शक्ति का, वैश्य वाणिज्य का एवम् शूद्र सेवा का प्रतीक माना जाता है। हिन्दू धर्म की परम्परागत मान्यता के अनुसार कोई भी वर्ण उच्च और नीच नहीं है, अपने–अपने कर्मों के अनुसार सभी का समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनेक हिन्दू–धर्म के प्रतिपादकों के अनुसार वर्ण–व्यवस्था जन्मजात न होकर मानव–कर्म अथवा प्रकृति पर आधारित है। जन्म की अपेक्षा यह कर्म की द्योतक है। चार वर्णों के बारे में एक वेद–मन्त्र में कहा गया है कि 'विराट सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर के ये चार अंग हैं। ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय हाथ है, वैश्य जंघायें हैं और शूद्र पैर है। इनमें छोटा–बड़ा कोई नहीं है।' पुराणों में भी कहा गया है कि चारों वर्ण एक ही पिता परमेश्वर की सन्तानें हैं।

यद्यपि हिन्दू धर्म में वर्ण–व्यवस्था को माना गया है फिर भी इसे कट्टरता के साथ नहीं माना गया है। विशेष परिस्थितियों में व्यक्ति तथा समूह अपने सामाजिक वर्ण में परिवर्तन कर सकते हैं। हिन्दू धर्म में जो वर्ण–विभाजन किया गया है, उसके मूल में समाज के कल्याण की भावना निहित है। सामाजिक विकास के लिये आवश्यक है कि सभी वर्ण सहयोग से काम करें। इसी प्रकार समाज–कल्याण के अतिरिक्त वर्ण–विभाजन के मूल में श्रम–विभाजन की भावना भी अन्तर्भूत थी। वस्तुतः देखा जाये तो चतुर्वर्ण की योजना लोकतान्त्रिक है। यह सभी मनुष्यों की आध्यात्मिक समानता पर बल देती है। यह मूलतः वैयक्तिकता का प्रतिपादन करती है, जिसकी रक्षा स्वेच्छा से उत्तरदायित्वों को स्वीकार करने से होती है। वर्ण–विभाजन यह भी निर्दिष्ट करती है कि सभी काम सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से समान महत्त्वपूर्ण है।

हिन्दू–धर्म में जीवन के पूर्ण प्रसार को चार भागों में बाँटा गया है। इन्हें ही चार आश्रमों के रूप में अभिहित किया गया है। मानव जीवन का प्रथम काल ब्रह्मचर्य, द्वितीय गृहस्थ, तृतीय वानप्रस्थ तथा चतुर्थ संन्यास कहा जाता है। ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवम् आध्यात्मिक विकास

करता है, विद्या एवम् गुण अर्जन के लिये उसे अनुशासित जीवन यापन करना पड़ता है। इसके पश्चात् गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने पर वह पारिवारिक जीवन व्यतीत करता है और सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करता है। तीसरी अवस्था में व्यक्ति वानप्रस्थ में प्रवेश करता है, जिसमें वह आध्यात्मिक चिन्तन की ओर अग्रसर होता है। चतुर्थ एवम् अन्तिम आश्रम सन्यासाश्रम में व्यक्ति सांसारिक सम्बन्धों से पूर्ण सन्यास लेकर सन्यासी जीवन व्यतीत करता है। मनुष्य की चार अवस्थाओं को देखने से पता चलता है कि प्रथम दो अवस्थाओं में प्रवृत्ति का निर्माण होता है और अन्तिम दो अवस्थाओं में निवृत्ति का निर्माण होता है। इन आश्रमों का उद्देश्य आध्यात्मिक विकास की भावना और जीवन को सुव्यवस्थित रखने की भावना थी।

9. पंच महायज्ञ– हिन्दू धर्म प्रत्येक गृहस्थ का पॉच प्रकार की हिंसा से बवने के लिए प्रतिदिन पंचमहायज्ञों का आयोजन करने का निर्देश दिया गया है जो कि निम्नलिखित अनुसार है–

- **ब्रह्मयज्ञ–** वैदिक साहित्य का अध्ययन करना या स्वाध्याय।
- **देवयज्ञ–** प्राकृतिक शक्तियों में निहित देवताओं की उपासना।
- **भूतयज्ञ–** अन्य प्राणियों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करना।
- **पितृयज्ञ–** अपने पूर्वजों या पितरों के प्रति कर्त्तव्यों का पालन।
- **मनुष्ययज्ञ या नृयज्ञ–** अतिथि के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन।

10 ऋण की अवधारणा– हिन्दू धर्म में प्रत्येक गृहस्थ को पंच महायज्ञों के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के कर्तव्यों के पालन द्वारा त्रिविध ऋणों से मुक्त होने का भी निर्देश दिया गया है जिनका वर्णन निम्नलिखित अनुसार है–

- **पितृऋण–** अपने पूर्वजों और अपने पितरोकं का तर्पण तथा सन्तानोत्पत्ति द्वारा इस ऋण से मुक्त हुआ जा सकता है।
- **देवऋण–** देवताओं की प्रार्थना और उपासना के माध्यम से देवऋण से मुक्त हुआ जा सकता है।
- **ऋषिऋण–** वैदिक साहित्य के अध्ययन और ऋषि मुनियों में श्रद्धा ऋषिऋण से मुक्त होने का माध्यम है।

उपयुर्क्त सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू धर्म अगणित रूप में हिन्दुओं के सामाजिक जीवन को अनुप्रमाणित करता रहा है। हिन्दू धर्म जन्म से लेकर के मृत्यु तक सामान्यतः प्रत्येक हिन्दू के जीवन को अनेक धार्मिक विश्वासों, विधि संस्कारों, आराधना विधियों और कर्त्तव्य पालन में दृढ आस्था आदि रूपों में प्रभावित करता रहा।

(ii) जैन–धर्म

भारतवर्ष में जैन–धर्म और बौद्ध–धर्म का विकास प्रायः एक साथ ही हुआ। छठी शताब्दी ई.पू. धर्म के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काल था क्योंकि इस काल में जैन धर्म, बौद्ध धर्म, ताओ धर्म, कनफ्यूशियस–धर्म और पारसी धर्म का विकास विश्व के विभिन्न भागों में हुआ। भगवान महावीर, भगवान बुद्ध, लाओत्से, कनफ्यूसियस और जरथुश्त्र लगभग इसी काल में थे। जैन धर्म के अन्तर्गत् चौबीस तीर्थंकरों की एक लम्बी परम्परा का वर्णन प्राप्त होता है। ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे तथा महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे। तीर्थंकर उनहें कहा गया है जिन्होंने अपने प्रयासों से बन्धन से मुक्त होकर कैवल्य प्राप्त कर लिया। तीर्थंकरों को 'जिन' नाम से भी अभिहित किया गया है। 'जिन' शब्द 'जि' धातु से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है 'जीतना' या 'विजय प्राप्त करना'। तीर्थंकरों को जिन इसलिये कहा जाता है क्योंकि इन्होंने काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि पर विजय प्राप्त कर ली है।

इन चौबीस तीर्थंकरों में से भगवान महावीर को जैन धर्म के विकास और प्रचार का मुख्य श्रेय दिया जाता है, जिन्होंने जैन धर्म को पल्लवित, पुष्पित और परिवर्द्धित किया। महावीर बुद्ध के समकालीन थे तथा उनके समान ही राजकुल में पैदा हुये थे और जाति के भी क्षत्रिय थे। 30 वर्ष की आयु में सन्यास धारण करने के बाद बारह वर्षों के कठोर तप के उपरान्त इन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया। ज्ञान प्राप्त करने के बाद राग–द्वेष पर पूर्णतः विजय प्राप्त करने के कारण महावीर (The Great Hero) कहलाये।

जैन–धर्म के सम्प्रदाय– जैन धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त है–दिगम्बर और श्वेताम्बर। दोनों में मूल सिद्धान्तों का भेद नहीं है बल्कि गौण बातों को लेकर ही विभिन्नता है।दिगम्बरों का विचार है कि सन्यासियों को नग्न रहना चाहिए।किसी भी वस्तु का संग्रह करना दिगम्बर के अनुसार वर्जित है।स्त्रियों को मोक्ष प्राप्त करने के योग्य दिगम्बर नहीं मानता है।श्वेताम्बर में इतनी कट्टरता नहीं पायी जाती है।वे श्वेत वस्त्र धारण करने पर बल देते है।

जैन धर्म की प्रमुख विशेषताएँ तथा सिद्धान्त–जैन धर्म तथा दर्शन द्वारा अनेक मौलिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया जिनमें निम्नलिखित महत्वपूर्ण है–

1. जैन धर्म की तत्व मीमांसा– जैन धर्म के अनुसार जीव बन्धन से मोक्ष की में जिन मार्गो से गुजरता है उन्हें तत्व कहा जा सकता है। जैन धर्म सात तत्वों के माध्यम से मोक्ष तक की अवस्था को निम्नलिखित क्रम में समझाता है।

- **जीव–**जैन धर्म में वर्णित चेतना युक्त आत्म तत्व जीव है।

चेतन सत्ता और आत्मा को जैन जीव कहते हैं। जैन धर्म में जीव को अनंत चतुष्ट्य से युक्त माना गया है। अनंत चतुष्ट्य में अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत आनन्द और अनंत शक्ति शामिल है। चैतन्य जीव में सदैव विद्यमान रहता हैं जो जीव संसार से मुक्त हो चुके हैं, जैन उन्हें मुक्तजीव कहते हैं और जो जीव संसार में भटक रहे हैं, उन्हें बद्ध जीव कहते हैं। बद्धजीव दो भागों में बँटे हुए हैं –

- **स्थावर**– जो हित और अहित की प्रवृत्ति से रहित होकर कार्य करे और जो एक इन्द्रिय से युक्त हो वे स्थावर है। जैसे – वनस्पति, जल आदि।
- **त्रस**– जो हित–अहित की भावना से युक्त होकर कार्य करें और जो 2 से 5 इन्द्रियों से युक्त हो, वे त्रस हैं। इसमें चींटी से मनुष्य तक सभी जीव आ जाते हैं।

- **अजीव**– जैन धर्म में वर्णित जड जगत को प्रकट करने वाला तत्व। जो चेतना से रहित हो, उसे अजीव कहते हैं। अन्य दर्शनों में इसे जड़ कहा गया है। इसके निम्नलिखित पाँच भेद है –
  - **धर्म**– जो गति में सहायक हो, उसे धर्म कहते हैं। यह न तो स्वयं कियाशील है और न ही किया का उत्पादक है किन्तु अन्य कियाशील पुदगलों की गति में सहायक होता है।
  - **अधर्म**– जो स्थिति में सहायक हो, उसे अधर्म कहते हैं। इस प्रकार यह द्रव्यों कें स्थिर रहने में सहायक होता है। यह किसी चलती हुई वस्तु को रोक तो नहीं सकता किन्तु उसके विश्राम में सहायक होता है। उदाहरण के लिए वृक्ष की छाया पथिक को रोक तो नहीं सकती किन्तु उसके विश्राम में सहायक अवश्य हो सकती है।
  - **आकाश**– जो अन्य द्रव्यों को स्थान प्रदान करे, वह आकाश है। आकाश के कारण ही अस्तिकाय द्रव्यों को कोई न कोई स्थान प्राप्त होता है। जीव, पुदगल, धर्म, अधर्म आदि आकाश में ही स्थित होते है। आकाश के बिना अस्तिकाय द्रव्यों की स्थिति सम्भव नहीं है। आकाश के जिस क्षेत्र तक द्रव्य पाये जाये, उसे लोकाकाश कहते हैं और जिस क्षेत्र में द्रव्य का प्रवेश वर्जित है, उसे अलोकाकाश कहते हैं।
  - **पुदगल**– यह एकमात्र द्रव्य है, जो दिखाई देता है इसलिये इसे रूपी द्रव्य कहते हैं। पुदगल वह है जिसे जोड़ा और तोड़ा जा सके अर्थात् जिसका पूरण और गलन हो सके, वही पुदगल है। पुदगल का सबसे छोटा भाग अणु कहलाता है और अणुओं का योग 'स्कन्ध' कहलाता है।
  - **काल (अनस्तिकाय अजीव द्रव्य)**– जिसके कारण अन्य द्रव्यों में परिवर्तन होते हैं, वही काल है।काल नित्य है तथा अन्य द्रव्यों के परिणामों का कारण है। काल को दो भागों में बाँटा गया है –(अ) व्यावहारिक (ब) पारमार्थिक

- **आस्त्रव**– कर्म परमाणुओं का जीव की ओर प्रवाहित होना ही आस्त्रव कहलाता है।आस्त्रव दो प्रकार को होता है–भावास्त्रव तथा द्रव्यास्त्रव।जीव का किसी कार्य को करने का संकल्प करना भावास्त्रव कहलाता है और जब ऐसे संकल्प के परिणामस्वरूप तत्काल ही कोई कार्य कर लिया जाता है तो इसे द्रव्यास्त्रव कहते है।
- **बन्धन**– कर्म परमाणुओं का जीव में प्रविष्ट हो जाना ही बन्धन है। जिसके दो भेद हैं– भाव बन्धन और द्रव्य बन्धन। वह मानसिक स्थिति जो कर्मो के जीव में प्रवेश का कारण है भावबन्ध कहलाती है। कर्मो द्वारा जीव के वास्तविक बन्धन को ही द्रव्य बन्ध कहा जाता हैं। इसके अतिरिक्त जैन दर्शन में बन्धन के निम्नलिखित भेद और स्वीकार किए गए है–
- **प्रकृति बन्ध**– जीवों को बांधने वाले कर्मो की प्रकृति कौनसी है? इस आधार पर जीव का प्रकृति बन्ध निर्धारित होता है।क्या वे घातीय कर्म या अघातीय कर्म जिनसे वह बन्धा हुआ है? यही प्रकृति बन्ध के निर्धारण का आधार है।
- **स्थिति बन्ध**– कर्मो ने कितने समय के लिए जीव को बांध रखा है? इस आधार पर जीव के स्थिति बन्ध का निर्धारण होता है।
- **अनुभाग बन्ध**–कर्मा ने जीव को जिस दृढता या तीव्रता से बॉध रखा है वे उसका अनुभाग बन्ध निर्धारित करते है।
- **प्रदेश बन्ध**–कर्म जीव के कितने हिस्से को बॉधते है उससे जीव का प्रदेश बनध निर्धारित होता है।

जैन धर्म के अनुसार बन्धन के निम्नलिखित कारण स्वीकार किए गए है–

- **मिथ्यात्व**– अयथार्थ को यथार्थ समझ लेना।
- **अविरति**– असंयमित जीवन प्रणाली।
- **प्रमाद**– समय का दुरूपयोग।
- **कषाय**– मान, मोह, क्रोध व लोभ से प्रेरित होकर कार्य करना।
- **योग**–जैन शब्दावली में योग का अर्थ क्रिया है जो तीन प्रकार की होती है–मानसिक, वाचिक व शारीरिक।
- **संवर**– नवीन कर्म परमाणुओं के आत्मा की ओर हो रहे प्रवाह को रोकना अर्थात् नये कार्यों को रोकना ही संवर है। आस्त्रव तथा बन्धन के समान संवर के भी दो भेद है–भाव संवर तथा द्रव्य संवर। गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह और चरित्र ये छह उपाय है जिनके

माध्यम से नए कर्म पुदगलों का आत्मा में प्रवेश रूक जाता है।

- **निर्जरा**— जो कर्म परमाणु आत्मा में प्रविष्ट हो गये हैं, उन्हें तप और योग के माध्यम से नष्ट करना ही निर्जरा है।इस प्रकार बन्धन तथा निर्जरा परस्पर एक—दूसरे के विरोधी है क्योकि जहॉ आत्मा के साथ कर्म पुदगलों का सम्बन्ध होना बन्धन है वही इसके विपरीत आत्मा से कर्मवर्गणा का अलग होना निर्जरा है।जैन धर्म में निर्जरा के दो भेद—भाव तथा द्रव्य निर्जरा स्वीकार किए गए है।
- **मोक्ष**— जब किसी जीव में नये कर्मो का का आस्त्रव रूक जाता है तथा पुराने कर्मो का निर्जरा द्वारा अन्त हो जाता है तो जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।संवर व निर्जरा दोनों का योग ही मोक्ष कहलाता है, जिसमें जीव पुनः अनन्तचतुष्टय से युक्त हो जाता है। इस अवस्था में मृत्यु होने पर उसका पुनर्जन्म नहीं होता है।

उमा स्वामी के अनुसार ऐसा साधक जिसके चार प्रकार के घातीय कर्मो का नाश हो जाता है,केवल ज्ञान या सर्वज्ञता प्राप्त कर लेता है ऐसे साधक को केवली कहते है।उसके शेष चार अघातीय कर्मो का नाश होने पर उसे मुक्त कहते है।इस प्रकार जैन धर्म में केवली की धारणा सांख्य और अद्वैत वेदान्त के जीवनमुक्त के तथा मुक्ति की धारणा उनके विदेह मुक्ति के सिद्वान्त के निकट है।

जैन धर्म के अनुसार इस मोक्ष अवस्था में तत्क्षण तीन घटनाऍ एक साथ घटित होती है—जीव का शरीर से विच्छेद हो जाना,विच्छेदित होकर के उर्ध्वगमन करना और लौकिक आकाश में सर्वोच्च शिखर पर पहुॅच जाना जिसे जैन धर्म में सिद्धशिला कहा गया है। यह मुक्त जीवों का प्रदेश है। मुक्त जीव इससे उपर नहीं जा सकते है क्योंकि इससे ऊपर गति सम्भव नहीं है।

जैन धर्म के अनुसार संसारी जीव को मोक्ष तक पहुँचने के लिए चौदह सोपानों की एक सीढी है। आध्यात्मिक विकास के इन चौदह सोपानों को गुणस्थान कहते है।

जैन धर्म में मोक्ष की प्राप्ति हेतु कुल तीन प्रकार के उपाय बताये गये है जिन्हें संयुक्त रूप से त्रिरत्न कहते है।इन त्रिरत्नों का विस्तृत उल्लेख निम्नलिखित अनुसार है—

- **सम्यक दर्शन**— जैन तीर्थंकरों में और जैन साहित्य अर्थात् 'आगम' में श्रद्धा रखना ही सम्यक दर्शन है। जैन दर्शन के अनुसार सत्य के प्रति श्रद्धा की भावना को रखना सम्यक् दर्शन कहा जाता है अर्थात् यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा का होना ही सम्यक् दर्शन कहलाता है।सम्यक दर्शन का अर्थ अन्धविश्वास एवॅ रूढिवादिता नहीं है बल्कि यह तो बौद्धिक विश्वास है।
- **सम्यक ज्ञान**— जीव और अजीव के भेद को जान पाना ही सम्यक ज्ञान है। जीव और अजीव के अन्तर को न समझने के कारण ही बन्धन का प्रादुर्भाव होता है तथा इससे दूर रहने के लिए ज्ञान का होना आवश्यक है। यह ज्ञान संशयरहित तथा दोषरहित होता है। सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति में कुछ कर्म बाधक होते है जिन्हें नष्ट करना अनिवार्य है। कर्मों के पूर्ण विनाश के पश्चात ही सम्यक ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।
- **सम्यक चरित्र**— नैतिक कार्यो को करना और अनैतिक कार्यो से बचना ही सम्यक चरित्र कहलाता है। सम्यक चरित्र के द्वारा जीव अपने कर्मो से मुक्त हो सकता है क्योकि कर्म ही बन्धन एवॅ कष्ट का मूल कारण है। सम्यक् चरित्र के पालन से जीव अपने कर्मो से मुक्त हो जाता है। सम्यक चरित्र में निम्नलिखित शामिल है—
  - **पंचमहाव्रत**— सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य जैसे नैतिकता पूर्ण व्यवहारों को जैन दर्शन में संयुक्त रूप से पंच महाव्रत कहा गया है जिन्हें कि बौद्ध दर्शन में पंचशील नाम दिया गया है।
  - **समिति**— इसका अर्थ होता है— साधारण सावधानी। जैन 5 समितियाँ स्वीकार करते हैं —
    - **ईर्या समिति**— चलने—फिरने के नियमों का पालन करना ताकि जीव हिंसा न हो।
    - **भाषा समिति**— बोलने के नियमों का पालन करना और केवल कल्याणकारी वचन ही बोलना।
    - **एषणा समिति**— भिक्षा मॉंगने के नियमों का पालन करना।
    - **आदान—निक्षेपण समिति**— इस समिति का अर्थ है — भिक्षा में से जन—कल्याण के लिये कुछ भाग बचाकर रखना।
    - **उत्सर्जन समिति**— शून्य स्थानों पर मल—मूत्र का विसर्जन।
  - **गुप्ति**— विभिन्न प्रकार के क्रियाकलापों से स्वयं को बचाना और संयम रखना ही गुप्ति है। इसके तीन प्रकार है—

    मनोगुप्ति— मन का संयम।

    वाक्गुप्ति— वाणी का संयम।

    कायगुप्ति— शरीर का संयम।

बारह अनुप्रेक्षाएँ— अनुप्रेक्षा का अर्थ होता है— जिसका बार—बार चिन्तन किया जाये। जैन दर्शन ऐसे 12 कथन स्वीकारता है, जिन्हें 12 अनुप्रेक्षाएँ कहते हैं। अनुप्रेक्षाऍ निम्नलिखित है—

- **अनित्य**– संसार की अनित्यता का चिन्तन
- **अशरण**– जीवन की असहायता का चिन्तन
- **एकत्व**– जन्म,जरा–मृत्यु में कोई साथी नहीं बनता
- **अन्यत्व**– संसार में अपना कुछ भी नहीं है,ऐसा चिन्तन
- **अशुचि**– शरीर की अपवित्रता का चिन्तन
- **संसार**– संसार के स्वरूप का चिन्तन
- **लोक**– लोक के स्वरूप का चिन्तन
- **आस्त्रव**– बन्धन के कारणों का विचार
- **संवर** के उपायों का चिन्तन
- **निर्जरा**– निर्जरा के साधनों का विचार
- **धर्म**– धर्म के स्वरूप का चिन्तन
- **बोधि**– ज्ञान प्राप्ति के उपायों का विचार

- **परिषह**– जैन दर्शन में जो कर्म पुदगल आत्मा से चिपक जाते हैं, उनका नाश करने के लिये विभिन्न प्रकार के कष्ट सहना आवश्यक बताया गया है, जिन्हें 'परिषह' कहते हैं और इनकी संख्या 22 है।
- **धर्म**– इसके अलावा जैन दार्शनिक 10 धर्मों का पालन भी मोक्ष प्राप्ति के लिये आवश्यक मानते हैं – क्षमा, आर्जव (सरलता), मार्दव (विनम्रता), शौच (पवित्रता), सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिन्चन्य (निर्लोभता), ब्रह्मचर्य।

त्रिरत्नों के पालन से मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इनके पालन से कर्मो का आस्त्रव बन्द हो जाता है तथा पुराने कर्मो का क्षय हो जाता है।इस प्रकार से जीव अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त कर लेता है। यही मोक्ष है।मोक्ष का अर्थ केवल दु:खों का विनाश मात्र नहीं है बल्कि आत्मा के अनन्त चतुष्ट्य की प्राप्ति भी है।

जैन धर्म का कर्म सिद्धान्त– जैन धर्म में कर्मों को 'पुदगल' या पौदगलिक माना गया है। जिसके आठ भेद है –

1. **ज्ञानवरणीय**– यह आत्मा की ज्ञानात्मक शक्ति को कुण्ठित करता है।
2. **दर्शनावरणीय**– यह आत्मा की आनुभाविक तथा प्रत्यक्षीकरण की शक्ति को कुण्ठित करता है।
3. **मोहनीय**– यह व्यक्ति के यथार्थ दार्शनिक तथा सदाचरण में बाधक होते है। इसके दो भेद है–दर्शन मोह तथा चरित्र मोह।
4. **अन्तराय**– यह व्यक्ति की अभीष्ट उपलब्धियों में बाधा उपस्थित करता है।
5. **वेदनीय**– इसके कारण आत्मा को दु:ख तथा सुख का संवेदन होता है। इसके प्रमुख दो भेद है– सातावेदनीय तथा असातावेदनीय।
6. **आयु**– यह कर्म व्यक्ति के भावी जीवन की योनि तथा आयु का निर्धारण करता है।
7. **नाम कर्म**– यह व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माता है।यही शारीरिक सौन्दर्य और असौन्दर्य के लिए भी उतरदायी है।
8. **गोत्र कर्म**– यह व्यक्ति की जाति तथा कुल का निर्धारण करता है।

इन आठ प्रकार के कर्मो को पुन: दो भागों घातीय तथा अघातीय में बांटा गया है। कर्मों के इस वर्गीकरण में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय इन चार कर्मों को घातीय कर्म माना गया है क्योंकि ये कर्म आत्मा के ज्ञान, दर्शन और शक्ति जैसे स्वाभाविक गुणों का आवरण करते है। ये कर्म आत्मा की स्वभाव दशा को विकृत करते है अत: जीवन मुक्ति में बाधक होते है। इन घातीय कर्मो में अविद्या रूप मोहनीय कर्म ही आवरण क्षमता, तीव्रता और स्थितिकाल की दृष्टि से प्रमुख है।

नाम, गोत्र, आयुष्य तथा वेदनीय इन चार प्रकार के कर्मो को जैन दर्शन अघातीय कर्म मानता है क्योकि ये वे कर्म है जो आत्मा की स्वभाव दशा की उपलब्धि और विकास में बाधक नहीं होते है। अघाती कर्म भुने हुए बीज के समान है, जिसमें नवीन कर्मो की उत्पादन क्षमता नहीं है।

जैन धर्म में कर्म के इन प्रकारों के साथ–साथ कर्मो की विभिन्न अवस्थाओं का भी उल्लेख किया गया है जो निम्नलिखित अनुसार कुल दस है–

1. **बन्ध**– कषाय और योग के फलस्वरूप कर्म परमाणुओं का आत्म प्रदेशों के साथ जो सम्बन्ध होता है उसे ही बन्ध कहा जाता है।
2. **संक्रमण**– कर्म की इस अवस्था में कर्म का एक भेद अपने सजातीय अन्य भेद में बदल जाता है।
3. **उत्कर्षण**– जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार आत्मा नवीन बन्ध करते समय पूर्वबद्ध कर्मो की काल–मर्यादा और तीव्रता को बढा भी सकता है। यही कर्म परमाणुओं की काल मर्यादा और तीव्रता को बढाने की प्रक्रिया उत्कर्षण कहलाती है।
4. **अपवर्तन**– जिस प्रकार से नवीन बन्ध के समय पूर्वबद्ध कर्मो की काल मर्यादा और तीव्रता को बढाया जा सकता है, उसी प्रकार से उसे कम भी किया जा सकता है। यह कम करने की क्रिया ही अपवर्तन कहलाती है।
5. **सत्ता**– कर्मो का बन्ध हो जाने के बाद उनका विपाक भविष्य में किसी समय में होता है। प्रत्येक कर्म अपने सताकाल के समाप्त हो जाने पर फल विपाक दे पाता है। काल मर्यादा परिपक्व न होने के कारण जितने समय तक

कर्मो का आत्मा के साथ सम्बन्ध बना रहता है वह अवस्था सता कही जाती है।

6. **उदय**– जब कर्म अपना फल विपाक देना प्रारम्भ कर देते है तो वह अवस्था उदय कहलाती है। इसके भी दो भेद किए गए है–प्रदेशोदय तथा विपाकोदय। जो कर्म फल की अनुमति कराये बिना ही निर्जरित हो जाते है उनका उदय प्रदेशोदय कहलाता है। जैसे ऑपरेशन में अचेतन अवस्था में शल्य क्रिया की वेदना की अनुभूति नहीं होती है। जो कर्म परमाणु अपनी फलानुभूति करवा आत्मा से निर्जरित होते है, उना उदय विपाकोदय कहलाता है।

7. **उदीरणा**– जिस प्रकार समय के पूर्व कृत्रिम रूप से फल को पकाया जा सकता है उसी प्रकार नियत काल के पूर्व ही प्रयासपूर्वक कर्म को उदय में लाकर कर्म के फलों को भोग लेना उदीरणा कहलाता है।

8. **उपशमन**– कर्मो के विद्यमान रहते हुए भी उनके फल देने की शक्ति को कुछ समय के लिए दबा देने या उन्हे किसी काल विशेष के लिए फल देने में अक्षम बना देना उपशमन कहलाता है।उपशमन में कर्म को ढकी हुई अग्नि के समान बना दिया जाता है।

9. **निधति**– कर्म की उस अवस्था को निधति कहा जाता है जिसमें कर्म न तो अपने अवान्तर भेदों में रूपान्तरित हो सकते है और न अपना फल प्रदान कर सकते है लेकिन कर्मो के समय, मर्यादा और विपाक तथा तीव्रता को कम अथवा अधिक किया जा सकता है अर्थत् इस अवस्था में उत्कर्षण या अपकर्षण सम्भव हो सकता है।

10. **निकाचना**– कर्मो का ऐसे प्रगाढ रूप में बन्धन होना की उसमें किसी प्रकार का परिवर्त्रन सम्भव नहीं होना ही निकाचना कहलाता है।इस प्रकार से निकाचना में कर्म का जिस रूप में बन्धन हुआ होता है,उसी रूप में उसको अनिवार्यतः भोगना पडता है

इसके अतिरिक्त जैन धर्म का अंहिसा विचार भी एक मौलिक विचार है क्योकि जैन धर्म में अंहिसा को संकीर्ण अर्थ में नहीं बल्कि व्यापक रूप में स्वीकार करते हुए इसे जीवन के सभी क्षेत्रों पर समान रूप से लागू किया है।

जैन धर्म का अनीश्वरवाद– जैन धर्म ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते है। इसी कारण इसे अनीश्वरवादी कहा जाता है। जैन धर्म में ईश्वर के अस्तित्व का निराकरण करते हुए कहा गया है कि ईश्वर की कोई आवश्यकता है ही नहीं क्योकि यह संसार नित्य है अतः इसमें किसी सृष्टा रूपी ईश्वर की कोई आवश्यकता है ही नहीं। इसके अतिरिक्त जैन विद्वान अपने कर्म सिद्धान्त के माध्यम से भी इस जगत तथा पुनर्जन्म की व्याख्या कर लेते है। इस प्रकार से जैनों को ईश्वर नामक सता की आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती है।

यद्यपि जैन धर्म में किसी भी जगत सृष्टा के रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की गयी है किन्तु जैन अनुयायी सिद्धों की आराधना आवश्यक समझते है। ईश्वर के लिए जो भी गुण आवश्यक समझे जाते है वे सभी तीर्थकरों में पाये जाते है। अतः जैन धर्म में तीर्थकर ही ईश्वर ही माने जाते है। मार्ग–प्रदर्शन के लिए इन्हीं की पूजा की जाती है। जैन धर्म में पंच–परमेष्टि को माना जाता है। पंच–परमेष्टि है–अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। धर्मपरायण जैनों के लिए पंच–परमेष्टि की पूजा दैनिक कार्यक्रम का एक प्रधान अंग है।

ईश्वर के प्रति अविश्वास रहने पर भी जैनों में न तो धर्मोत्साह की कमी है और न धार्मिक कियाओं का ही अभाव है। जैन धर्म के उपासकों को कर्मवाद में पूर्ण आस्था है और पूर्व जन्म के कर्मों का नाश विचार, मन और कर्मो के द्वारा ही हो सकता है। कल्याण की प्राप्ति अपने ही कर्मो के द्वारा हो सकती है। तीर्थकर तो मार्ग–प्रदर्शन के लिए केवल आदर्श का कार्य करते है।

(iii) बौद्ध धर्म–

पंथ ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में वैदिक परम्परा की विकासशील अवस्था में कपिलवस्तु के राजपरिवार में एक ऐसे महापुरूष का जन्म हुआ जिसने एक नवीन मानवतावादी धर्म की स्थापना की। सिद्धार्थ नामक इस व्यक्ति ने रोगी, वृद्ध और मृत व्यक्ति को देखकर संसार की अनित्यता और क्षणभंगुरता का अनुभव किया तथा युवावस्था में ही अपने नवजातपुत्र एवम् नवविवाहिता पत्नी का त्याग करके सन्यास धारण कर लिया। कठोर तपस्या के पश्चात् भी इन्हें शान्ति एवम् आनन्द की प्राप्ति नहीं हुई। अन्ततोगत्वा बोध गया के समीप वट–वृक्ष के नीचे ध्यान करते समय इन्हें तत्त्व ज्ञान या बोधि की अनुभूति हुई और ये बुद्ध कहलाये। इन्हें तथागत, वस्तु स्वरूप के ज्ञाता और अर्हत भी कहा जाता है। बुद्ध के रूप में विख्यात होने के पश्चात् इन्होंने मानव कल्याण के लिये सर्वत्र उपदेश दिये। उनके समर्थकों को ही बौद्ध कहा जाता है। यहीं से बौद्ध–धर्म का प्रारम्भ हुआ। बुद्ध के उपदेश मौखिक होते थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके उपदेशों का संग्रह 'त्रिपिटक' में किया गया, जो बौद्ध धर्म का मूल–ग्रन्थ है। इसमें सुत्तपिटक, अभिधम्म पिटक और विनयपिटक नामक तीन पिटक सम्मिलित हैं जिनमें क्रमशः धर्म, दर्शन एवम् नीति सम्बन्धी विचारों का संकलन है। बौद्धों की गीता 'धम्मपद' सुत्तपिटक का ही एक अंग है। त्रिपिटक की रचना का समय ईसा से तीसरी शताब्दी पूर्व माना गया है। बौद्ध धर्म की प्राचीन पुस्तकों में त्रिपिटक के अतिरिक्त 'मिलिन्दपन्हों' अथवा मिलिन्द–प्रश्न का भी नाम उल्लेखनीय है।

ऐतिहासिक एवम् सांस्कृतिक दृष्टि से बौद्ध–धर्म

हिन्दू–धर्म से उत्पन्न और विकसित हुआ है। आज भी भारतीय जनमानस में बौद्ध–धर्म को सामान्यतया हिन्दू–धर्म के एक सम्प्रदाय के रूप में स्वीकार किया गया है। हिन्दुओं की दृष्टि में बुद्ध को भी ईश्वर का एक अवतार माना गया है। बुद्ध ने तत्कालीन वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड की आलोचना की तथा वैदिक विचारधारा से पृथक् एक नवीन जीवन–दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने शुद्ध दार्शनिक चिन्तन को विशेष महत्त्व न देकर, जीवन की यथार्थ समस्याओं के समाधान की ओर ध्यान दिया। पुरोहितवाद के द्वारा प्रसारित मिथ्या आडम्बर एवम् नैतिक अराजकता के विरूद्ध उन्होंने नैतिक एवम् आध्यात्मिक मूल्यों की ओर व्यक्ति का ध्यान आकर्षित किया।

बुद्ध ने तात्त्विक अथवा तार्किक समस्याओं को महत्त्व नहीं दिया। आत्मा, परमात्मा एवम् जगत सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाने पर वे मौन धारण कर लेते थे। इसके परिणामस्वरूप माध्यमिक परम्परा का विकास हुआ, जहाँ मौन विधि को अंगीकार करते हुए शून्यवाद का प्रतिपादन किया गया।

अव्यकतानि– भगवान बुद्ध ने दार्शनिक प्रश्नों को इसलिये महत्त्व नहीं दिया क्योंकि उनके अनुसार इन प्रश्नों का कोई व्यवहारिक महत्त्व नहीं था। जीवन की समस्याओं के हल करने में इनसे कोई सहायता नहीं मिलती। महात्मा बुद्ध ने विभिन्न प्रकार की दार्शनिक समस्याओं को अव्यक्तानि कहकर के सम्बोधित किया। दुःख की व्यापकता और उसकी निवृत्ति की समस्या पर बुद्ध ने अपना ध्यान केन्द्रित किया और निम्नलिखित दार्शनिक समस्याओं के समाधान पर ध्यान केन्द्रित नहीं किया–(1) क्या यह लोक शाश्वत है ? (2) क्या यह लोक अशाश्वत है ? (3) क्या यह सांत है? (4) क्या यह अन्नत है ? (5) क्या आत्मा और शरीर एक है? (6) क्या आत्मा शरीर से भिन्न है? (7) क्या मृत्यु के बाद तथागत का पुनर्जन्म होता है? (8) क्या मृत्यु के बाद उनका पुनर्जन्म नहीं होता? (9) क्या पुनर्जन्म होता भी है और नहीं भी होता? (10) क्या पुनर्जन्म होना और न होना दोनो बातें असत्य है?

महात्मा बुद्ध व्यावहारिक दृष्टि से इन प्रश्नों का उतर निरर्थक और दार्शनिक दृष्टि से अनिश्चित और संदिग्ध मानते है।बौद्ध एक सुन्दर दृष्टान्त देते हुए कहते हैकि जैसे किसी व्यक्ति को विष से बुझा तीर लग जावे और उसके प्रियजन और वैद्य तीर निकालनें की अपेक्षा तीर मारने वाले की जाति, वर्ण, आयु, गोत्र, स्थित, अवस्था आदि से सम्बन्धित प्रश्न पूछे, जबकि इन प्रश्नों से पीडित व्यक्ति का दुःख दूर नहीं होगा। इसलिए बुद्ध अति प्रश्नों उत्तर के जीवन के दुःखों को दूर करने में सहायक न मानते हुए मौन रहते थे। बुद्ध का दृष्टिकोण दर्शन और धर्म के सम्बन्ध में एक कुशल चिकित्सक के समान है। जिस तरह चिकित्साशास्त्र में रोग, रोग–हेतु, रोग निदान और रोग निदानोपाय है उसी तरह बुद्ध ने समस्त दुःखों की निवृति के लिए अध्यात्म क्षेत्र में चार आर्यसत्य दुःख, दुःख समुदय, निर्वाण और निर्वाण के उपाय बताएॅ है। इन्हें ही हेय, हेतु, हान और हनोपाय कहा जाता है। इसी कारण बुद्ध को महाभिषक भी कहा जाता है।

बौद्ध धर्म के धार्मिक सम्प्रदाय– जब हम विश्व के धर्मो का सिहावलोकन करते है तो पाते है कि उनका विभाजन भिन्न–भिन्न सम्प्रदायों में हो पाया है। विश्व के अधिकांश धर्मो के सम्बन्ध में इस बात को सत्य माना जा सकता है। ईसाई धर्म का विभाजन प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक मतों में, इस्लाम का विभाजन शिया और सुन्नी मतों में तथा जैन धर्म का विभाजन दिगम्बर और शवेताम्बर सम्प्रदायों में उक्त कथन की पुष्टि करता है। अन्य धर्मों की तरह बौद्ध धर्म का विभाजन भी हीनयान तथा महायान सम्प्रदायों में हो गया था।

हीनयान शाखा– हीनयान बुद्ध के उपदेशों पर आधारित है।इस धर्म का आधार पाली साहित्य है जिसमें बुद्ध की शिक्षाएॅ संग्रहित है। यह प्राचीन बौद्ध दर्शन की परम्परा को मानता है। इसी कारण से इसे मौलिक तथा प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन करते है। यह धर्म श्रीलंका, थाईलैण्ड तथा म्यामांर आदि देशों में फैला हुआ है। हीनयान की प्रमुख मान्यताओं को निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझा जा सकता है–

1. हीनयान में सभी वस्तुओं को क्षणभंगुर माना जाता है। साधारणतया नित्य समझी जाने वाली वस्तुएॅ भी असद् है। वे मूलतः अभाव रूप है।
2. हीनयान में आत्मा की सता को नहीं माना गया है।यहॉ अनात्मवाद की मीमांसा हुई है।
3. हीनयान में ईश्वर की सता को नहीं माना गया है।जब ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो ईश्वर को विश्व का सृष्टा तथा पालनकर्ता का प्रश्न ही नहीं उठता है। ईश्वर का स्थान हीनयान सम्प्रदाय में कम्म तथा धम्म को दिया गया है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म के अनुसार शरीर, मन तथा निवास स्थान को अपनाता है। संसार का नियामक हीनयान के अनुसार धम्म है। धम्म के कारण व्यक्ति के कर्म–फल का नाश नहीं होता है।
4. हीनयान के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य अर्हत होना या निर्वाण प्राप्त करना है। हीनयान में निर्वाण का अर्थ बुझ जाना माना जाता है। जिस प्रकार से दीपक के बुझ जाने पर उसके प्रकाश का अन्त हो जाता है उसी प्रकार से निर्वाण प्राप्त व्यक्ति के समस्त दुःखों का नाश हो जाता है। निर्वाण को अभाव रूप माना गया है।
5. हीनयान में स्वालम्बन पर बल दिया गया है। प्रत्येक मनुष्य अपने प्रयत्न से ही निर्वाण प्राप्त कर सकता है। निर्वाण प्राप्त करने के लिए प्रत्येक मनुष्य को बुद्ध के चार आर्य

सत्यों का मनन तथा चिन्तन करना चाहिए। उसे किसी बाह्य सहायता के बिना अपने कल्याण के लिए स्वयं प्रयास करना चाहिए। इसी कारण स्वयं महात्मा बुद्ध ने कहा था–'आत्मदीपों भव'।

6. हीनयान के मतानुसार व्यक्ति को केवल अपने निजी मोक्ष की चिन्ता करनी चाहिए। यही कारण है कि हीनयान के अनुयायी केवल अपने निजी मोक्ष के लिए प्रयत्नशील रहते है।

7. हीनयान में सन्यास को प्रश्रय प्रदान किया गया है। विशुद्ध मार्ग में कहा गया है कि जो व्यक्ति निर्वाण को अपनानाप चाहता है उसे श्मसान में जाकर शरीर और जगत की अनित्यता की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। हीनयान अपने चरम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इन्द्रिय सुख का दमन करने तथा एकान्त में जीवन जीने की शिक्षा प्रदान करते है। इस प्रकार से हीनयान में सामाजिक जीवन का खण्डन किया गया है। संक्षेप में हीनयान में भिक्षु जीवन का समर्थन किया गया है तथा इच्छा या वासना से विरक्ति का समर्थन भी मिलता है।

8. हीनयान में बुद्ध को महात्मा के रूप में स्वीकार किया गया है।वे साधारण मनुष्य से इस अर्थ में उच्च थे कि उनकी प्रतिभा विलक्षण थी। बुद्ध उपदेशक थे। उन्होंने जनता को सत्य का पाठ पढाया। हीनयानियों के अनुसार सभी लोगों में बुद्ध बनने की शक्ति नहीं पायी जाती है। यह शक्ति तो तपस्या से ही उत्पन्न होती है। इन सबके उपरान्त भी महात्मा बुद्ध को हीनयान शाखा द्वारा ईश्वर नहीं माना गया है। उपयुर्क्त सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हीनयान में स्वावलम्बन और संन्यास के आदर्श को माना जाता है। ये आदर्श इतने कठिन और कठोर है कि इनका पालन सभी के लिए सम्भव नहीं है। इसीलिए महायान के समर्थकों ने हीनयान को छोटी गाडी कहा है। इसका कारण है कि हीनयान के द्वारा कम ही व्यक्ति जीवन के लक्ष्य स्थान तक जा सकते है।

महायान शाखा– हीनयान की कठोरता और घोर संन्यास के कारण ही महायान का उदय हुआ। महायान का शाब्दिक अर्थ बड़ी गाड़ी अथवा प्रशस्त मार्ग माना जाता है क्योकि इसके द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलकर के अनेक लोग एक साथ मोक्ष की प्राप्ति कर सकते है। इस सम्प्रदाय को सहजयान भी कहा जा सकता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति इसके सिद्धान्तों को अपना सकता है। महायान धर्म कोरिया, जापान, चीन आदि देशों में प्रचलित है। इस धर्म की प्रमुख विशेषताएँ है–

1. महायान धर्म की सबसे प्रमुख विशेषता बोधिसत्व की कल्पना है। बोधिसत्व प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है। महायान में अपनी मुक्ति की अपेक्षा संसार के समस्त जीवों की मुक्ति पर बल दिया गया है। महायानी संसार के समस्त जीवों के समग्र दुःखों का नाश करके उन्हें निर्वाण प्रदान करवाना अपना लक्ष्य मानते है। उनका यह प्रण है कि जब तक एक–एक प्राणी मुक्त नहीं हो जाता है तब तक वे स्वयं निर्वाण के सुख को नहीं भोगेगे। महायानियों का यह आदर्श ही बोधिसत्व कहलाता है।

2. महायान में बुद्ध को ईश्वर के रूप में स्वीकार किया गया है। महायान में ईश्वर को करूणामय तथा प्रेममय माना गया है। समस्त प्राणी प्रेम, भक्ति और कर्म के माध्यम से ईश्वर की करूणा को प्राप्त कर सकते है।

3. महायान में संन्यास अथवा संसार से पलायन की घोर निन्दा की गयी है। यद्यपि संसार पूर्णत सत्य नहीं है किन्तु फिर भी संसार को पूर्ण रूप से त्याग देना बुद्धिमानी नहीं है। महायान संसार से संन्यास लेने के स्थान पर यह शिक्षा देता है कि मनुष्य को संसार में रहकर ही अपनी प्रगति के सम्बन्ध में सोचना चाहिए।

4. महायान में निर्वाण के भावात्मक पक्ष पर बल दिया गया है। निर्वाण प्राप्त करने के बाद व्यक्ति के समस्त दुःखों का अन्त हो जाता हैं। इसके अतिरिक्त वह आन्नद की अनुभूति को भी प्राप्त करता है। निर्वाण को आन्नदमय अवस्था कहा भी कहा गया है। असंग ने महायानाविधर्म संगति सूत्र में महायान की सात विशेषताओं का उल्लेख किया है जो महायान धर्म के आधार स्वरूप माने जाते हैं– (1)महायान विस्तृत (comprehensive) है। (2) यह सभी जीवों के प्रति सामान्य प्रेम को व्यक्त करता है। (3) विषय और विषयी के परमतत्व का निषेध कर तथा चैतन्य को एकमात्र सत्ता मानकर महायान ने बौद्धिकता का परिचय दिया है। (4) इसका आदर्श बोधिसत्व की प्राप्ति है। बोधिसत्व में संसार के समस्त जीवों की मुक्ति के लिये कर्म करने की अद्‌भुत शक्ति है। (5) यह मानता है कि बुद्ध ने अपने उपाय कौशल्य के आधार पर संसार के अनेकानेक मनुष्यों को उनके स्वभाव तथा समझ के अनुसार उपदेश दिया है। (6) इसका अन्तिम उद्देश्य बुद्धत्व को प्राप्त करना है। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये बोधिसत्व की दस अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। (7) बुद्ध संसार के समस्त व्यक्तियों की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं। इस प्रकार जहाँ हीनयान रूढ़िवादी है, वहीं महायान विस्तृत, उदार और प्रगतिशील है।

हीनयान तथा महायान में अन्तर– हीनयान और महायान दोनों ही बौद्ध धर्म के सम्प्रदाय है। दोनों के बीच निम्नलिखित मौलिक भिन्नताओं को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है–

1. हीनयान तथा महायान में चरम लक्ष्य के विचार को लेकर के भेद पाया जाता है। हीनयान के अनुसार चरम लक्ष्य अर्हत् पद की प्राप्ति है। अर्हत सिर्फ अपनी ही मुक्ति के लिए ही प्रयत्नशील रहता है। इसके विपरीत महायान का चरम लक्ष्य बोधिसत्व को प्राप्त करना है जो कि सभी जीवों की मुक्ति का आदर्श है।
2. हीनयान में अनीश्वरवाद को अपनाया गया है। मुक्ति की प्राप्ति के लिए प्रत्येक को स्वयं ही प्रयास करना पडता है। महायान में इसके विपरीत ईश्वर की सत्ता को माना गया है। यहॉ बुद्ध को ईश्वर के रूप में स्वीकार किया गया है। मनुष्य बुद्ध के प्रति प्रेम और भक्ति को दर्शाकर अपना कल्याण कर सकता है। बुद्ध स्वयं करूणामय है तथा सारा संसार उनकी करूणा का पात्र है।
3. हीनयान भिक्षु जीवन और संन्यास पर अधिक बल देता है। हीनयान के अनुसार संसार को त्याग कर ही निर्वाण को प्राप्त किया जा सकता है परन्तु महायान में संसार को त्यागने के स्थान पर संसार में रहते हुए निर्वाण प्राप्त करने का सन्देश दिया गया है।
4. हीनयान में निर्वाण को अभावात्मक रूप में बताया गया है अर्थात निर्वाण एक ऐसी अवस्था है जिसमें समस्त प्रकार के दु:खों का अन्त हो जाता है। परन्तु महायान में निर्वाण को भावात्मक रूप में दिखाया गया है। महायान में निर्वाण को केवल दु:ख रहित अवस्था मात्र ही नहीं माना गया है बल्कि आन्नदयुक्त अवस्था के रूप में स्वीकार किया गया है।
5. हीनयान में आत्मा को स्वीकार नहीं किया गया है परन्तु महायान में आत्मा की सता को माना गया है। महायान के अनुसार केवल वैयक्तिक आत्मा ही मिथ्या है पारमार्थिक आत्मा अर्थात महात्मा मिथ्या नहीं है। महात्मा सभी मनुष्यों में विद्यमान है।
6. हीनयान, रूढिवादी है। हीनयान परिवर्तन का घोर विरोधी है। हीनयान में बौद्ध धर्म की मूल बातें ज्यों कि त्यों स्वीकार कर ली गयी है। इसके विपरीत महायान उदार एवम प्रगतिशील विचारधारा है जिसमें अनेकानेक नये विचारों का समावेश हो गया है।

बौद्ध धर्म की प्रमुख विशेषताएॅ– बौद्ध धर्म तथा दर्शन की प्रमुख विशेषताओं को निम्नलिखित बिन्दुओं द्वारा समझा जा सकता है–

1.बौद्ध धर्म के चार आर्य सत्य– बौद्ध धर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त चार आर्य सत्य है जिसमें सम्पूर्ण बौद्ध धर्म तथा शामिल किया जा सकता है। इनका सक्षिप्त उल्लेख निम्नलिखित अनुसार है–

(अ) प्रथम आर्यसत्य– दु:ख है या दु:ख की सत्ता है। महात्मा बुद्ध मानते है कि प्राणीमात्र का जीवन दु:ख, भय, रोग, कष्ट और मृत्यु से परिपूर्ण है। वे कहते है– जन्म लेना, बूढा होना, मरना, शोक करना, रोना, पीटना, रोग, चिन्ता, परेशानी और इच्छित वस्तु का नहीं मिलना ये सब दु:खमय है। वे कहते है कि संसार दुख का समुन्द्र है। दु:खों के कारण मनुष्य जितने ऑसू बहाता है उतना महासागरों में जल भी नहीं है।

महात्मा बुद्ध के अनुसार सांसारिक सुख भी वास्तविक सुख नहीं है। वे क्षणिक होते है। उनके नष्ट हो जाने पर दु:ख ही होता है। ऐसे सुखों के साथ बराबर यह चिन्ता लगी रहती है कि कही वे नष्ट न हो जाएॅ। इस तरह के अनेक दु:खद परिणाम है जिसके कारण सांसारिक सुख वास्तविक सुख नहीं समझे जा सकते है। स्पष्ट है कि जिन्हें हम सुख मानते है वे अन्ततोगत्वा दु:ख ही देते है। सभी वस्तुएँ जो उत्पन्न होती है वे दु:ख, अनित्य और अनात्म रूप है इनकी आसक्ति से ही दु:ख मिलता है।

(ब) द्वितीय आर्यसत्य– दु:ख का कारण है या दु:ख समुदाय– बौद्ध दर्शन में दु:ख के कारणों की एक श्रृंखला प्रस्तुत की गयी है, जिसे दु:ख–समुदाय या द्वादश निदान कहा गया है। इस श्रृंखला की विभिन्न कड़ियाँ एक–दूसरे से जुड़ी हुई है, जिसमें किसी एक कड़ी के उपस्थित होने पर दूसरी कड़ी भी उपस्थित होती है। इसी कारण इसे 'प्रत्यीत्यसमुत्पाद' कहते हैं, जिसका अर्थ है–ऐसा होने पर वैसा होता है। दु:ख के इन कारणों की श्रृंखला निम्नलिखित प्रकार से है –अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा–मरण।

(स) तृतीय आर्य सत्य–दु:ख का अन्त सम्भव है– बौद्ध दर्शन में दु:खों के अन्त की अवस्था को निर्वाण कहा गया है। बौद्ध दर्शन के अनुसार निर्वाण ही जीवन का परम लक्ष्य, सर्वोच्च मूल्य और परम प्राप्तव्य है। यह परम शांति और परम् सुख की अवस्था है। इसकी प्राप्ति से भव का निरोध हो जाता है इस प्रकार यह पुनर्जन्म को रोकने वाला है।

उपाधि शेष निर्वाण– निर्वाण की इस अवस्था में जीवन का अन्त नहीं होता है बल्कि ज्ञान प्राप्त व्यक्ति अन्य लोगों को भी निर्वाण प्राप्ति के लिये प्रेरित करता है।

अनुपाधिशेष निर्वाण– इसमें जीवन का अन्त हो जाता है और जन्म–मरण का चक्र भी समाप्त हो जाता है।

बौद्ध दर्शन की एक शाखा 'हीनयान' केवल स्वयं के मोक्ष को लक्ष्य घोषित करती है, जिसे 'अर्हत' कहते हैं जबकि 'महायान' शाखा अन्य लोगों के मोक्ष को भी अपना लक्ष्य बनाती है, जिसे 'बोधिसत्व' कहते हैं।

(द) चतुर्थ आर्यसत्य– दु:ख निरोधी गामिनी प्रतिपद –चतुर्थ आर्यसत्य दु:खों को दूर करने के उपाय भूत मार्ग का

विवेचन करता है। इसे हानोपाय भी कहते है। बुद्ध केवल दुःखों के कारण का ही विवेचन नहीं करते है अपितु वे उनसे मुक्त होने का मार्ग भी बताते है। इन मार्गो का अनुसरण करके व्यक्ति परम शांति निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। बौद्ध दर्शन में मोक्ष प्राप्ति के आठ मार्ग बताये गये हैं, जिन्हें 'आष्टांगिक मार्ग' कहते हैं। अष्टांगिक मार्ग के आठ चरण निम्नलिखित अनुसार है–

(1) सम्यक् दृष्टि (2) सम्यक् संकल्प (3) सम्यक् वाक (4) सम्यक् कर्मान्त (5) सम्यक् आजीव (6) सम्यक् व्यायाम (7) सम्यक् स्मृति और (8) सम्यक् समाधि।

उपरोक्त आठ प्रकार के मार्गों को पुनः 3 भागों में बाँटा गया है–

प्रज्ञा– इसमें सम्यक् दृष्टि एवम् सम्यक् संकल्प को शामिल किया जाता हैं।

शील– इसमें सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव को शामिल किया जाता हैं

समाधि– इसमें सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि को शामिल किया जाता है।

2. मध्यममार्ग– बौद्ध धर्म को मध्यमार्गी कहा गया है। बुद्ध के काल में उच्छेदवाद और शाश्वतवाद दो विशेष दर्शन थे। उच्छेदवाद के अनुसार आत्मा का पूर्ण उच्छेद तथा विनाश हो जाता है। इसके विपरीत, शाश्वतवाद के अनुसार, आत्मा नित्य और शाश्वत रहती है। बौद्ध मत के अनुसार न तो उच्छेदवाद ही सत्य है और न शाश्वतवाद। उच्छेदवाद इसलिय सत्य नहीं माना गया है कि जीवात्माओं के पुनर्जन्म को स्वीकार किया गया है। शाश्वतवाद को भी इसलिये नहीं स्वीकार किया जा सकता है कि निर्वाण में आत्मा के संरक्षित रहने की बात सही नहीं कही जा सकती है। बौद्ध मत को इसलिय भी मध्यमार्गी कहा जाता है कि इसमें तपश्चर्या और सुखवाद के बीच का मार्ग अपनाया गया है।

3. क्षणिकवाद (The Doctrine of Momentariness)– प्रत्यीय समुत्पाद के सिद्धान्त की तार्किक परिणति अनित्यवाद या क्षणिकवाद और अनात्मवाद में होती है। संसार की सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील और क्षणिक है। बुद्ध ने कहा है, 'जो वृद्ध हो सकता है, वह वृद्ध होकर ही रहेगा। जिसे रोगी होना है, वह रोगी होकर ही रहेगा। जो मृत्यु के अधीन है, वह अवश्य मरेगा। जो नाशवान है, उसका नाश अत्यावश्यक है........।' धम्मपद में कहा गया है– 'जो नित्य तथा स्थायी मालूम पड़ता है, वह भी नाशवान है। जो महान मालूम पड़ता है, उसका भी पतन है।'

अनित्यवाद, शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का मध्यमार्ग है। 'प्रत्येक वस्तु सत् है' और प्रत्येक वस्तु असत् है', ये दोनों एकान्तिक मत है। मध्यमार्ग यह है कि जीवन परिवर्तनशील है। अनित्यवाद का विकास क्षणिकवाद के रूप में होता है, जिसके अनुसार विश्व की प्रत्येक वस्तु अनित्य ही नहीं है अपितु क्षण भंगुर है। जिस प्रकार नदी की एक बूंद एक क्षण के लिये सामने आती है, दूसरे क्षण वह विलीन हो जाती है, उसी प्रकार जगत् की समस्त वस्तुएँ क्षणमात्र के लिये ही अपना अस्तित्व कायम रखती है। अर्थक्रियाकारित्व के सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु की सत्ता तभी तक मानी जा सकती है, जब तक उसमें कार्य करने की शक्ति मौजूद हो। यदि कोई कार्य उत्पन्न कर सकती है तब उसकी सत्ता है और यदि वह कार्य नहीं उत्पन्न कर सकती है तब उसकी सत्ता नहीं है। एक वस्तु से एक समय में एक ही कार्य सम्भव है। यदि एक समय एक वस्तु से एक ही कार्य का निर्माण होता है और दूसरे समय दूसरे कार्य का निर्माण होता है तो इससे सिद्ध होता है कि पहले वस्तु का अस्तित्व क्षणमात्र के लिये ही रहता है क्योंकि दूसरी वस्तु के निर्माण के साथ ही साथ पहली वस्तु का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व क्षणमात्र ही रहता है।

4.अर्थक्रियाकारित्व– अर्थक्रियाकारित्व अर्थात किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति क्षणिकवाद का ही दूसरा स्वरूप है। बुद्ध मानते है कि अकारण या आकस्मिक कुछ नहीं होता है। खरगोश के सींग के समान असत् से कोई कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है। अर्थक्रियाकारित्व ही सत् का लक्षण है। जो वस्तु कार्य को उत्पन्न कर सकती है उसकी सत्ता है। परन्तु जो कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकती है उसका अस्तित्व नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व एक ही क्षण के लिए है।

5. अनात्मवाद (The Doctrine of Momentariness of No-Self)– बुद्ध ने नित्य, शाश्वत, अपरिणामी, अविनाशी आत्मा की सत्ता का खण्डन किया है। उनके अनुसार, 'विश्व में न तो कोई आत्मा है और न आत्मा की तरह कोई अन्य वस्तु। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के आधार स्वरूप मन और मन की वेदनाएँ, ये सब आत्मा या आत्मा के समान किसी चीज से बिल्कुल शून्य है। बुद्ध ने शाश्वत आत्मा में विश्वास उसी प्रकार हास्यास्पद कहा है, जिस प्रकार कल्पित सुन्दर नारी के प्रति अनुराग रखना हास्यास्पद है। आत्मा अनित्य है, यह अस्थायी शरीर और मन का संकलन मात्र है। विलियम जेम्स की तरह बुद्ध ने भी आत्मा को विचारों का प्रवाह (Stream fo Consciousness) कहा है। बौद्ध धर्मोपदेशक नागसेन ने आत्मा के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा है कि जिस प्रकार धुरी, पहिये, रस्सियों आदि के संघात विशेष का नाम रथ है, उसी प्रकार पाँच स्कन्धों के संघात के अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है। ये पाँच स्कन्ध है– रूप, वेदना, संज्ञा, तिरस्कार और विज्ञान।

6. पुनर्जन्म का सिद्धान्त (Doctrine of

Rebirth)– नित्य आत्मा का निषेध करके भी बुद्ध ने पुनर्जन्म की व्याख्या की है। बुद्ध के मतानुसार पुनर्जन्म का अर्थ एक आत्मा का दूसरे शरीर में प्रवेश करना नहीं है अपितु इसके विपरीत पुनर्जन्म का अर्थ विज्ञान प्रवाह की अविच्छिन्नता है। जब एक विज्ञान प्रवाह का अन्तिम विज्ञान समाप्त हो जाता है तब अन्तिम विज्ञान की मृत्यु हो जाती है और एक नये शरीर में एक नये विज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। इसी को बुद्ध ने पुनर्जन्म कहा है। बुद्ध ने पुनर्जन्म की व्याख्या दीपक की ज्योति के सहारे की है। जिस प्रकार एक दीपक से दूसरे दीपक को जलाया जा सकता है उसी प्रकार वर्तमान जीवन की अन्तिम अवस्था से भविष्य जीवन की प्रथम अवस्था का विकास सम्भव है।

7.अनीश्वरवाद (Atheism)– बौद्ध धर्म अनीश्वरवादी है क्योंकि यह ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता तथा ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता नहीं मानता। बुद्ध के अनुसार संसार प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम से संचालित होता है। सम्पूर्ण विश्व उत्पत्ति और विनाश का स्रष्टा नित्य एवम् अपरिवर्तनशील ईश्वर को नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार विश्व को हम शुभ, अशुभ, सुख, दुःख के अधीन पाते हैं, यदि ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है तो उसे पूर्ण कैसे माना जाये ? पुनः क्या ईश्वर विश्व की रचना किसी प्रयोजनवश करता है और यदि वह विश्व का निर्माण किसी प्रयोजन की पूर्ति के लिये करता है तब ईष्वर की अपूर्णता परिलक्षित होती है, क्योंकि प्रयोजन किसी न किसी कमी को ही अभिव्यक्त करता है। बुद्ध ने अपने शिष्यों को ईश्वर पर आधारित रहने की शिक्षा नहीं दी अपितु उन्होंने शिष्यों को आत्म निर्भर रहने को प्रोत्साहित किया तथा 'आत्मदीपोभव' (अपना प्रकाश स्वयं बनो) का उपदेश दिया। परन्तु बौद्ध धर्म का इतिहास इस बात का साक्षी है कि आगे चलकर बुद्ध को ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इसका कारण यह है कि अनीश्वरवादी धर्म मानव की धार्मिक भावना की तुष्टि करने में असमर्थ है। अतः जो धर्म अनीश्वरवादी प्रतीत होता है वहाँ किसी न किसी रूप में ईश्वर का स्थान है।

जैन तथा बौद्ध धर्म की तुलना– जैन तथा बौद्ध धर्म समकालीन माने जाते है क्योंकि दोनों ही धर्मो का उदय एव विकास समान कालक्रम में हुआ था।दोनो ही धर्मो का उदय हिन्दू धर्म के दोषों के विरूद्ध प्रतिक्रियास्वरूप हुआ था। जैन तथा बौद्ध धर्म दोनों ही यह स्वीकार करते है कि वैदिक कर्मकाण्ड के माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। दोनो ही धर्म समान रूप से यज्ञों में प्रयुक्त हिंसा के प्रतीक पशुबलि का विरोध करते है तथा अहिंसा का सन्देश देते है।इस प्रकार वैदिक साहित्य की आलोचना करने के कारण बौद्ध तथा जैन धर्म दोनो ही वैदिक साहित्य को प्रामाणिक साहित्य के रूप में स्वीकार नहीं करते है। वेदों को प्रामाणिक ज्ञान के रूप में स्वीकार नहीं करने के कारण ये नास्तिक कहलाते है।

जैन तथा बौद्ध धर्म की एक समानता यह भी है कि दोनो ही धर्म समान रूप से कर्म के महत्व को स्वीकार करते है। इस प्रकार से ये दोनों धर्म यह स्वीकार करते है कि कर्म ही हमारे भावी जीवन का आधार है इस प्रकार से दोनों ही धर्म,कर्म के साथ–साथ पुनर्जन्म के महत्व को भी स्वीकार करते है।

जैन तथा बौद्ध धर्म की उपयुर्क्त समानताओं के अतिरिक्त दोनों में कुछ असमानताएँ भी है और ऐसी असमानताओं में सबसे महत्वपूर्ण असमानता यह है कि जहाँ जैन धर्म अंहिसा को पूर्ण रूप से कट्टरता के साथ लागू करता है जबकि अंहिसा के स्वरूप को लेकर बौद्धों का मत मध्यममार्गी है और इसी मतभेद तथा जैन धर्म के कठोर स्वरूप के कारण जैन धर्म का प्रसार भारत के बाहर नहीं हो पाया तथा बौद्ध धर्म का विकास सम्पूर्ण विश्व में हो गया।

इसके अतिरिक्त जैन तथा बौद्ध धर्म के मध्य एक अन्य अन्तर यह भी है कि जैन धर्म में आत्मा के महत्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है जिसके कारण जैन धर्म एक आत्मवादी दर्शन है, वही बौद्ध धर्म कियी प्रकार की नित्य आत्मा के विचार को स्वीकार नहीं करता है।अतः हम कह सकते है कि जैन धर्म के विपरीत बौद्ध धर्म अनात्मवादी है।

उपयुर्क्त सम्पूर्ण वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वाधिक प्राचीन धर्मो में हिन्दू धर्म को स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि हिन्दू धर्म एक सनातन धर्म है जिसे कोई जनक नहीं है।हिन्दू धर्म का मुख्य रूप से वैदिक साहित्य को माना जाता है।

हिन्दू धर्म के विभिन्न दोषों के प्रतिक्रियास्वरूप बौद्ध धर्म का उदय हुआ था।बौद्ध धर्म के संस्थापक महात्मा बुद्ध ने इसी कारण से व्यर्थ के दार्शनिक प्रश्नों में उलझनें के स्थान पर जीवन की सबसे बडी समस्या अर्थात दुःख और इसके समाधान पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। बौद्ध धर्म की एक विशेषता यह भी है कि इसने कठोरता के स्थान पर जनसामान्य द्वारा आसानी से अपनाये जा सकने वाले मध्यम मार्ग का उपदेश दिया जिसके कारण इसका प्रचार–प्रसार विश्व के अनेक देशों में हो पाया था।

बौद्ध धर्म की ही भांति जैन धर्म भी हिन्दू धर्म के विरूद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप ही उत्पन्न हुआ किन्तु बौद्ध धर्म की भांति नास्तिक एवं अनीश्वरवादी होते हुए भी यह धर्म बौद्धों के विपरीत आत्मवादी तथा अहिंसा का कट्टर समर्थक हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. ब्रह्मसूत्र के रचियता कौन है?
   (अ) बादरायण व्यास (ब) वेदव्यास
   (स) तुलसीदास (द) नागार्जुन

2. हिन्दू धर्म में ईश्वर को माना गया है?
   (अ) सृष्टा (ब) पालनकर्ता
   (स) संहारकर्ता (द) उपयुक्त सभी
3. वेदत्रयी में शामिल नहीं है?
   (अ) ऋग्वेद (ब) यजुर्वेद
   (स) सामवेद (द) अथर्ववेद
4. आत्मा की सर्वश्रेष्ठ अवस्था मानी गयी है?
   (अ) जाग्रत (ब) स्वप्न
   (स) तुरीय (द) सुषुप्ति
5. ब्रह्माण्ड में कितने लोक है?
   (अ) 5 (ब) 7
   (स) 8 (द) 10
6. जैन धर्म के अनुसार एकमात्र रूपी द्रव्य है?
   (अ) धर्म (ब) अधर्म
   (स) काल (द) पुदगल
7. पूर्व संचित कर्म पूदगलों के नाश को जैन धर्म में कहा गया है?
   (अ) संवर (ब) बन्धन
   (स) निर्जरा (द) आस्त्रव
8. जैन धर्म किन दो सम्प्रदायो में विभक्त है?
   (अ) शून्यवाद तथा विज्ञानवाद
   (ब) हीनयान तथा महायान
   (स) आस्तिक तथा नास्तिक
   (द) श्वेताम्बर तथा दिगम्बर
9. बौद्ध धर्म में छोटी गाडी किसका शाब्दिक अर्थ है?
   (अ) महायान का (ब) हीनयान का
   (स) शून्यवाद का (द) सौत्रान्त्रिक का
10. बौद्ध धर्म के दार्शनिक सम्प्रदाय शून्यवाद के जनक है?
   (अ) अश्वघोष (ब) नागार्जुन
   (स) असंग (द) वसुबन्धु

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. धर्म का शाब्दिक अर्थ क्या है?
2. सनातन धर्म की परिभाषा दिजिए?
3. चार वेदों के नाम बताइए?
4. अवतारवाद को परिभाषित किजिए?
5. हिन्दू धर्म स्वीकार्य ईश्वर के छह गुणों के नाम लिखिए?
6. हिन्दू धर्म के अनुसार सृष्टि के चार युग कौनसे है?
7. ऋत से आप क्या समझते है?
8. पुरूषार्थ का शाब्दिक अर्थ क्या है?
9. जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य की परिभाषा दिजिए?
10. अस्तिकाय द्रव्य किसे कहते है?
11. एकमात्र अनस्तिकाय द्रव्य का नाम बताइये?
12. अर्थक्रियाकारित्व को परिभाषित किजिए?

लघुतरात्मक प्रश्न

1. हिन्दू धर्म में स्वीकार्य चार पुरूषार्थो का वर्णन किजिए?
2. हिन्दू धर्म की वर्णाश्रम व्यवस्था को समझाइएँ?
3. जैन धर्म के सम्प्रदायों में भेद का उल्लेख किजिए?
4. जैन धर्म के अनुसार अजीव विचार को समझाइएँ?
5. बौद्ध धर्म के क्षणिकवाद के सिद्धान्त को समझाइये?
6. बौद्धों का अनात्मवाद क्या है?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. हिन्दू धर्म की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन किजिए?
2. जैन धर्म के तत्वमीमांसा का विवेचन किजिए?
3. बौद्ध धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन किजिए?
4. बौद्ध धर्म के सम्प्रदायों का वर्णन करते हुए उनके अन्तर को स्पष्ट किजिए?

उतरमाला–

(1) (अ) (2) (द) (3) (द) (4) (स) (5) (ब)
(6) (द) (7) (स) (8) (द) (9) (ब) (10) (ब)

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. डी.डी. बदिष्टे एवॅ डॉ. रमाशकर शर्मा–भारतीय दार्शनिक निबन्ध
2. सतीशचन्द्र चटटोपाध्याय एवॅ धीरेन्द्र मोहन दत–भारतीय दर्शन
3. डॉ. एन. के. देवराज–भारतीय दर्शन
4. डॉ. नरेन्द्र सिह महला–भारतीय दर्शन कोश

अध्याय–8
यहूदी, ईसाई एवं इस्लाम धर्मपंथ

(i) यहूदी धर्म पंथ

यहूदी धर्म प्राचीनतम धर्मों में से एक है। इस धर्म में आध्यात्मवाद का पूर्व प्रभाव दृष्टिगत् होता है। ईसाई एवं इस्लाम धर्म का विकास यहूदी धर्म से हुआ है।

'हजरत मूसा' को यहूदी धर्म का प्रथम प्रवर्तक माना जाता है। मूसा ने ईश्वर दर्शन प्राप्त किया और ईश्वर ने, उन्हें यहूदियों के भविष्य के विषय में जो आदेश दिये, उनकी पालना करते हुए, ईश्वर उपासना की पद्धति का प्रचार एवं मंदिर निर्माण की पद्धति का वर्णन किया। उन्होंने न्याय एवं कर्त्तव्यशास्त्र संबंधी पुस्तकों की रचना की।

यहूदी धर्म का आधार 'बाइबिल' है। बाइबिल के दो खण्ड है– 1. ओल्ड टेस्टामेंन्ट (प्राचीन विधान) 2. न्यू टेस्टामेंट (नवीन विधान)

यहूदियों ने प्राचीन विधान को धार्मिक ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया। इस ग्रंथ में जगत की सृष्टि, मनुष्य की उत्पत्ति की कहानी तथा आदम और ईव के पतन की कथा है। साहित्यिक दृष्टि से ये उत्कृष्ट ग्रंथ है। इसके तीन खण्ड है– 1. कानून 2. भविष्य वक्ता 3.पवित्र लेख

ईश्वर–विचार

यहूदी धर्म की एक मान्यता यह है कि जगत में एक नैतिक व्यवस्था है, जिसका सचालन नैतिक परायण ईश्वर है। इसलिये इनके मत में, ईश्वर एक है।

यहूदी धर्म के पूर्व प्रकृति के भिन्न–भिन्न वस्तुओं की अराधना की जाती थी (अनेकेश्वरवाद) किन्तु यहूदी धर्म ने इसके विपरीत प्रतिक्रिया स्वरूप एकेश्वरवाद का समर्थन किया। ये मूर्तिपूजा का भी विरोध करते है।

यहूदी धर्म के अनुसार ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है किन्तु वह मानवीय व्यक्तित्व के विपरीत असीम है, जबकि मानव ससीम हैं। ईश्वर के प्रेम एवं दया मानव के लिये अपेक्षित हैं। वही मनुष्य ईश्वर की ओर अग्रसर हो सकता है, जिसे ईश्वर चाहता है।

यहूदी धर्म के ईश्वर को 'Jehovah' कहा जाता है। ईश्वर ने स्वयं कहा कि वे 'Jehova' है। उन्हें छोड़कर अन्य की अराधना करना कल्पना से परे है।

'Jehova' सर्वज्ञ (सब कुछ जानने वाला) परम सत्ता जगत का सृष्टा, मनुष्य का निर्माणक एवं अत्यधिक शक्तिशाली है। ईश्वर जगत की व्यवस्था का एकमात्र आधार है। उसकी इच्छा तत्काल पूर्ण होती है। वह देश (स्थान) और काल (समय की सीमाओं से परे है) वह पवित्र है।

ईश्वर न्याय प्रिय, दयालु एवं शान्ति प्रिय गुणों से युक्त माना गया है किन्तु इसी के साथ–साथ ईश्वर में कुछ अशोभनीय गुण भी विद्यमान है और वे है–ईर्ष्या और कठोरता। जिन व्यक्तियों से ईश्वर नाराज रहता है, उन्हें कठोर दण्ड भी प्रदान करता है।

यहूदी धर्म में ईश्वर को 'पिता' कहा गया हैं। ईश्वर और मनुष्य के मध्य पिता–पुत्र का संबंध है। ईश्वर अपने पुत्र के प्रति अन्यायी नहीं होता और पुत्र के द्वारा अपने पाप का प्रायष्चित करने पर, वह उन्हें क्षमा भी कर देता है।

जगत में व्याप्त 'अशुभ' के संबंध में यहूदी धर्म की मान्यता है कि अशुभ वास्तविक है। ईश्वर में विद्यमान कठोरता के कारण अशुभ की उत्पत्ति होती है। ईश्वर द्वारा प्रदत्त अतिवृष्टि, बाढ़, ज्वालामुखी, तूफान द्वारा मनुष्य का जीवन कष्टपूर्ण हो जाता है।

यहूदी धर्म में 'कर्मवाद' के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। उनका मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी सत्ता है और उसके अच्छे और बुरे कर्मो के अनुसार उसे पुरस्कार और दण्ड मिलता है।

कर्म सिद्धान्त के साथ ही यहूदी धर्म पुनःर्जन्म की धारणा को भी स्वीकार करते है। अपने कर्मो के फल भोगने के लिये व्यक्ति को दूसरा जीवन ग्रहण करना पड़ता है। साथ–साथ आत्मा की अमरता को भी यह धर्म स्वीकार करता है।

नीतिशास्त्र

नैतिकता यहूदी धर्म की धूरी है। नैतिकता का पालन एक पवित्र कर्त्तव्य है। यहूदी के नैतिक विचारों को दस आदेशो के रूप में किया गया है –

1. मैं तुम्हारा ईश्वर हूँ और तुम्हें मिस्र देश से मुक्त कर यहाँ लाया हूँ।
2. मेरे सिवा तुम्हारे लिये दूसरा कोई देवता न होगा। तुम न किसी प्रकार की मूर्ति बनाना, न स्वर्ग की वस्तु के रूप को गढ़ना।
3. तुम व्यर्थ ईश्वर का नाम न लेना। ईश्वर का व्यर्थ नाम लेने वाले के निर्दोष नही समझा जायेगा।
4. तुम पवित्र दिन को मत भूलना। उस दिन तुम्हें कोई काम नहीं करना होगा। भगवान ने छः दिन काम करके सातवें

दिन विश्राम किया।

5. माता–पिता का आदर करों।
6. हत्या न करो।
7. व्यभिचार न करो।
8. अपने पड़ौसी के खिलाफ झूठी गवाही न दो।
9. अपने पड़ौसी के मकान, स्त्री, नौकर, नौकरानी, बैल, गदहा (गधा) – किसी वस्तु के प्रति लालच न करों।

आचरण संबंधी सद्गणों में– यहूदी धर्म, संतोष, दान, आत्म–संयम, सत्यता, शान्ति आदि को ग्रहण करने का उपदेश देता है। सन्तोष को प्रधान धर्म मानते हुए, सन्तोषी व्यक्ति को सबसे धनवान व्यक्ति माना जाता है।

अपनी अपवित्र इच्छाओं और वासनाओं पर विजय पाने हेतु आत्म संयम पर बल दिया गया।

सत्यता पालन करने वाला मनुष्य ईश्वर कृपा का भागीदार होता है।

यहूदी धर्म कुछ कर्मो को नैतिक दृष्टि से वर्जित समझते है। जैसे–मूर्तिपूजा, अपशब्द, हत्या, चोरी, अन्याय, अधर्म आदि।

यहूदी धर्म में न्याय–दिवस

यहूदियों के अनुसार मृत्यु के पश्चात् मनुष्य की आत्मा तीन दिन तक शरीर के चारों और चक्कर काटती है। मोह के कारण वह शरीर छोड़ना नही चाहती। इसके बाद उसके द्वारा किये गए कर्मो को मूल्यांकन होता है। उसी दिन को न्याय–दिवस कहा जाता है। उस दिन प्रत्येक व्यक्ति के कर्मो की जॉच होती है।

अतः यह कह सकते हैं कि यहूदी धर्म का मानवीय सभ्यता के विकास में अभूतपूर्व योगदान रखना है। यही धर्म, ईसाई धर्म का पथ प्रर्दशक रहा है।

(ii) ईसाई धर्म पंथ

विश्व के प्रमुख धर्मों में ईसाई धर्म का विशिष्ट स्थान है। ईसाई धर्म के समर्थकों की संख्या विश्व के सभी धर्मो की अपेक्षा अधिक है।

ईसाई धर्म के संस्थापक जिसस क्राइस्ट या ईसा मसीह है। उनका जन्म 4 बी.सी. में बेथलेहम शहर में हुआ। उनका जन्म यहूदी परिवार में हुआ था। बाल्यकाल से ही ये विलक्षण स्मरण शक्ति के धनी थे। बाल्य काल से ही उन्होंने शास्त्राार्थ में भाग लेना प्रारंभ कर दिया था। ईसा ने जॉन नामक साधु से दो दीक्षाऐं प्राप्त की – 1. धर्म प्रचार और 2. सार्वजनिक सेवा

ईसा के हृदय में दीन, असहाय व्यक्तियों के प्रति विशेष दया, प्रेम विद्यमान था। मानव को मानव से प्रेम का पाठ, ईसा के जीवन का मुख्य लक्ष्य था। ईसा की बढ़ती ख्याति एवं चमत्कारो का परिणाम यह हुआ कि पुरोहित वर्ग ने ईर्ष्या के वशीभूत होकर उन पर ईश्वर निंदा का आरोप लगा कर सूली पर चढ़ा दिया। मरते समय ईसा के अन्तिम वाक्य थे – ''हे पिता, यह आत्मा तुम्हें अर्पित है।'' ईसा मसीह को ईश्वर पुत्र कहा गया। ईसाई धर्म का विकास यहूदी धर्म से हुआ है। ईसाइयों का धर्म–ग्रंथ बाइबिल है।

बाइबिल के दो खण्ड है– 1. प्राचीन विद्यान Old Testament 2. नूतन विद्यान New Testament

प्रथम खण्ड को यहूदियों ने स्वीकार किया। नूतन विधान ईसाई धर्म का मूल ग्रंथ हैं।

ईसाई धर्म में ईश्वर–ईसाई धर्म एकश्वरवादी धर्म है। इनके मत में ईश्वर व्यक्तित्व पूर्ण है लेकिन सशरीरी अर्थ में नही। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं दयालु है। उसने शून्य से जगत और मनुष्य की सृष्टि की है।

यहूदी धर्म की तुलना में ईसाई धर्म में, ईश्वर को करूणामय, परमपिता के रूप में स्वीकार किया गया है। ईसाई धर्म का ईश्वर जगत में व्याप्त होते हुए जगत से परे भी है। ईसाई धर्म का ईश्वर मानवता का ईश्वर है। ईश्वर 'प्रेममय' है। कहा भी गया है कि 'The God of Christianity is God of Loving' ईश्वर का प्रेम उन व्यक्तियों के लिये है, जो शुभ है तथा ईश्वर के प्रति आस्था रखते है।

ईसाई धर्म की अपनी मौलिक विशेषता है ईश्वर को 'क्षमाशील' मानना। ईश्वर, प्रायश्चित करने वाले व्यक्ति को क्षमा करता है, ईश्वर पापियों का उद्धारक है। ईसा स्वयं मरते समय (जब उन्हें सूली पर चढ़ाया गया) शान्त भाव से कहते है कि 'भगवान इनको क्षमा करना, वे बिचारे नहीं जानते कि क्या कर रहे है।'' ईसा की यह वाणी जगत इतिहास में अपूर्व है।

ईसाई धर्म में ईश्वर को 'पिता' की उपाधि दी है। नवीन विधान में 'पिता' शब्द का उल्लेख तीन सौ बार हुआ है। ईश्वर सब के 'पिता' है। इसी आधार पर मनुष्य संसार के अन्य व्यक्तियों के प्रति भी प्रेमपूर्ण व्यवहार करने के लिये तत्पर हो जाता है।

ईसा स्वयं ईश्वर रूप थे। उनके जीवनी से कई चमत्कारी घटनाऐ जैसे कुछ ही पत्तों द्वारा हजारों को भोजन करवाना, मृतक शरीर को जीवन दान देना चर्चित है। किन्तु अपने इस ईश्वरीय रूप के बावजूद वे स्वयं को ईश्वर का पुत्र कहते थे। बाइबिल की पंक्ति ''मैं ईश्वर का पुत्र हूँ, पिता हमसे महान है'' उनके ईश्वर के साथ संबंध को प्रमाणित करते है।

ईसाई धर्म में ''त्रयेक परमेश्वर'' (त्रिमूर्ति) का विचार स्वीकार किया गया है। इस मत में पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा एक ही है।

जगत का स्वरूप– ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर ने

शून्य से एक काल विशेष में, पूर्ण प्रेम तथा पूर्ण इच्छा से सृष्टि की है। यह जगत ईश्वर पर आधारित है।

यह ईश्वर के समानपूर्ण एवं शुभ नहीं है। ईश्वर की संरक्षता में जगत का विकास होता है। मुनष्य प्रकृति के द्वारा ईश्वर तक पहुॅच सकता हैं। ईश्वर प्रकृति के माध्यम से स्वयं को प्रकट करता है।

पाप की धारणा— ईसाई धर्म के अनुसार जब मनुष्य ईश्वर की इच्छा की अवज्ञा करता है, तो पाप की उत्पत्ति होती है। इस मत में प्रथम पुरूष आदम तथा प्रथम स्त्री 'होवा' ने ईश्वर के मना करने पर भी निषिद्ध फल को खाया। परिणाम स्वरूप वे पाप के भागी बन गए। आदम की सन्तान होने के कारण ही मनुष्य आज भी पापी है। अतः पाप सार्वभौमिक है। इस्लाम धर्म पाप के उत्तराधिकार रूप को नही मानते। ये पाप को साधारण अपराध मानते है।

मानव का स्वरूप— ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि की है और अपने अनुरूप बनाया। इसीलिये इस धर्म के अनुसार मनुष्य को ईश्वर की प्रतिमा कहा गया है, किन्तु वह ईश्वर के समान नही माना गया। उसमें कोई चमत्कार नही। उसे स्वतंत्र माना गया है और जब तक वह ईश्वर को प्रेम करता है तब तक वह स्वतंत्र आत्मा के समान ईश्वर की प्रतिमा बना रहता है। शुभ अशुभ कर्मों के लिये मनुष्य स्वयं उत्तरदायी हैं धैर्य, न्याय, प्रेम, आदि गुण उसमें पूर्ण रूप से रहते है। ईसाई धर्म शरीर का तिरिस्कार नही करता वरन् उसे वास्तविक मानते है। आदर्श की प्राप्ति में शरीर बाधक नही है।

अशुभ की समस्या— जगत में अच्छाई के साथ बुराई भी दृष्टि गोचर होती है। ईसाई धर्मानुसार अशुभ की वास्तविक सत्ता है। धर्मानुसार शुभ कर्मो से अशुभ को दूर किया जा सकता है। अशुभ के कई प्रकार है—

1. प्राकृति अशुभ जैसे— भूकम्प, बाढ़ आदि
2. बौद्धिक अशुभ जैसे— अज्ञान, भ्रम आदि
3. तात्विक अशुभ जैसे— वस्तु के रचनात्मक दोष
4. सामाजिक अशुभ जैसे—अस्पृश्यता (छूआ—छूत), शोषण
5. नैतिक अशुभ जैसे—पाप, हिंसा, चोरी आदि

उपरोक्त प्रकारों में प्राकृतिक एवं नैतिक अशुभ प्रमुख है। ईसाई धर्म में अशुभ को मानव इच्छा स्वातंत्र्य (Freedom of rwill) का दुरोपयोग कहा है। मनुष्य अशुभ को, वंश परम्परा सिद्धान्त तथा अन्य कर्मों से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक भेजता रहता है। अतः स्पष्ट है कि अशुभ की सत्ता के लिये मनुष्य स्वयं उत्तरदायी हैं अशुभ से छुटकारा मनुष्य स्वयं के प्रयासों से प्राप्त नही कर सकता। ईश्वरीय प्रेम, आत्मसमर्पण, समाज के सदस्यों के प्रति निःस्वार्थ सेवा द्वारा ही वह ईश्वरीय करूणा का पात्र बनता है। तभी वह अशुभ से मुक्त हो सकता है।

ईसाई— धर्म की नीति—मीमांसा

नैतिकता ईसाई धर्म का केन्द्र बिन्दु है। दया, न्याय सहानुभूति, मित्रता परोपकार, क्षमा, दान, नम्रता, आत्मबलिदान आदि ईसाई नीतिशास्त्र के प्रमुख सद्गुण है। इस धर्म के नैतिक विचार ईसा मसीह के उपदेशों पर ही आधारित है। इन सद्गुणो की अनुपालना के लिये हृदय की विशालता और आन्तरिक शुद्धि अनिवार्य है पवित्र हृदय वाला व्यक्ति ही मुक्ति प्राप्त करने के योग्य है।

नैतिकता के पालन, ईश्वर प्रेम एवं विश्वास के द्वारा मुक्ति संभव है। ईश्वर कृपा एवं ईसामसीह में विश्वास द्वारा मनुष्य अपना जीवन सुखमय कर सकता है। मुक्ति में मनुष्य ईश्वर से एकाकार नही करता, उसकी स्वतंत्र सत्ता बनी रहती है।

पर्वत पर दिया गया उपदेश

ईसाई धर्म में ईसा मसीह द्वारा पर्वत पर दिये गए उपदेशों का विशेष महत्व है। अनुयायी इसका अत्यन्त श्रद्धा से अनुसरण करते है। उपदेश निम्न प्रकार से प्रारंभ होता है।

1. जिनके अन्दर दीनभाव उत्पन्न हो गया है, वे धन्य है क्योंकि ईश्वर का साम्राज्य उन्हीं को प्राप्त होगा।
2. विनयशील पुरूष धन्य है क्योंकि वे ही ईश्वर की दया प्राप्त कर सकेंगे।
3. दयालू व्यक्ति धन्य है क्योंकि उन्हें ही ईश्वरीय दया प्राप्त हो सकेगी।
4. जिनका अन्तः करण शुद्ध है, वे धन्य है क्योंकि ईश्वर का साक्षात्कार उन्हें ही होगा।

पर्वत पर दिये गए उपरोक्त उपदेशों का लक्ष्य धर्म को आण्डम्बरों से मुक्त करवाना तथा मानव हृदय को परिवर्तित करना था। मानवीय व्यभिचार के दण्ड स्वरूप कठोर नीति के स्थान पर ईसा मसीह कहते है— ''जो कोई बुरे मन से किसी स्त्री को देख भी लेता है, वह अपने मन में उससे व्यभिचार कर चुका। यदि तुम्हारी दाई ऑख तुम्हे ठोकर दे तो उसे निकाल कर फेंक दो, क्योंकि तुम्हारे लिये भला है कि एक अंग का नाश हो, और सारा शरीर नरक से बचे।''

जो मनुष्य अपने शत्रु से भी प्रेमभाव रखता है, वह अपने को ईश्वर का पुत्र कहलाने का अधिकार रख सकता है। ''दान गुप्त होना चाहिये, लोगों को दिखलाने के लिये दान न करो'' ईसा द्वारा कहे गए उपरोक्त विचारों के पीछे एक बड़ा उद्देश्य नीहित है। वे पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य उतारना चाहते थे अर्थात विनीत और नम्र व्यक्तियों का राज। जिसमें सभी भातृत्व भाव से रहे और सभी को एक ही पिता की सन्तान समझा जाय।

बपतिस्मा (Baptism) – प्रायः सभी धर्मों में मुक्ति के लिये बाह्य शुद्धि (शारीरिक) और आन्तरिक शुद्धि को आवश्यक मानते है। ईसाई धर्म के अनुसार जड़ अशुभ है इसलिये शरीर को शुद्धि आवश्यक है। प्रारंभिक ईसाई धर्म में बपतिस्मा को पाप के निवारण के लिये आवश्यक माना। वास्तव में 'बपतिस्मा' एक संस्कार है। जिसके द्वारा वह अपने शरीर को शुद्ध बनाये रख सकता है और तब ही वह ईसा के प्रेम का पात्र बन सकता है।

पाप भौतिक अपवित्रता का दूसरा नाम है। जल एवं अग्नि शुद्धि का साधन है। ईसाई धर्म में शुद्धता और पवित्रता के लिये जल को साधन माना गया है। अग्नि को भी शुद्धि का माध्यम माना गया है।

ईसाई धर्म के सम्प्रदाय

मध्यकाल में गिरजाघर को, ईसा और उनके आदर्शो का प्राप्त करने का एक मात्र माध्यम माना जाता था, परन्तु कालान्तर में गिरजाघर व्यक्ति विशेष (पोप) और प्रभुता का केन्द्रस्थल बन गया। पॉप स्वयं को ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर मनमाने अत्याचार, अन्याय करने लगे। प्रतिक्रियावश मार्टिन लूथर ने पोप के विरूद्ध आवाज उठाई। इसी के पश्चात् ईसाई धर्म में दो भेद या सम्प्रदाय उभर कर सामने आये –

1. कैथोलिक 2. प्रोटेस्टैंट

1. कैथोलिक–ईसाई, पॉप ओर चर्च की प्रभुता, गिरजाघर का महत्त्व, पॉप को धर्माध्यक्ष एवं सन्देह से मुक्त सत्ता के रूप में स्वीकार करते है। बाइबल का अर्थ लगाने का एक मात्र अधिकार पोप का है।

2. प्रोटेस्टैंट– ईसाई गिरजाघर की प्रभुता का खण्डन करते है। प्रमुखता, ईश्वर एवं ईसा पर विश्वास रखना है। पॉप को पिता कहना अनुचित है, क्योंकि 'पिता' एक ही है, जो स्वर्ग में रहता हैं। पॉप क्षमा प्रदान करने का अधिकारी भी नही है।

ईसाई धर्म और यहूदी धर्म

ईसाई धर्म का उद्भव यहूदी धर्म से माना जाता है। यहूदी धर्म की कुछ ऐसी मान्यताऐं रही है, जो ईसाई धर्म का आधार सिद्ध हुई। यहूदी धर्म का ऐकेश्वरवाद, नैतिक विचार, और मुक्ति संबंधी धारणा से ईसाई धर्म प्रभावित हुआ।

यहूदी धर्म के संस्थापक 'मूसा' है और ईसाई धर्म के स्थापक 'जिसस' है। इन दोनों के द्वारा स्थापित धर्म में कुछ भिन्नताऐं पाई जाती है, जो निम्न लिखित है –

1. यहूदी धर्म में ईश्वर करूणामय होते हुए भी मुख्य रूप से न्यायी है। इनका धर्म मुख्यातया कर्मवादी है। जबकि ईसाई धर्म ईश्वर को, मुख्यतः प्रेममय और करूणामय माना है।

   दूसरी ओर ईसाई धर्म ईश्वरीय कृपा की धारणा पर अधिक बल देते हुए मानते है कि व्यक्तिगत कर्म द्वारा मुक्ति संभव नहीं, बल्कि ईसामसीह और उनकी क्रुशीय मृत्यु को उद्धार के मार्ग के रूप में विश्वास करने से ही पाप से मुक्त हो सकता है। अतः कर्म नही बल्कि भक्ति और ईश्वरीय कृपा पर पूर्ण विश्वास से ही मुक्ति संभव है।
2. दोनों ही धर्म 'बाइबिल' को धार्मिक ग्रंथ मानते है किन्तु जहाँ यहूदी धर्म बाइबिल के प्राचीन विधान को मान्यता देते है, वही ईसाई धर्म बाइबिल के नवीन विधान को मान्यता देते है।
3. यहूदी धर्म में एकेश्वरबाद को स्वीकार किया गया है जबकि ईसाई धर्म में त्र्येकेश्वरवाद को स्वीकार किया गया। यहूदी, ईसाई धर्म के त्र्येक परमेश्वरवाद, अवतारवाद स्वीकार नही करते।
4. यहूदी धर्म के अनुसार मनुष्य और ईश्वर के बीच साक्षात संबंध संभव है। इसलिये ये ईसाई धर्म के समान न तो ईसा को ईश्वर का पुत्र और न ही ईसा को मुनष्य और ईश्वर को मध्यस्थ रूप में स्वीकार करते है। इनकी मान्यता है कि यदि ईश्वर का अवतरण और वह भी मनुष्य देह (ईसा) रूप में स्वीकार किया जाता है (जैसा कि ईसाई धर्म कहता है) तो यह ईश्वर की निंदा करना होगा।
5. यहूदी धर्म पारिवारिक जीवन पर अधिक बल देते है जबकि ईसाई धर्म सन्यासवाद का समर्थन करता है।
6. ईसाई धर्म के अनुसार 'ईसा' ईश्वर के पुत्र है इसलिये 'ईसा' सवौच्च है, किन्तु यहूदी धर्म का कहना है कि वे ईसा को ईश्वर का पुत्र नही मानते। यही नहीं, क्योंकि ईसा ने स्वयं को पैगंबर और 'मूसा' इब्राहिम से स्वयं को अधिक महत्वपूर्ण बताया इसलिये वह (यहूदी धर्म) ईसा को स्वीकार नही करते। आज भी यहूदी धर्म अपने 'मसीहा' की प्रतीक्षा कर रहे है।
7. प्राचीन विधान (ऑल्ड रेस्टामेन्ट) में उपलब्ध शिक्षाओं को ईसा ने अपने 'शैलोपदेश' में अधिक तार्किक एवं संगत रूप में प्रस्तुत किया।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि चमत्कार पूर्ण आध्यात्मिक व्यक्तित्व के धनी, ईसा मसीह द्वारा स्थापित ईसाई धर्म को संसार में अनूठा स्थान प्राप्त है। उन्होंने दूसरो को मृत्यु से बचाया किन्तु स्वयं के सूली पर चढ़ाने के लिये तैयार रहे। मनुष्य के पापों के निवारण हेतु अपने प्राणों की आहूति दे दी। ऐसा उदाहरण विश्व इतिहास में मिलना कठिन हैं। ईसाई धर्म यहूदी धर्म की त्रुटियों को दूर कर विश्व के इतिहास में, संगत धर्म के रूप में प्रतिष्ठित है।

(iii) इस्लाम धर्म–पंथ

इस्लाम धर्म के जन्मदाता हजरत मौहम्मद का जन्म अरब देश के मक्का नगर में 570 ईस्वी में हुआ। इनके पिता एक

साधारण व्यापारी थे। बचपन से ही मौहम्मद एक विचारशील व्यक्ति थे। अल्प आयु में इन्हें दौरा पड़ जाया करता था। इस अचेतन अवस्था में वह ध्यानावस्थित मुद्रा में अल्लाह का ध्यान करते थे। अचेतन अवस्था से लौटने पर वह उपदेश दिया करते थे, जिसको ईश्वरीय प्रेरणा कहा गया है। इनके उपदेशों की विशेषता यह थी कि यह समाधि अवस्था में ही उनका उच्चारण करते थे, जिन्हें बाद में इनके शिष्यों ने एकत्रित कर लिया और 'कुरान' नाम दिया। इसी को इस्लाम धर्म का नाम दिया गया। इस्लाम का अर्थ है – 'शांति का मार्ग'

इस्लाम धर्म एक 'पैगंबरी' (Prophetic) या नबी मूलक धर्म है। हजरत मौहम्मद ने इस्लाम धर्म की स्थापना की। इस्लाम के अनुसार हजरत मुहम्मद ने ईश्वर संबंधी शिक्षा को अन्तिम रूप में विश्व के समक्ष रखा है। इस्लाम में मुहम्मद को 'रसूल' या 'अल्लाह' का संदेशवाहक माना जाता है। ''अल्लाह को छोड़कर कोई दूसरा ईश्वर नहीं और मुहम्मद उसके पैगंबर (रसूल) है।'' यह इस्लाम की मूल मान्यता है।

इस्लाम के सिद्धान्तों का प्रतिपादन मक्का से ही प्रांरभ किया किन्तु वहॉ अत्यधिक विरोध एवं मुहम्मद साहब का जीवन संकट में पड़ जाने के कारण मुहम्मद मदीना पहुॅचे। वही से इस्लाम धर्म का प्रचार एवं प्रसार सम्पूर्ण अरब देशों में हुआ।

धर्मग्रंथ– इस्लाम के अन्तर्गत 'कुरान' को श्रुत ग्रंथ ;त्मअमंसमकद्ध माना जाता है। दूसरे शब्दो में इसे 'अल्लाह की वाणी' समझा जाता है, जो मौहम्मद के माध्यम से विश्व को प्राप्त हुई है।

इस्लाम में अनेक लोगों का विश्वास है कि कुरान की असली प्रतिलिपि स्वर्ग में रखी हुई है 'कुरान' के अतिरिक्त इस्लाम में 'सुन्नाह' या 'हदीस' को भी मान्यता दी गई है। इसका संबंध मुहम्मद के जीवन, वचन और व्यवहार से है।

इस्लाम में ईश्वर (अल्लाह) विचार

इस्लाम र्धम एकेश्वरवादी धर्म है। 'कुरान' शरीफ के अनुसार इस संसार का जन्मदाता अल्लाह है और जगत के जितने भी जीव है व सब अल्लाह के बन्दे (दास) है। इसी कारण से कुरान में अल्लाह का अथाह महत्त्व बतलाने के साथ–साथ उसके कार्य में अटूट आस्था का होना आवश्यक बतलाया गया है। अल्लाह में आस्था के अतिरिक्त किसी और प्रकार से इस जगत के निर्माणकर्त्ता की उपासना करना वर्जित है। अल्लाह के प्रत्येक बन्दे को कयामत के अन्तिम समय तक अल्लाह के न्याय में विश्वास रखना होता है। कुरान शरीफ में प्रत्येक व्यक्ति को भले कर्म करने में विश्वास रखना चाहिए।

इस्लाम का अर्थ है, वह धर्म जिसमें व्यक्ति अपने को ईश्वर की इच्छा पर अर्पित कर दे। इस्लाम को स्वीकार करने वाले को 'मुसलमान' कहा जाता है। 'मुसलमान' वह है, जो ईश्वर के एकत्व (तौहिद) में पूरे मन से विश्वास (ईमान) रखता है, और इसे अपने वचन एवं आचरण द्वारा व्यक्त करता है।

मौहम्मद का मानव के लिये मुख्य रूप से यह संदेश है कि बहुईश्वरवाद का, मूर्तिपूजा का, नास्तिकों का और द्वैतवाद का विरोध करना चाहिए। वास्तव में मुसलमान वह है जो नमाज (प्रार्थना) पढ़ता है, रोजा रखता है, जीवन में एक बार मक्का अवश्य जाता है, दान देता है अपने वादे को पूरा करता है तथा दुविधा के समय शान्ति से कार्य करता है। कुरान शरीफ के 11 वें अध्याय के अनुसार ''अल्लाह पर सब कुछ आधारित है, वह न उत्पन्न करता है और न ही उत्पन्न किया जाता है और उसके समान कोई भी नही है।''

मानव विचार– इस्लाम के अनुसार मानव की सृष्टि ईश्वर ने सूक्ष्म मिट्टी से की है। ईश्वर ने मनुष्यों को देवदूतों (Angels) से अधिक ऊॅचा स्थान दिया है। यह बात इस बात से प्रमाणित होता है कि ईश्वर ने देवदूतों को प्रथम मानव–आदम के सामने सिर झुकाने को कहा। आदम को देवदूतों से ऊपर इसलिये माना गया, क्योंकि उसमें स्मृति और सोचने समझने की क्षमता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य में संकल्प–स्वातंत्र्य है और वह अच्छे और बुरे के बीच चुनाव कर सकता है।

मानव ईश्वर से अलग और स्वतंत्र अस्तित्व रखता है किन्तु इस्लाम में मानव की सत्ता को ईश्वर के सामने बहुत छोटा माना गया है। इस्लाम के अनुसार हर व्यक्ति की तकदीर पहले से ही ईश्वर द्वारा पूर्व निर्धारित है।

अन्तिम नियति– अन्य धर्मों के समान इस्लाम में भी 'पुनरूत्थान', 'स्वर्ग–नरक' और 'कयामत का दिन' की अवधारणा पायी जाती है। 'कुरान' में बार–बार कयामत के दिन का उल्लेख किया गया है। जब सभी को उनके कर्मो के अनुसार दण्ड और पुरस्कार दिया जायेगा। कयामत के दिन तुरही बजायी जायेगी और सभी मुर्दे फिर से जी उठेंगे। अल्लाह और पैगंम्बर में विश्वास रखने वाले को स्वर्ग और अविश्वास करने वाले के नरक भेज दिया जायेगा। इस पुनरूत्थान के बाद फिर मृत्यु नहीं होगी।

इस्लाम में उपासना

इस्लाम धर्म के अनुसार केवल कुरान–हदीस के ज्ञान से कोई मुसलमान नही बन जाता है। इसके लिये इस्लाम में बताऐं गए कर्मो को रखना जरूरी है। मुसलमान का पहला कर्म है – ''ला इलाह इल्लिल्लाह मुहम्मदन् रसूल्लाही'' अर्थात् अल्लाह के सिवाय और कोई पूजनीय नहीं है तथा मौहम्मद इसके रसूल है'' पर पूर्ण विश्वास करना।

उस अल्लाह की पूजा अराधना करने के लिये किसी माध्यम (मूर्ति आदि) अथवा पुजारी की आवश्यकता नही। कुरान के अनुसार निम्नलिखित पॉच प्रमुख कर्म प्रत्येक मुसलमान को

पालन करने चाहिये :–

1. **मत का उच्चारण करना**– इस्लाम धर्म की प्रतिज्ञा 'ला इलाह इल्लिल्लाह मुहम्मदन् रसूल्लाही' का दिन में कम से कम एक बार दिल से समझते हुए शुद्ध रूप से उच्चारण करना।
2. प्रतिदिन पॉच बार नमाज में कलमा पढ़ना।
3. रमजान के माह में रोजा (व्रत) रखना।
4. धन–सामर्थ्य रहने पर हज करना।
5. मुस्लिम समाज की सहायता के लिये ढाई प्रतिशत के हिसाब से जकात (कर का नाम) देना

हजरत मौहम्मद ने इस्लाम के अन्तर्गत छोटे–बड़े, गरीब–अमीर में समानता की शिक्षा दी। इस समाज में किसी प्रकार के भेद–भाव को कोई स्थान नहीं है। उन्होंने कुरान शरीफ में निम्न शिक्षाऐं दी है –

1. अल्लाह एक और अनादि हैं
2. मनुष्य का जगत में केवल एक बार जन्म होता है।
3. मृत्यु के बाद जब शव कब्र में रखा जाता है तो दूसरा जीवन प्रारंभ होता है।
4. कयामत (महाप्रलय) के बाद नया जीवन प्रारंम्भ होता है कब्र में केवल जो हड्डी शेष रह जाती है, कयामत के दिन उसी से नया जीवन प्रारंभ होता है।
5. कुरान में जीवन का मुख्य उद्देश्य अल्लाह के साथ मिलना बताया है।
6. इस्लाम कोई व्यक्तिगत धर्म नहीं, इसका क्षेत्र सम्पूर्ण समाज हैं। इसमें राजनीति, न्याय, शासन प्रबंध, विवाह, तलाक, युद्ध और सन्धि आदि सभी के बारे में व्यापक रूप से समावेश किया गया है।
7. जिहाद शब्द का अर्थ 'संघर्ष'। संघर्ष के तीन क्षेत्र है– 1. दिखाई देने वाले शत्रु के विरूद्ध 2. अप्रत्यक्ष शत्रु के विरूद्ध संघर्ष जिसको कुरान में 'जिन' कहा गया है। 3. निम्न इन्द्रियों से संघर्ष। किन्तु बाद में जिहाद स्वरूप बदल दिया गया। पृथ्वी को दो भागों में बाट दिया –

   (अ) दारूल इस्लाम– शान्ति का देश जहॉ मुस्लिम जनता स्वतंत्र एवं प्रसन्न रूप से शासन करती है।

   (ब) दारूल हरब– अर्थात् युद्ध स्थल, जिस का तात्पर्य था कि ऐसे देश जिन से युद्ध करने से सबब हासिल होता है। इस प्रकार इस्लाम के अतिरिक्त धर्मावलम्बियों से युद्ध करना एक धार्मिक कृत्य बन गया। इसे 'जिहाद' नाम दिया गया।

नीति अथवा आचार संबंधी विचार– इस्लाम के नैतिक विचारों का उल्लेख 'कुरान' में मिलता है। सम्पूर्ण नैतिकता का मापदण्ड 'कुरान' ही है। वे कर्म जो कुरान द्वारा आदेशित है, उचित हैं और जिन कर्मों का निषेध किया गया हैं, अनुचित हैं।

इस्लाम में मनुष्य के सद्गुण और दुर्गुण दोनों की विवेचना की गई है।

सद्गुण– शुद्धता, ईमानदारी, मित्रता, क्षमा, सहानुभूति, न्याय, प्रेम, करूणा, दान, नम्रता, मर्यादा, कृतज्ञता, धैर्य आदि।

दुर्गुण– क्रोध, दुर्वचन, हत्या, लोभ, चुगली, मद्यपान, जुआ खेलना, रिश्वत, मिथ्यावचन, आत्महत्या, ईर्ष्या आदि दुर्गुण बताया है।

इस्लाम के सम्प्रदाय– मुहम्मद साहब के मृत्यु के पश्चात् इस्लाम धर्म मुख्य रूप से दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया– 1. शिया 2. सुन्नी

मुहम्मद साहब के दामाद 'हजरत अली' के शहीद पुत्र इमाम हुसैन के अनुयायी 'शिया' कहलाते है।

मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी (खलीफा) अबूबकर के अनुयायी सुन्नी कहलाते है।

सूफीमत

मुसलमानों में प्रबल आध्यात्मिक भाव के कारण सूफीमत का जन्म हुआ। सूफी मत में अध्यात्म, धर्म का प्राण है। इसी कारण संभवतः इस मत में धर्म के बाध्य रूप कर्मकाण्ड की उपेक्षा की गई है।

कुरान में अल्लाह और उसके बन्दों का संबंध मालिक और गुलाम जैसा बताया गया है लेकिन सूफी मत प्रेम के संबंध को मानते है।

'सूफी' शब्द के अनेक अर्थ किये गये है। कुछ लोगों की मान्यता हे कि 'सूफी' वह व्यक्ति है जो सूफ (अर्थात ऊनी कपड़े) पहनता है। तकनीकी रूप से सूफी उस मुसलमान संन्यासी को कहा जाता है, जो ईश्वर के साथ सायुज्य (एकत्व) कर इस्लामी पूर्णता को प्राप्त करता है।

जो व्यक्ति पवित्र और धार्मिक थे, उन्हें भी सूफी नाम से संबंधित किया जाता था।

कुछ दूसरे विद्वानों के अनुसार वे पवित्र किन्तु निराश्रित व्यक्ति जिन्होंने अपना समय पूजा और ममन में 'सुफ्फ' पर बैठकर व्यतीत किया वे आगे चलकर 'सूफी' कहलाये। यह सुफ्फ ;ज्मततंबमद्ध मदीना की मस्जिद में मौहम्मद साहब द्वारा निर्मित किया गया था।

सूफीमत का विकास मौहम्मद साहब के रहस्यात्मक सिद्धान्तों की पराकाष्ठा माना जा सकता है।

सूफीमत सर्वेश्वरवादी मत (सभी वस्तुए ईश्वरमय है) को स्वीकार करते है। इस मत के अनुसार मानव शुद्ध हृदय और प्रेम

के द्वारा ईश्वर से एकाकार हो सकता है।

इनका साधना मंत्र— 'अनल हक' (मै ही ईश्वर हूँ) ईश्वर प्राप्ति हेतु कठोर तपस्या उपवास और भावपूर्ण प्रार्थना से संभव है। जगत अपूर्ण और अशुभ है अतः सूफीमत में भौतिक जगत की उपेक्षा की गई हैं। जगत के प्रति उदासीन होकर जीव विरह रूपी साधना द्वारा परमात्मा का चिन्तन करता हैं और अन्त में उसके अहम् के नाश के साथ वह ईश्वरमय हो जाता है। इस अवस्था के 'फना' कहते हैं। सूफी साधना में जप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस जप के लिये संगीत आवश्यक है। इस्लाम संगीत का विरोध करता है किन्तु सूफी संगीत द्वारा धार्मिक वातावरण का निर्माण करते है जिससे ईश्वर की साधना हो सके।

इस्लाम धर्म की विशेषताएं—

इस्लाम धर्म में कुछ ऐसी विशेष्ताऐं है, जिसके कारण वह अन्य धर्मों से अपना विशिष्ट स्वरूप रखता हैं। वे विशेषताएॅं निम्न है :—

1. इस्लाम धर्म ऐकेश्वरवाद (ईश्वर एक है) में विश्वास करते है। यही कारण है कि वे मूर्तिपूजा तथा अनेकश्वरवाद का विरोध करते है।
2. माता—पिता की सम्पति पर पुरूषों के समान ही स्त्रियों की भी भागीदारी है।
3. बहु—विवाह की धारणा में विश्वास करना। इसके अन्तर्गत विधवाओं और उनके संबंधियों को कष्टमय जीवन से छुटकारा दिलवाने की भावना नीहित हैं किन्तु 'कुरान' में स्पष्ट लिखा है कि ''यथेष्छ विवाह करो — एक, दो, तीन, चार परन्तु यदि भय हो कि प्रत्येक विवाहिता के साथ उचित व्यवहार नही कर सकेंगे तो एक ही विवाह पर सन्तोष करो'' (4:2:1)
4. अपराध के लिये कठोर दण्ड व्यवस्था को स्वीकार करना। प्राण के बदले प्राण लेना व चोरी के लिये हाथ काट डालना, व्यमिचार के लिये सौ कोड़े मारना आदि। इस प्रकार के दण्ड व्यवस्था का आधार अन्य व्यक्तियों में भय पैदा करना था, ताकि वे अपराध न करें।
5. भ्रातृत्व भाव को विकसित करने हेतु सामूहिक नमाज पर अधिक बल दिया गया है।
6. मानव सेवा की भावना के बढ़ावा देने के लिये दान अथवा खैरात की व्यवस्था नैतिक आधार पर करना। मानव सेवा द्वारा मनुष्य 'अल्लाह' तक पहुॅंचने का पात्र बन सकता है।

इस्लाम धर्म एवं ईसाई धर्म में समानताएं—

1. दोंनो पैगंबरी धर्म हैं। ईसाई धर्म का आधार ईसामसीह का उपदेश है। इस्लाम धर्म का आधार मुहम्मद साहब आदर्श है।
2. दोनों एकेश्वरवादी धर्म है, जगत और मनुष्य दोनों ईश्वर की सृष्टि है।
3. दोनों ने अपने धार्मिक ग्रंथों को 'श्रुत' माना।
4. दोनों मुक्ति, स्वर्ग—नरक और कयामत के दिन में विश्वास करते है।

इस्लाम धर्म एवं ईसाई धर्म में असमानताएं—

1. ईसाई धर्म में 'जिसस' को सर्वोच्च महत्त्व दिया जाता है और मुहम्मद साहब को पैगंबर के रूप में मान्यता नहीं दी जाती है जबकि इस्लाम में मुहम्मद साहब को सर्वोच्च पद देते हुए 'जिसस' को पैगंबर तो मानते है, लेकिन उन्हें 'ईश्वर—पुत्र' या 'अवतार' नही माना। इस्लाम, ईसाई धर्म की मूल मान्यता कि जिसस को सूली पर चढ़ाया गया था, को भी अस्वीकार करते है।
2. इस्लाम धर्म एकेश्वरवाद को स्वीकार करता है और इसलिये ईसाईधर्म द्वारा स्वीकृत 'त्रयेक परमेश्वर' की धारणा का विरोध करते हुए एकेश्वरवाद को स्वीकार किया।
3. ईसाई धर्म के अनुसार 'बाइबिल' 'श्रुत ग्रंथ' है जबकि इस्लाम धर्म के अनुसार 'कुरान' को 'श्रुत ग्रंथ' के रूप में सर्वाधिक महत्व दिया।
4. ईसाई धर्म के अनुसार मानव ईश्वर से एकाकार नहीं हो सकता परन्तु इस्लाम धर्म में 'अल्लाह' और मनुष्य के मध्य इतनी दूरी नहीं है, क्योंकि मनुष्य ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है।
5. दोनों धर्म ईश्वर को जगत का सृष्टा मानते है लेकिन इस्लाम धर्म में जगत में अशुभ की सत्ता नहीं हैं, किन्तु ईसाई धर्म अशुभ को वास्तविक मानते है।
6. इस्लाम धर्म के अनुसार मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। उसे ईश्वर की कृपा पर निर्भर नही रहना पड़ता, किन्तु ईसाई धर्म में ईश्वर की कृपा के बिना मनुष्य मुक्ति प्राप्त करने के योग्य नही बन सकता।
7. ईश्वर के गुणों के संबंध में भी जहॉं इस्लाम, ईश्वर के शक्ति पक्ष पर अत्यधिक बल देते है, वही ईसाई धर्म, ईश्वर में विवेकशीलता और क्षमाशीलता पर अत्यधिक बल दिया है।
8. उपासना संबंधी क्रियाओं को लेकर इस्लाम धर्म, धार्मिक क्रियाओं जैसे— उपवास रखना, दिन में पॉंच बार नमाज पढ़ना, खैरात देना, हज के लिये मक्का जाना आदि पर बहुत बल देते है। दूसरी और ईसाई धर्म में अन्तःकरण की शुद्धता, हृदय की विशालता पर अधिक बल दिया है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. किस धर्म के अनुसार 'जिसस' को 'ईश्वर–पुत्र' मानना (ईश्वर निंदा) के समान है–

   (अ) सिख धर्म (ब) हिन्दू धर्म

   (स) यहूदी धर्म (द) ईसाई धर्म

2. बाइबिल को प्राचीन विधान संबंधित है–

   (अ) यहूदी धर्म (ब) ईसाई धर्म

   (स) इस्लाम धर्म (द) बौद्ध धर्म

3. 'त्र्येक परमेश्वर' की धारणा को मानने वाला धर्म है–

   (अ) इस्लाम धर्म (ब) सिख धर्म

   (स) ईसाई धर्म (द) यहूदी धर्म

4. इस्लाम धर्म का ग्रंथ है–

   (अ) बाइबल (ब) गीता

   (स) कुरान (द) गुरू ग्रंथ

5. ईसा मसीह स्थापक है–

   (अ) सिख धर्म के (ब) बौद्ध धर्म के

   (स) यहूदी धर्म के (द) ईसाई धर्म के

6. इस्लाम धर्म के संस्थापक है–

   (अ) ईसा मसीह (ब) मौहम्मद

   (स) गुरू नानक (द) महावीर

7. जकात की धारण संबंधित है–

   (अ) ईसाई धर्म से (ब) इस्लाम धर्म से

   (स) यहूदी धर्म से (द) हिन्दू धर्म से

8. मानवता को पापों से मुक्ति दिलाने के लिये क्रूसीय मौत को स्वीकार करने वाले है –

   (अ) मौहम्मद साहब (ब) ईसा मसीह

   (स) गुरू नानक (द) महावीर

9. सूफी पंथ किस धर्म से संबंधित है–

   (अ) यहूदी धर्म से (ब) ईसाई धर्म से

   (स) इस्लाम धर्म से (द) हिन्दू धर्म से

10. पाप को उत्तराधिकार के रूप में मानते है –

    (अ) ईसाई धर्म (ब) इस्लाम धर्म

    (स) सूफी धर्म (द) यहूदी धर्म

अति लघुउत्तरात्मक प्रश्न

1. प्राचीन विधान में किस का वर्णन किया गया है?
2. यहूदी धर्म के अनुसार ईश्वर के अशोभनीय गुण क्या है?
3. यहूदी धर्म में जेहोवाह ;श्रमीवअीद्ध कौन है?
4. ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर और मनुष्य के बीच कौनसा संबंध है?
5. इस्लाम में मुहम्मद को क्या माना जाता है?
6. 'इस्लाम' का क्या अर्थ है?
7. 'जिहाद' शब्द का क्या अभिप्राय है?
8. इस्लाम धर्म में 'दारूल इस्लाम' किसे कहा है?
9. इस्लाम धर्म में 'जकात' क्या है?
10. ईसाई धर्म में 'बपतिस्मा' क्या है?
11. कैथोलिक ईसाई किसे कहा जाता है?
12. मार्टिन लूथर ने किसका विरोध किया?

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

1. अशुभ के संबंध में यहूदी धर्म के विचार को स्पष्ट कीजिये।
2. कर्म सिद्धान्त और पुनर्जन्म के विषय में यहूदी धर्म के क्या विचार है?
3. यहूदी धर्म के न्याय–दिवस को समझाइयें।
4. ईसाई धर्म के अनुसार जगत के स्वरूप को स्पष्ट कीजिये।
5. ईसाई धर्म पाप की धारणा को समझाइये।
6. ईसाई धर्म में अशुभ के प्रकारों की व्याख्या कीजिये
7. यहूदी धर्म ओर ईसाई धर्म में क्या भिन्नता है?
8. इस्लाम धर्म में मौहम्मद साहब को किस रूप में स्वीकार किया गया है?
9. इस्लाम धर्म के मानव संबंधी धारणा को समझाइये।
10. इस्लाम धर्म और ईसाई धर्म में क्या भेद है?

निबंधात्मक प्रश्न

1. यहूदी धर्म के नीति संबंधी विचारों की व्याख्या कीजिये।
2. ईसाई धर्म में ईश्वर की धारणा क्या है? व्याख्या कीजिये।
3. ईस्लाम का अर्थ बताते हुए उनके उपासना संबंधी विचारों की व्याख्या कीजिये।
4. सूफीमत क्या है? इनके विचारों को स्पष्ट कीजिये।

बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर

1. द 2. अ 3. स 4. स 5. द

6. ब 7. ब 8. ब 9. स 10. अ

सन्दर्भ पुस्तकें

1. पाश्चात्य दर्शन – चन्द्रधर शर्मा
2. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास – प्रो. दयाकृष्ण
3. नीति शास्त्र के मूल सिद्वान्त–डा. वेद प्रकाश वर्मा
4. नीति शास्त्र – डा. जे. एन. सिन्हा
5. भारतीय नीति शास्त्र – डा. दिवाकर पाठक
6. धर्म दर्शन की रूपरेखा – डा. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा
7. धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन– डा. शिवभानु सिंह
8. ग्रीक एवं मध्ययुगीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास – जगदीश सहाय श्रीवास्तव

अध्याय – 9
पारसी, सिख एवं ताओ धर्म पंथ

(i) पारसी धर्म पंथ का सामान्य परिचय एवं विशेषताएं–

पारसी धर्म विश्व के प्रमुख धर्मो में एक महत्वपूर्ण स्थान है। इस धर्म के संस्थापक महात्मा जरथुस्त्र माने जाते हैं। ये जोरोष्टर (Zoroaster) के नाम से विख्यात थे। महात्मा जोरोष्टर द्वारा प्रवर्तित इस धर्म को जोरोष्ट्रीज्म (zoroasterism) भी कहते हैं। जरथुस्त्र का मूल नाम स्पितमा था। जिस प्रकार सिद्धार्थ ज्ञान प्राप्ति के पश्चात महात्मा बुद्ध कहलाये, उसी प्रकार स्पितमा को सिद्धि प्राप्ति के बाद लोगों ने जरथुस्त्र के नाम से विभूषित किया। जरथुस्त्र शब्द 'जरत' और 'उस्त्र' से मिलकर बना है। 'जरत' का अर्थ है –स्वर्ण तथा 'उस्त्र' का अर्थ है–'प्रभा मण्डित'। इस प्रकार जरथुस्त्र का अर्थ हुआ स्वर्णिम प्रभा से मण्डित व्यक्ति। इन्हें एक देवदूत के रूप में स्वीकार किया जाता है। इनका जन्म ईरान में हुआ था। ईश्वर स्वयं जरथुस्त्र के समक्ष प्रकट हुए थे। जिस प्रकार इस्लाम धर्म के संस्थापक मोहम्मद साहब के समक्ष जिब्राइल प्रकट हुए थे, उसी प्रकार जरथुस्त्र के समक्ष ईश्वर प्रकट हुए थे। इसलिए पारसी–धर्म को भी प्रकाशित धर्मो की श्रेणी में रखा जाता है।

जरथुस्त्र को 30 वर्ष की उम्र में सिद्धि प्राप्त हुई थी। सिद्धि प्राप्ति के पश्चात इन्होंने इस नवीन धर्म के उपदेशों को जनसाधारण तक पहुंचना आरम्भ किया। सर्वप्रथम इनके भतीजे ने इनके धर्म को स्वीकार किया। धार्मिक प्रचार प्रसार के दौरान इन्हें अनेक विरोधों का सामना करना पडा। प्रचलित धर्म के विरूद्ध नवीन धर्म का प्रचार करने के कारण शासक–वर्ग और पुरोहितजन इनके शत्रु हो गये। कुछ समय के पश्चात बैक्टेरिया के राजा इस धर्म के अनुयायी हो गये। बाद में ईरान के राजा ने भी इस धर्म को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार समस्त ईरान में पारसी धर्म प्रचलित हो गया। पारसी धर्म में नैतिकता पर विशेष बल दिया गया है। यह धर्म शुभ और अशुभ नामक शक्तियों के मध्य संघर्ष का प्रतिनिधित्व करता है। शुभ और अशुभ के संघर्ष को इस धर्म का केन्द्र बिन्दु माना गया है। अशुभ पर शुभ की विजय में नैतिकता की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। इसलिए नैतिकता इस धर्म का आधार है।

ईरान में इस्लाम के प्रभुत्व के स्थापित हो जाने के पश्चात पारसी धर्म के अनुयायियों का वहां रहना कठिन हो गया। कुछ समय तक वे अपने मूल देश को छोडकर बाहर घूमते रहे, किन्तु उन्हें कहीं भी प्रश्रय नहीं मिला। अन्त में जब उन्होनें गुजरात से भारत में प्रवेश किया तो स्थानीय तत्कालीन हिन्दू राजा ने उनका भव्य स्वागत किया। राजा के आदेशानुसार उन्हें पूर्ण सहायता और आश्रय दिया गया। यह तथ्य हिन्दू धर्म की सहिष्णुता और उदारता का परिचायक है। फारस की ओर से आने वाले ये लोग भारत में पारसी तथा इनका धर्म पारसी धर्म कहलाने लगा।

पारसी धर्म का प्रमुख धर्म–ग्रन्थ – पारसी धर्म का प्रमुख ग्रन्थ 'अवेस्ता' (Avesta) है। यह जेन्द भाषा में लिखा गया है। जेन्द (zend) संस्कृत के समरूप भाषा है। अवेस्ता का शाब्दिक अर्थ है–ज्ञान। अवेस्ता निम्न पांच भागों में विभक्त है –

1.यस्न (The Yasna) – यस्न अवेस्ता का महत्वपूर्ण अंग है। इसमें यज्ञ, पूजा–विधान का समावेश है। इसमें जरथुस्त्र के व्यक्तिगत वचन एवं उपदेश हैं। ये गाथा या मन्त्र कहलाता है।

2. वेन्दिदाद (The Vendidad)- इसमें शुद्धि के नियमों की चर्चा है। शत्रुओं के संहार सम्बन्धी विधानों की व्याख्या इसमें निहित है।

3. विस्पेरद (The Visperad)- इसमें पारसी कर्मकाण्ड का उल्लेख हुआ है। आराधना के समय इसके नियमों का पालन किया जाता है।

4. यस्त (Yashts)- इसमें मन्त्रों का संकलन है। इसमें देवताओं की स्तुतियों का वर्णन है, जिनका पालन विशेष अवसर पर किया जाता है।

5. खोर्द अवेस्ता (Khorda Avesta)- यह छोटे अवेस्ता के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें उपासना के समय की जाने वाली स्तुतियों का वर्णन है।

पारसी धर्म में ईश्वर का स्वरूप :– पारसी धर्म में ईश्वर को अहुरमजदा (Ahura Mazda) कहा गया है। ईश्वर सर्व शक्तिमान, सर्वव्यापी और सर्वज्ञ है। वह इस जगत का सृष्टा, पालनकर्ता और प्रलयकर्ता है। ईश्वर का यह स्वरूप हिन्दू धर्म में भी स्वीकार किया गया है। पारसी–धर्म में ईश्वर न्यायप्रिय और दयालु माना गया है। ईश्वर में अनेक गुण हैं। इन अनेक गुणों में से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं– प्रकाश (Light), शुभमन (Good mind), उचित (Right), धर्मनिष्ठा (Piety), सम्पूर्णता (well-being), प्रभुत्व (Dominion) और अमरत्व (immortality)। अवेस्ता ग्रन्थ में अहुरमजदा के गुणों की व्याख्या इस प्रकार की गई है–''अहुरमजदा सृष्टा, दीप्तिमान, तेजस्वी, महान और सर्वोत्तम है। वह सर्वाधिक सुन्दर, पूर्णतः अटल, बुद्धिमान और पूर्ण है। वह सर्वाधिक उदार आत्मा है।''

ईश्वर को सर्वदृष्टा अर्थात सब कुछ देखने वाला, सर्वशक्तिमान अर्थात ईश्वर की शक्ति अनन्त है तथा न्याय का पिता कहा गया है, क्योंकि ईश्वर ही न्याय को कायम करता है। अहुरमजदा को नैतिकता का संस्थापक माना गया है। वह शुभ कर्मो के लिए पुरस्कार तथा अशुभ कर्मो के लिए दण्ड देता है। अहुरमजदा मूलतः शुभ और अच्छाई के देवता है। विश्व प्रत्येक शुभ वस्तु का श्रेय अहुरमजदा को है। अहुरमजदा की सृजनात्मक इच्छा शक्ति के क्रियात्मक सिद्धान्त को स्पेनता मेन्यू (Spenta Mainyu) कहते हैं। यह एक पवित्र सत्ता है। यह अहुरमजदा में ही निवास करती है। यद्यपि यह ईश्वर का अंग किन्तु ईश्वर से भिन्न है। यह ईश्वर की सृजनात्मक शाक्ति का प्रतीक है। इसके द्वारा ईश्वर जगत की सृष्टि करता है। हिन्दू धर्म में ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति को माया और प्रकृति कहते हैं।

अहुरमजदा का विरोधी देवता अहरिमान (Ahriman) है। इन्हें अंगरामेन्यू (Angra Mainyu) भी कहते हैं। यह स्पेनतामेन्यू की विरोधी आत्मा है। इसकी तुलना अन्धकार से की गई है। अहुरमजदा और अहरिमान के मध्य निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। इन दोनों विरोधी शक्तियों के मध्य होने वाले निरन्तर संघर्ष के कारण कुछ विचारकों ने पारसी धर्म को द्वैतवादी स्वीकार किया है। किन्तु यह धारणा सही नहीं है। अहुरमजदा शाश्वत तत्व है, जबकि अहरिमान नाश्वान है। एक निश्चित समय के पश्चात अहरिमान का विनाश होता है। ज्योंही यह विश्व पूर्ण होगा, वैसे ही इस सत्ता का अन्त हो जायेगा। अहुरमजदा भूतकाल में था, वर्तमानकाल में है और भविष्य में भी रहेगा, किन्तु अहरिमान भूत में था, वर्तमान में है किन्तु भविष्य में समाप्त हो जायेगा। यह धर्म एक निश्चित समय का संकेत करता है, जब अहुरमजदा अहरिमान पर विजय प्राप्त करेगा। बारह हजार वर्ष के पश्चात अहुरमजदा अहरिमान पर विजय प्राप्त कर लेगा। इस प्रकार अहुरमजदा शाश्वत है, जबकि अहरिमान नश्वर। अतः पारसी धर्म एकेश्वरवाद का समर्थक है।

अशुभ की समस्या– अशुभ की समस्या प्रत्येक धर्म की एक प्रमुख समस्या है। पारसी धर्म में अशुभ की समस्या के समाधान के लिए तर्कसंगत प्रयास किया गया है। इस धर्म में अशुभ को वास्तविक माना गया है। अशुभ और शुभ के मध्य संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। पारसी धर्म के अनुसार अशुभ का कारण अहरिमान को माना गया है। यह शुभ का शत्रु है। यह विश्व में व्याप्त अशुभ, बुराई, पाप और अन्याय के लिए उत्तरदायी है। यह अन्धकार का प्रतीक है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में अशुभ के साथ संघर्ष करता है। इस धर्म के अनुसार यह विश्व अपनी सभी अवस्थाओं में अपूर्ण है। मनुष्य का कर्तव्य इसे पूर्ण बनाना है। यह विश्व एक युद्ध भूमि है। यहां प्रत्येक मनुष्य एक सैनिक के रूप में है। जो मनुष्य इस संग्राम से पलायन कर जाता है, वह कायर है। इस प्रकार मनुष्य और अहुरमजदा दोनों मिलकर अशुभ का विरोध करते हैं। मनुष्य का परम उद्‌देश्य सुख प्राप्त करना नहीं है अपितु शुभ के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना और अशुभ पर विजय प्राप्त करना है। जरथुस्त्र ने शुभ के साथ–साथ अशुभ के महत्व को भी स्वीकार किया है। जीवन में इन दोनों परस्पर विरोधी शक्तियों का महत्व है, क्योंकि अशुभ की उपस्थिति में ही शुभ का मूल्य ज्ञात होता है एक की उपस्थिति से दूसरे का मूल्य या महत्व जाना जाता है। जीवन में सुख जितना सहायक है, उतना ही दुःख भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि दुःख ही मनुष्य को संघर्षशील बनाता है। अशुभ के अभाव में शुभ का वास्तविक मूल्यांकन करना कठिन है। अतः पारसीधर्म में अशुभ को शुभ का मापदण्ड बताया गया है।

पारसी धर्म के मूल सिद्धान्त–पारसी धर्म के तीन मूलभूत सिद्धान्त हैं–

1. अहुरमज़्दा को ईश्वर के रूप में स्वीकार करना।
2. आत्मा की अमरता में विश्वास करना।
3. मनुष्य अपने विचार, कर्म आदि के लिए स्वयं उत्तरदायी है। पारसी धर्म भावी जीवन में विश्वास करता है। मृत्यु के उपरान्त आत्मा मृत शरीर के चारों ओर तीन दिन तक परिभ्रमण करती है। मृत्यु के चौथे दिन आत्मा के कर्मो का मूल्यांकन किया जाता है, तब आत्मा का सम्बन्ध संसार से टूट जाता है। आत्मा के लिए 'उर्वन' शब्द का प्रयोग किया गया है। मनुष्य द्वारा किये गये सत् कर्म और असत् कर्म के लिए जिम्मेदार आत्मा है। आत्मा को उसके कर्मों के अनुसार पुरस्कार और दण्ड मिलता है। आत्मा कर्म करने के लिए पूर्णतः स्वतंत्र है। अवेस्ता के अनुसार–'' मनुष्य अपने शुभ और अशुभ कर्मो के द्वारा स्वर्ग तथा नरक का भागी होता है।'' धार्मिक व्यक्तियों की आत्मा स्वर्ग में जाती है। पारसी धर्म में स्वर्ग की चार अवस्थाओं को स्वीकार किया गया है– अच्छे विचार की अवस्था, अच्छे शब्दों की अवस्था, अच्छे कर्मों की अवस्था तथा अनन्त प्रकाश की अवस्था। क्रूर कर्म करने वाले अधार्मिक व्यक्तियों की आत्मा नरक में जाती है। स्वर्ग की भांति नरक की भी चार अवस्थाओं को माना गया है। ये चार अवस्थाएं इस प्रकार है – बुरे विचारों की अवस्था, बुरे शब्दों की अवस्था, बुरे कर्मों की अवस्था तथा अनन्त अन्धकार की अवस्था। पारसी धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी मुक्ति के लिए स्वयं जिम्मेदार है। मुक्ति व्यक्ति के धार्मिक जीवन पर आधारित है। ज्ञान, भक्ति और कर्म मुक्ति के साधन है। इस धर्म में केवल वैयक्तिक मुक्ति पर ही बल नहीं दिया गया है अपितु सामूहिक मुक्ति पर बल दिया गया है। मनुष्य को केवल व्यक्तिगत मुक्ति की कामना ही नहीं करनी चाहिए अपितु समस्त मानव जाति की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। स्वयं शुभ बनना किन्तु दूसरों को शुभ बनाने के लिए सहायता न करना एक स्वार्थपूर्ण कार्य है। मानवीय जीवन

का उद्देश्य केवल निजी मुक्ति ही नहीं अपितु दूसरों को मुक्त करना है। जो मनुष्य सम्पूर्ण मानव जाति की मुक्ति की कामना करता है, Saviour कहलाता है। अन्तिम Saviour ईश्वर की सम्पूर्ण सृष्टि को मुक्त करेगा। असत्य, क्रोध, घृणा, दुःख, रोग, लालच और भय समाप्त हो जायेंगे। समस्त प्रकार के अशुभों का अन्त हो जायेगा। अहरिमान शक्तिहीन होकर अपनी पराजय स्वीकार कर लेगा। शुभ–अशुभ, सत्य–असत्य और धर्म–अधर्म का संघर्ष समाप्त हो जायेगा। अन्त में समस्त शुभत्व का आधार अहुरमजदा शेष रह जायेगा। पारसी–धर्म का यह दृष्टिकोण आशावाद से युक्त है।

नीतिशास्त्र– पारसी धर्म का नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। नैतिक–आदर्शो की दृष्टि से इस धर्म का नीतिशास्त्र के इतिहास अद्वितीय स्थान है। परोपकार इस धर्म का सारभूत आदर्श है। सबके साथ ईमानदारीपूर्वक व्यवहार करना इस धर्म का मूल मंत्र है। मनुष्य को कर्ज सुविचार और सुव्यवहार के साथ अदा करना चाहिए। नम्रता, दया, प्रेम, शान्ति, सत्यवादिता आदि नैतिक मूल्यों को महत्व दिया गया है। पारसी धर्म में स्वावलम्बन और आत्मनिर्भरता को प्रमुख सद्गुण माना गया है। शुद्धता को इस धर्म में ईश्वर के बाद प्रमुख स्थान दिया गया है। इस धर्म में अहिंसा को स्वीकार किया गया है, किन्तु विशेष परिस्थितियों में हिंसा का पालन अधर्म नहीं माना गया है। सांप, बाघ आदि हिंसक जन्तुओं के प्रति हिंसा की अनुमति दी गई है। पारसी धर्म में प्रतिद्वन्दियों का शक्तिपूर्वक सामाना करने का आदेश दिया गया है। अवेस्ता में कहा गया है–''दुश्मनों के साथ दुश्मन जैसा व्यवहार करो और मित्रों के साथ मित्र जैसा व्यवहार करो।''

पारसी धर्म में अन्तिम संस्कार विशेष ढंग से सम्पन्न किया जाता है। पारसी धर्मावलम्बी मृत देह को न तो जलाते है और न ही जमीन में दफनाते हैं। शव को पत्थर के ऊंचे चबूतरों पर अथवा वृक्ष या पहाड की चोटी पर रखा जाता है। शव का उपयोग गिद्ध आदि जीव अपनी भोजन सामग्री के रूप में करते हैं। अग्नि, भूमि और जल को पारसी धर्मावलम्बी पवित्र मानते हैं। इस प्रकार शव का अंतिम संस्कार करने पर ये सब दूषित होने से बच जाते हैं।

बालक–बालिकाओं को पन्द्रह वर्ष की अवस्था में कुस्ती देना अनिवार्य माना गया है। कुस्ती भेड की ऊन के धागों से निर्मित होता है। भेड को निर्दोष प्राणी समझा जाता है। कुस्ती धारण करने वाले को भेड की तरह निर्दोष होना चाहिए। इस धर्म में सुरदेह धारण करने की प्रथा भी प्रचलित है। सुरदेह उजले कपडे से निर्मित होता है। उजला रंग पवित्रता का प्रतीक है। इसे धारण कर पारसी पवित्रता को शिरोधार्य करता है। पारसी धर्मावलम्बी पशुपालन में भी आस्था रखते हैं। गाय, कुत्ते, आदि जानवरों को रखना पवित्र माना गया है। इन पशुओं का पालन करना और इनकी रक्षा करना पारसी अपना कर्तव्य मानते हैं।

पारसी धर्म और हिन्दू धर्म– पारसी धर्म और हिन्दू धर्म में अनेक समानतयें हैं। जिस प्रकार हिन्दू धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप अनेश्वरवादी था, उसी प्रकार पारसी धर्म का विकास भी अनेकेश्वरवाद से हुआ। हिन्दू धर्म का अन्तिम सर्वोच्च आदर्श एकेश्वरवाद है। जिस प्रकार विभिन्न देवी देवता एक ही पर ब्रह्म की अभिव्यक्तियाँ है, उसी प्रकार पारसी धर्म के अनुसार विभिन्न देवी–देवता एक ही अहुरमजदा की अभिव्यक्तियाँ हैं। जिस प्रकार हिन्दू धर्म ईश्वर को सृष्टा, पालनकर्ता और संहारकर्ता स्वीकार करता है। पारसी धर्म में भी ईश्वर को सृष्टा, पालनकर्ता और संहारकर्ता माना गया है। दोनों ही धर्म ईश्वर को सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान स्वीकार करते है।

हिन्दू धर्म की तरह पारसी धर्म भी वर्णव्यवस्था को स्वीकार करता है। हिन्दू धर्म में ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र चार वर्ण स्वीकार किये गये है। पारसी धर्म में भी चार वर्ण हैं– 1. होरिस्तान (पुरोहित), 2. नूरीस्तान (योद्धा), 3. रोजिस्तान (कृषक) 4. मोरिस्तान (सेवक)। दोनों ही धर्मो में अग्नि को अत्यन्त पवित्र एवं आराधना का पात्र स्वीकार किया गया। पारसी धर्म में अग्नि पूजा को धर्माचरण का प्रमुख अंग माना गया है। पुरोहित का कर्तव्य है, अग्नि की देखभाल करना ताकि उसका उत्पादन और रक्षा की जा सके। इस प्रकार पारसी और हिन्दू धर्म में कुछ समानतायें दिखाई देती हैं।

(ii) सिख धर्म का सामान्य परिचय एवं विशेषताएं–

भारतीय धार्मिक विचारधाराओं में सिख धर्म का पवित्र एवं अनुपम स्थान है। गुरु नानक देव सिख धर्म के प्रथम गुरु एवं संस्थापक हैं। उन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज में व्याप्त कुप्रथाओं, अन्धविश्वासों, रूढियों और पाखण्डों को दूर करते हुए जनसाधारण के मध्य एक उदारवादी धार्मिक विचारधारा को विकसित किया। उन्होंने प्रेम, सेवा, परोपकार, भ्रातृत्वभाव तथा परिश्रम की दृढ नींव पर आधारित सिख धर्म की स्थापना की। इस धर्म का विकास हिन्दू धर्म से हुआ है। जिस प्रकार जैन धर्म और बोद्ध धर्म हिन्दु धर्म की देन है। सिख धर्म धार्मिक परम्पराओं में समन्वय का एक अद्भुत उदाहरण है। मध्य युग में इस्लाम धर्म के सम्पर्क में आने पर हिन्दू–धर्म में समन्वय की एक नवीन प्रवृति का जन्म हुआ। हिन्दू धर्म एवं इस्लाम धर्म में समन्वय स्थापित करने के प्रयास के परिणामस्वरूप सिख धर्म का उद्भव हुआ।

'सिख' शब्द की उत्पत्ति शिष्य शब्द से हुई। प्रत्येक सिख स्वयं को एक शिष्य के रूप में स्वीकार करता है। शिष्य शब्द गुरु के बिना निर्रथक है। यही कारण है कि सिख धर्म में गुरू का स्थान केन्द्रिय है। गुरु महान पथ प्रदर्शक है। गुरु की शिक्षा के द्वारा ही ईश्वरीय ज्ञान सम्भव है। सच्चे गुरू के अभाव में मनुष्य ईश्वरीय ज्ञान के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। उचित

मार्गदर्शन के अभाव में वह अज्ञान ग्रस्त रहता है। गुरु ज्ञान के द्वारा ही शिष्य को यह ज्ञात होता है कि ईश्वर ही परमसत्ता सर्वव्यापी एवं सर्वज्ञ है। जो व्यक्ति शिष्य के रूप में गुरु के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करता है, वह खालसा कहलाता है। खालसा गुरु का अंश है। गुरु की महत्ता की व्याख्या करते हुए सिख धर्म में कहा गया है कि '' गुरु शिव है। गुरू ब्रह्मा एवं विष्णु है। गुरु ही पार्वती, सरस्वती एवं लक्ष्मी है।''

सिख धर्म में गुरू शिष्य परम्परा को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। गुरु आध्यात्मिक जीवन के प्रमुख पथ प्रदर्शक है। गुरु शिष्य को उसके सामान्य स्तर से उठाकर उसे ईश्वरीय ज्ञान कराता है। गुरू पूर्णत्व का प्रतीक है। सभी सिख गुरुओ को पूर्ण माना गया है। गुरु नानक देव के अनुसार प्रत्येक मनुष्य गलती कर सकता है, केवल गुरु और ईश्वर ही इससे उपर हैं। यद्यपि गुरू पूर्णतः पाप से रहित होता है, किन्तु उसकी प्रकृति सामान्य मनुष्य जैसी होती है। गुरू आध्यात्मिक साधना के द्वारा अपनी स्वाभाविक मानवीय दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करता है। शिष्य गुरु को आदर्श स्वरूप मानकर उसका अनुसरण करता है। गुरु की शिक्षाओं के अनुसरण से शिष्य में परिवर्तन ही नहीं होता, अपितु यह गुरु से ओत–प्रोत हो जाता है। गुरुसे संयुक्त होकर शिष्य अनन्त शक्ति से युक्त हो जाता है, तब वह गुरु का मूर्तरूप अथवा 'खालसा' कहताता है। गुरु के अनुसार ''खालसा मेरा ही दूसरा रूप है, उसी में मेरा अस्तित्व है।'' इस प्रकार गुरु के साथ तादात्म्य सम्बन्ध शिष्य के अनन्त शक्ति को जाग्रत करता है।

सिख धर्म के प्रमुख गुरु– सिख धर्म के दस गुरुओं में से गुरु नानक देव प्रथम गुरु हैं। गुरु नानक देव ने अपने अयोग्य पुत्रों के स्थान पर श्री अंगद को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। अंगद ने नानक को ईश्वर तुल्य माना है। गुरु अंगद के बाद क्रमशः गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव, गुरु हरगोविन्द सिंह, गुरु हरराय, गुरु हरकिशन सिंह, गुरु तेग बहादुर सिंह तथा गुरु गोविन्द सिंह सिखों के प्रमुख गुरु हैं। इन्होने सिख धर्म के प्रचार प्रसार का कार्य किया। सिख धर्म के दसवें एवं अन्तिम गुरु गोविन्द सिंह ने 'खालसा पंथ' की स्थापना की। गुरु गोविन्द सिंह ने मृत्यु के पूर्व कहा–'मेरे बाद कोई सिख गुरु नहीं होगा। सिर्फ 'ग्रन्थ साहिब ही गुरु होंगे।'

गुरु ग्रन्थ साहिब– 'गुरु ग्रन्थ साहिब' सिख धर्म का प्रमुख धर्म ग्रन्थ है। इसको सिख धर्म में अत्यन्त पवित्र माना गया है। इसमे सिख धर्म के प्रमुख गुरुओं की आध्यात्मिक वाणियाँ संग्रहित है। सिखों के पांचवे अर्जुन देव ने इस ग्रन्थ को संकलित कर इसे सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। इस ग्रन्थ में ईश्वरीय अनुभूति के लिए विभिन्न पवित्र उपदेश विद्यमान है। प्रत्येक सिख इस ग्रन्थ को ईश्वर तुल्य मानता है। सिख धर्म में गुरु ग्रन्थ साहिब की उपासना की जाती है।

सिख धर्म के पांच चिन्ह– सिखों के दसवें गुरु गोविन्द सिंह जी ने सिखों को एकजुट करके एक नई शक्ति को जन्म दिया। उन्होने खालसा पंथ की स्थापना की। सिखों को सैनिक वेश में दीक्षित किया। प्रत्येक परिस्थिति मे सदैव तत्पर रहने के लिये उन्होंने सिखों के लिये पांच ककार अनिवार्य घोषित किये, जिन्हें धारण करना प्रत्येक सिख अपना गौरव मानता है। ये इस प्रकार हैं –केश, कंघा, कच्छा, कडा, और कृपाण।

सिख धर्म में ईश्वर का स्वरूप– सिख धर्म एकेश्वरवादी धार्मिक विचारधारा है। इसमें ईश्वर को परमतत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। यह अनेकेश्वरवाद को अस्वीकार करता है। गुरु नानक देव के अनुसार –''ईश्वर सिर्फ एक है जिसका नाम सत्य है। वह सृष्टा, भय और शत्रु भावना से शून्य है। वह अमर, अजन्मा, महान और दयालु है।'' जिस प्रकार उपनिष्दों और कुरान में ईश्वर की एकता पर विशेष बल दिया जाता है, उसी प्रकार सिख धर्म भी ईश्वर की एकता में विश्वास करता है। सिख धर्म सगुण और निर्गुण दोनो ही प्रकार के ईश्वर का समर्थन करता है, किन्तु अवतारवाद का समर्थन नहीं करता। ईश्वर एक ऐसा परमतत्व है, जिसे प्रेम, श्रद्धा और आत्मसमर्पण के द्वारा अनुभव किया जा सकता है। ईश्वरीय तत्व की अनुभूति करना मानवीय जीवन का चरम लक्ष्य है।

सिख धर्म में ईश्वर को सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ माना गया है। ईश्वर सर्वव्यापी है। जिस प्रकार आत्मा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है, उसी प्रकार ईश्वर विश्व की प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है। गुरु नानक देव का कथन है–''ईश्वर प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है। वह प्रत्येक हृदय में निवास करता है। यद्यपि वह प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है, फिर भी वह प्रत्येक वस्तु से पृथक है। जिस प्रकार खुशबू फूल में व्याप्त है तथा प्रतिबिम्ब शीशे में निहित है, उसी प्रकार ईश्वर विश्व की प्रत्येक वस्तु में अन्तर्भूत है। इसलिए ईश्वर को सर्वत्र व्याप्त मानते हुए उसे अपने हृदय के अन्दर खोजना चाहिए। गुरु नानकदेव ने स्वयं ईश्वर की सर्वव्यापकता की व्याख्या करते हुए कहा–''उस एक के सम्बन्ध में विचार करो जो प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है।'' गुरु नानक द्वारा जुपजी को प्रमुख भजन के रूप में स्वीकार किया गया है। इसे प्रतिदिन प्रातःकाल प्रार्थना के रूप में गाया जाता है। इस भजन की प्रथम पंक्ति में ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या इस प्रकार की गई है –''परमात्मा ओंकार स्वरूप एक है। उसका नाम सत्य है, वह रचने वाला है। वह भय और वैर से रहित है। वह काल से अप्रभावित है। वह अजन्मा है। वह स्वयं प्रकाशमान है। वह गुरु की कृपा से प्राप्त होता है।''

सिख धर्म के अनुसार ईश्वर एक है, किन्तु इसके रूप अनेक है। इस धर्म में ईश्वर को विभिन्न नामों से पुकारा गया हैं। गुरु ग्रन्थ साहिब में ईश्वर को अल्लाह, खुदा, ब्रह्म परब्रह्म, हरि,

राम, गोविन्द, नारायण आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। ईश्वर को इन विभिन्न नामों से सम्बोधित कर सिख धर्म के गुरुओं ने हिन्दू एवं इस्लाम धर्म में समन्वय का प्रयास किया हैं। गुरु ग्रन्थ साहिब में ईश्वर को निराकार, आदि पुरुष, अकाल पुरुष, सत पुरुष कहा गया है। गुरु दास ने ईश्वरीय स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा है–''वह निरंकार, अनूठा, अदभूत एवं इन्द्रियातीत है।'' ईश्वर के सगुण स्वरूप को स्वीकार करते हुए उसे ब्रह्मा, विष्णु और विश्व कहा गया है। इस प्रकार सिख धर्म ईश्वर को सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में स्वीकार करता है। गुरू नानक देव कर्म और पुनर्जन्म दोनों मे ं विश्वास करते हैं। गुरु नानक देव के मतानुसार पुनर्जन्म और मुक्ति दोनो ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करते हैं। सिख धर्म में ईश्वर को कर्म नियम का संचालक माना गया है। ईश्वर मनुष्य को उसके शुभ अशुभ कर्मो के अनुसार पुण्य पाप प्रदान करता है।

मनुष्य सम्बन्धी विचार– सिख धर्म के अनुसार ईश्वर और मनुष्य में स्वामी और दास का सम्बन्ध है। ईश्वर सर्वशक्तिमान, शाश्वत और स्वतंत्र है, जबकि मनुष्य सीमित, नश्वर और ईश्वर पर आश्रित है। जब तक मनुष्य यह समझता है कि वह स्वयं सब कुछ कर सकता है, तब तक उसे शाश्वत आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती है। ईश्वर की कृपा के अभाव में मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता है। ईश्वर ही मनुष्य को शक्ति प्रदान करता है, जिसके द्वारा वह अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सकता है। ईश्वर की कृपा के अभाव में मनुष्य मुक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता। अतः मनुष्य पूर्णतः ईश्वर पर आश्रित है। गुरु गोविन्द सिंह ने ईश्वर और मनुष्य के मध्य उपास्य और उपासक का सम्बन्ध स्वीकार किया है। ईश्वर उपास्य है, जबकि मनुष्य उपासक। यद्यपि उपास्य और उपासक दो है, किन्तु इन दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध है। जिस प्रकार समुद्र और उसकी तरंगे एक है, उसी प्रकार ईश्वर और उपासक भी स्वरूपतः एक ही हैं।

जगत सम्बन्धी विचार– सिख धर्म में जगत को नश्वर माना गया है। जगत को भ्रम के रूप में चित्रित किया गया है। गुरु नानक देव के अनुसार– ''मैं किसके साथ सम्पर्क स्थापित करूँ ? सारा जगत क्षणभंगुर है। ईश्वर तुझे छोड़कर सभी वस्तुएं असत्य है।'' गुरु नानक ने कहा है–''विश्व के सारे व्यापार नश्वर है। ये सिर्फ चार दिनों के लिए विद्यमान है। यह संसार भ्रम है।'' उन्होने स्पष्ट किया है कि ब्रह्म एक है तथा सम्पूर्ण जगत ब्रह्म की माया है। माया के द्वारा ही जगत के सभी पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। गुरुनानक का यह विचार उपनिषदों के ऋषियों के विचारों के अनुरूप है।

अशुभ की समस्या का समाधान– ईश्वरवादी धर्मो के समक्ष अशुभ की समस्या एक प्रमुख समस्या है। लगभग सभी ईश्वरवादी धर्म इस समस्या के समाधान के लिए प्रयास करते हैं। सिख धर्म में अशुभ की समस्या का समाधान अत्यन्त सरल ढंग से किया गया है। सिख धर्म के अनुसार अशुभ का कारण ईश्वर नहीं अपितु मनुष्य स्वयं है। अशुभ का प्रमुख कारण मानवीय अहंकार है। मानवीय ह्रदय जब अहंकार से युक्त हो जाता है, तब उसे अशुभ का सामना करना पडता है। मनुष्य का अहंकार उसे ईश्वर के समक्ष समर्पण नहीं करने देता है। जैसे ही वह ईश्वर के समक्ष समर्पण के लिए उपस्थित होता है, उसका अहंकार इसमें बाधक बन जाता है। जिसके परिणामस्वरूप वह ईश्वर से दूर हो जाता है। यही अशुभ है। यदि मनुष्य को यह ज्ञान हो जाये कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है और उसके अत्यन्त निकट है, तो वह अशुभ से मुक्त हो जायेगा। ईश्वर से संयोग ही शुभ और ईश्वर से दूरी ही अशुभ है। अहंकार की अधिकता के कारण मनुष्य ईश्वर से दूर चला जाता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह अपने अहंकार को परित्याग करे, अन्यथा उसे अशुभ का सामना करना होगा। अहंकार पर विजय प्राप्त कर ही मनुष्य ईश्वर की अनुभूति कर सकता है। ईश्वरीय अनुभूति और निकटता ही समस्त अशुभों का अन्त है। इस प्रकार सिख धर्म में अशुभ और शुभ की व्याख्या तर्क संगत ढंग से की गई है।

मुक्ति का मार्ग– सिख धर्म के अनुसार मुक्ति का अभिप्राय है– मनुष्य का ईश्वर से साक्षात्कार करना या ईश्वर में विलीन होना है। मुक्ति की प्राप्ति ईश्वर की कृपा के अभाव में असम्भव है। उपनिषदों में भी ऋषियों ने मुक्ति को ईश्वरीय कृपा का फल माना है। मुक्ति के लिए ईश्वर के नाम का सतत चिन्तन और उच्चारण करना अत्यन्त आवश्यक है। ईश्वर के प्रति ध्यान एवं चिन्तन के द्वारा ही मनुष्य मुक्ति का अनुभव कर सकता है। ईश्वर के प्रति श्रद्धा, भक्ति और आत्म समर्पण के द्वारा मनुष्य मुक्त हो जाता है। सिख धर्म में मुक्ति के लिए भक्ति को प्रमुख साधन माना गया है। गुरु नानक देव के कथनानुसार –''धार्मिक क्रिया कलापों के सम्पादन के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। ईश्वर की प्राप्ति प्रेम और श्रद्धा के द्वारा ही सम्भव है।'' गुरु ईश्वर प्राप्ति में सहायक होता है। गुरु के उपदेशों को शिरोधार्य करना वांछनीय है, क्योंकि वही मुक्ति के मार्ग का पथ प्रदर्शन कर सकता है। गुरु में ईश्वरत्व निहित है। इसलिए वह साधक और ईश्वर के मध्य कडी का कार्य करता है। जुपजी (जपजी) गुरू ग्रन्थ साहिब के प्रमुख भजन में गुरु नानक देव ने मुक्ति का वर्णन अत्यन्त सरल भाषा में किया है। गुरु नानक देव ने जुपजी में पांच सोपानों का उल्लेख किया है, जिसके द्वारा आत्मा शाश्वत आनन्द की अनुभूति करती है। ये पांच सोपान इस प्रकार है– 1. धर्म खण्ड, 2. ज्ञान खण्ड, 3. शरण खण्ड, 4. कर्म खण्ड तथा, 5. सुच–खण्ड। इन खण्डों का वर्णन निम्नानुसार है –

1. धर्म खण्ड– यह कर्तव्य और कर्म का क्षेत्र है। प्रत्येक

मनुष्य को अपने कर्तव्य कर्मो का सम्पादन भली भांति करना चाहिए। यह इसलिए आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य का मूल्यांकन उसके कर्मो के द्वारा ही सम्भव होता है।

2. ज्ञान खण्ड– यह ज्ञान की अवस्था है। ज्ञान और कर्त्तव्य के मध्य समन्वय आवश्यक है। यदि मनुष्य ज्ञानपूर्वक कर्त्तव्य का सम्पादन करता है तो वह राम–कृष्ण की भांति स्थायी शान्ति अनुभव कर सकता है।

3. शरण खण्ड– ज्ञान खण्ड के पश्चात आत्म समर्पण की अवस्था है। यह आनन्द की अवस्था है। इस अवस्था में कर्तव्य पालन मानवीय स्वभाव का अंग बन जाता है और वह स्वाभाविक रूप से सम्पन्न होता है।

4. कर्म खण्ड– इस अवस्था में साधक को शक्ति और धार्मिक निष्ठा की प्राप्ति होती है। साधक मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है। वह जन्म मरण के चक्र से सदैव के लिए मुक्त हो जाता है।

5. सुच खण्ड– कर्म खण्ड के पश्चात आत्मा सुच खण्ड में प्रवेश करती है। यह निराकार परमात्मा का निवास स्थल है। आत्मा इस अवस्था में निरंकार सत्य का दर्शन करती है। यह सत्यानुभूति की अवस्था है। यहां साधक ईश्वर में विलीन होकर उसके स्वरूप की साक्षात अनुभूति करता है। कुछ सिख धर्म के चिन्तकों का मत है कि निर्वाण और सुच खण्ड वस्तुतः एक ही हैं। दोनों ही अवस्थाओं में व्यक्तिगत चेतना का अन्त हो जाता है और आत्मा का प्रकाश ईश्वरीय प्रकाश के साथ संयुक्त हो जाता है।

गुरू नानक देव के उपदेश– सिख–धर्म के संस्थापक गुरु नानक देव का जन्म कार्तिक पूर्णिमा के दिन हुआ था। इस दिन को सिख–धर्म के अनुयायी प्रकाश पर्व और गुरु–पर्व के रूप में मनाते है। गुरु नानक देव ने भ्रातृत्वभाव मानव–सेवा, आत्मशुद्धि, कर्तव्य, पालन और ईश्वरीय भक्ति का संदेश दिया। गुरु नानक देव के कुछ प्रमुख उपदेश निम्नानुसार है :–

1. गुरू नानक देव ने एक ओंकार का संदेश दिया, जिसका अर्थ है कि ईश्वर एक है। ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है। ईश्वर हम सबका पिता है, इसलिये सबके साथ प्रेमपूर्वक रहना चाहिए।
2. किसी भी प्रकार के लोभ को त्याग कर अपने हाथों से मेहनत कर और न्यायोचित तरीके से ईमानदारी पूर्वक धन का अर्जित करना चाहिए।
3. कभी किसी का हक नहीं छिनना चाहिए अपितु मेहनत और ईमानदारी की कमाई में से भी जरूरतमंदों की सहायता करनी चाहिए।
4. धन को जेब तक ही सीमित रखना चाहिए। उसे अपने हृदय में स्थान नहीं देना चाहिए अन्यथा नुकसान हमारा ही होता है।
5. नारी–शक्ति का सम्मान करना चाहिए। स्त्री और पुरूष एक ही परमात्मा की संताने है, अतः उन्हे भी पुरूषों के समान आदर देना चाहिए।
6. तनाव मुक्त होकर अपने कर्म करना चाहिए तथा सदैव प्रसन्न रहने का अभ्यास करना चाहिए।
7. संसार को जीतने से पहले स्वयं अपने विकारों और बुराईयों पर विजय प्राप्त करना अति आवश्यक है। आत्मशुद्धि ही ईश्वर साक्षात्कार का प्रमुख साधन है।
8. अहंकार मनुष्य का सबसे बडा शत्रु है। इसलिए अहंकार का त्याग करना चाहिए और विनम्र होकर सेवाभाव के द्वारा जीवन व्यतीत करना चाहिए।
9. मनुष्य को मनुष्य के साथ प्रेमवत व्यवहार करना चाहिए। सभी मनुष्य के मध्य भ्रातृत्वभाव का विकास आवश्यक है। मनुष्यों में उच्च और निम्न का भेद करना भ्रामक है। सभी मनुष्य एक ही ईश्वर की संतान है। मानव–सेवा करना मनुष्य का परम कर्तव्य है।
10. सर्वशक्तिमान ईश्वर की भक्ति करने वालों को कभी किसी का भय नहीं रहता है।

(iii) ताओ धर्म (Taoism) का सामान्य परिचय एवं विशेषताएं :

ताओ धर्म चीन का प्रमुख एवं प्राचीनत्म धर्म है। इस धर्म के संस्थापक लाओत्सी हैं। लाओत्सी ने ताओ धर्म को आदर्शवाद की आधारशिला पर स्थापित किया। इन्होंने ताओ धर्म का नामकरण इस धर्म के मूल सिद्धान्त ताओ (Tao) के आधार पर किया। इस दृष्टिकोण से यह धर्म विश्व के कुछ प्रमुख धर्मों से विशिष्ट है। विश्व के अधिकांश धर्मों का नामकरण उनके संस्थापकों के नाम पर किया गया है, जैसे बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म, जरशुस्त्र धर्म, कनफ्युसियस धर्म आदि। ताओ–धर्म अध्यात्मवाद और रहस्यवाद से युक्त हैं। इस धर्म में संन्यासवाद पर विशेष बल दिया गया है। इस धर्म के अनुयायियों को एकान्तवास का पालन करना होता है। यह धर्म सांसारिक विषय भोगों को क्षणिक मानता है।

ताओ धर्म और कनफ्युसियस धर्म दोनों चीन के प्रमुख धर्म हैं। किन्तु इनमें कुछ अन्तर है। ताओं धर्म का विकास विशिष्ट पुरूषों के लिये हुआ था, जबकि कनफ्युसियस धर्म का विकास जनसाधारण के लिये हुआ था। जहां ताओ धर्म में दार्शनिकता की प्रधानता है, वहीं कनफ्युसियस धर्म मे नीतिशास्त्र की प्रधानता है। ताओ धर्म का मुख्य उद्देश्य परम तत्व के स्वरूप का विश्लेषण करना है, वही कनफ्युसियस धर्म का उद्देश्य उत्तम मानवता की प्राप्ति करना है। चीन में इन दोनों धर्मों के अतिरिक्त बौद्ध धर्म भी प्रचलित है। चीन में ताओ,

कनफ्युसियस धर्म और बौद्ध धर्म इस प्रकार धुल–मिल गए हैं कि इन्हे एक दुसरे से अलग करना आसान नहीं है।

ताओ धर्म का प्रमुख धर्म ग्रन्थ ताओ–धर्म का प्रमुख धर्म ग्रन्थ Tao Teh King (ताओ तेह किंग) है, यह धर्म ग्रन्थ नैतिक उपदेशों से परिपूर्ण है। इस ग्रन्थ में नैतिक सदाचार एवं बौद्धिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ में प्रतीकों के माध्यम से जगत के पदार्थों एवं इसके पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या की गई है। यह चीन में अत्यन्त आदरणीय है। चीन में यह राज्य के नियम की तरह प्रतिष्ठित है। यह ग्रंथ चीन की सभ्यता एवं संस्कृति का परिचायक है। एक चीनी लेखक ने इस पुस्तक की प्रशंसा में कहा है– ''सम्पूर्ण पूर्वी साहित्य में यदि कोई ऐसी पुस्तक है जिसका अध्ययन अन्य पुस्तकों की अपेक्षा वाछनीय है तो वह लाओत्सी लिखित ''Book of Tao'' है। यदि कोई ऐसी पुस्तक है जो पूरब की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराती हो तथा चीन की सभ्यता एवं प्रचलन का पूर्ण विवेचन करती है तो Book of Tao है। यह विश्वदर्शन सम्बन्धी गहनतम् रचना है।'' ताओ धर्म का केन्द्र बिन्दु ताओ (Tao) सम्बन्धी अवधारणा है। यह सम्पूर्ण ताओ धर्म का आधार है। ताओ अतिरिक्त दूसरी महत्वपूर्ण अवधारणा तेह है। ताओ धर्म ताओ और तेह पर आधारित है।

ताओ की अवधारणा– ताओ सम्पूर्ण प्रकृति का आधार है। प्रकृति ताओ के द्वारा नियमित नियंत्रित और शासित होती है। यह चरम तत्व अगोचर है। ताओ के स्वरूप का ज्ञान सामान्यजन के लिये कठिन है। ताओ के रूवरूप की व्याख्या को ताओवादी चिन्तक हउया–नन–तजु (Hua-Nan -Tzu) ने इस प्रकार की है :–

1. ताओ स्वर्ग का आधार है और पृथ्वी में व्याप्त है। इसकी कोई परिधि नहीं है। यह सीमा से रहित है। इसकी उंचाई को नही नापा जा सकता । इसकी गहराई को नही आंका जा सकता। यह सम्पूर्ण विश्व को अपने अधीन रखता है। यह अगोचर है किन्तु समस्त गोचर पदार्थो का जनक है।
2. यह अत्यन्त सूक्षम है। ताओ के कारण पर्वत ऊँचा है तथा समुद्र गहरा है। ताओ के कारण पशुगण विचरण करते हैं तथा पक्षीगण आकाश में उडते हैं। यह ताओं का ही प्रभाव है कि सूर्य और चन्द्रमा चमकते हैं। ताओ के कारण ही तारे अपनी दिशाओ में गमन करते हैं।
3. ताओ का कार्य दिखाई नहीं देता। वह गुप्त एवं आकारविहिन है। यद्यापि यह आकार विहिन है फिर भी यह सभी वस्तुओं को क्रियान्वित करता है। इसका कार्य व्यर्थ नहीं जाता।

ताओं के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यह द्रव्य सम्बन्धी विचार है। ताओ एक पूर्ण अगोचर सत्ता है। यह शाश्वत है। यह अदृश्य एवं अद्भुत है। यह अवर्णनीय है। यह अपरिभाषेय है। यह इन्द्रियातीत है। ताओ ही वह तत्व है जिससे सम्पूर्ण जगत की वस्तुओं का निर्माण हुआ है। अन्त में सभी वस्तुएं ताओं में ही लीन हो जाती है। ताओ जगत की वस्तुओं का सृष्टा, पालक और रक्षक है, इसलिए उसे ईश्वर तुल्य माना गया है। यह नैतिकता का आधार है। यह शान्ति और पूर्णता का दायक है। ताओ धर्म के अनुसार ताओ को प्राप्त करने के लिए पवित्रता, विनय, करूणा, सन्तोष, दया एवं आत्मसंयम मुख्य साधन है। ध्यान और प्राणायाम इसके सहायक है। चित्त में शांति का उदय तभी हो सकता है, जब उसे संसार से हटाकर एक लक्ष्य पर केन्द्रित किया जाये। यह कार्य ध्यान और प्राणायम के द्वारा सम्भव है।

ताओ के तीन अर्थ– ताओ का शाब्दिक अर्थ मार्ग अथवा रास्ता होता है। लाओत्सी ने अपने प्रमुख ग्रन्थ 'Tao The King' जिसे ताओ धर्म का बाईबिल कहा जाता है, में ताओ के तीन अर्थों का उल्लेख किया है। जो इस प्रकार है :–

1. प्रथम अर्थ के अनुसार ताओ चरम का मार्ग है। ताओ का हमें प्रत्यक्षीकरण नहीं होता क्योंकि यह इन्द्रियातीत है। ताओ का ज्ञान विचार के द्वारा भी सम्भव नहीं है। शब्द इसका वर्णन करने में असमर्थ है। यह अपरिभाषेय है। यह अवर्णनीय है। यह विश्वातीत है। यह सभी वस्तुओं में व्याप्त है। सभी वस्तुओं का उद्भव ताओ से होता है और अन्त में सभी उसमें विलीन हो जाती है। यह एक रहस्यात्मक सत्ता है। इसका ज्ञान रहस्यानुभूति के द्वारा होता है। इसलिए ताओवाद का कथन है–''जो जानते हैं वे कह नहीं सकते और जो कहते हैं वे जान नहीं पाते है।''
2. द्वितीय अर्थ के अनुसार ताओ विश्व का मार्ग है। यह विश्व की मूल शक्ति है। ताओ मूलतः विश्वातीत है। यह विश्वव्यापी भी है। यह प्रकृति की संचालक शक्ति है। यह प्रकृति की समस्त वस्तुओं को व्यवस्थित करता है। ताओ अचेतन नही मूलतः आत्मा है। यह परोपकारी है। यह अनन्त उदार है। यह निरन्तर गत्यात्मक है। इसे जगत की माता की संज्ञा दी जा सकती है।
3. तृतीय अर्थ के अनुसार ताओ उस मार्ग का संकेत करता है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने जीवन में व्यवस्था कायम कर सकता है। जिससे मनुष्य और प्रकृति के मध्य सामंजस्य की स्थापना हो सके।

चीन में तीन प्रकार के ताओ धर्मो का विकास हुआ। चीन में विकसित पहला ताओ धर्म वह है, जिसमें जादू की प्रधानता है। ताओ धर्म के इस प्रकार को लोकप्रिय ताओवाद (Popular Taoism) कहा गया। ताओ धर्म का विकसित दूसरा रूप रहस्यवाद से परिपूर्ण हैं। इस प्रकार के ताओवाद को गुप्त

ताओवाद (Esoteric Taoism) कहते है। ताओवाद का तीसरा प्रकार दर्शन शास्त्र एवं तत्वशास्त्र से परिपूर्ण है। ताओवाद के इस स्वरूप को दार्शनिक ताओवाद (Philosophical Taoism) कहते है, वर्तमान में दार्शनिक ताओवाद ही चीन की जनता का मार्गदर्शन कर रहा है।

तेह सम्बन्धी अवधारणा– ताओ की प्राप्ति को तेह की संज्ञा दी गई है। तेह की व्याख्या जीवन, प्रेम, प्रकाश और संकल्प के द्वारा सम्भव है। लाओत्सी ने तेह को आत्मसिद्धि (Self realization) की संज्ञा दी। ताओ के प्रकाशित स्वरूप को तेह कहा जाता है। ताओ एक है किन्तु तेह अनेक है। ताओ तेह का स्वामी है। तेह मातृ शक्ति है जिसके द्वारा सम्पूर्ण नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन का विकास होता है। यह स्वर्ग और पृथ्वी का आधार है। तेह सदगुण का पर्याय है। यह वह शक्ति है, जिससे न्याय की स्थापना होती है। यह वास्तविकता है। इस पर संदेह नहीं किया जा सकता है। तेह का मानवता से घनिष्ट सम्बन्ध है। यह समस्त मानवीय कर्मो में प्रविष्ट है। तेह मानवीय चेतना के रूप में स्वयं को प्रकाशित करती है। तेह को अनेक नामों जैसे–ईश्वर, बुद्धि, प्रकृति, उत्तम जीवन, न्याय–परायण, प्रेम आदि से सम्बोधित किया गया है।

ताओ धर्म में प्रकृति का स्थान– ताओ धर्म में प्रकृति का महत्वपूर्ण स्थान है। इस धर्म के अनुसार प्रकृति केवल जडमात्र नहीं है। यह क्रियाशील है। मनुष्य और प्रकृति के मध्य घनिष्ट सम्बन्ध है। मनुष्य और प्रकृति में साम्य है, इसलिए ताओ–धर्म मनुष्य और प्रकृति के मध्य मित्रता स्थापित करने का आदेश देता है। प्राच्य परम्परा का समर्थन करते हुए ताओ धर्म मनुष्य और प्रकृति के मध्य आत्मीय सम्बन्ध की स्थापना पर बल देता है। प्राच्य परम्परा के विपरीत पाश्चात्य परम्परा में प्रकृति और मनुष्य मध्य निरन्तर संघर्ष जारी है। मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करना चाहता है। ताओवाद ने पाश्चात्य परम्परा को अस्वीकार कर प्राच्य परम्परा का समर्थन किया है। प्रकृति के साथ सामंजस्य के द्वारा ही मनुष्य वास्तविक आनन्द अनुभव कर सकता है। ताओ–धर्म में मंदिरों की स्थापना प्राकृतिक सौन्दर्य के मध्य हुई है। पर्वत, नदी, वृक्ष एवं झरनों के मध्य मंदिरों को स्थापित करके ताओवाद ने प्रकृति के प्रति अपने अनन्य भाव को अभिव्यक्त किया है।

लाओत्सी के प्रमुख उपदेश– ताओ धर्म में साधुजनों के लिए स्थान हैं। सन्त वही है जिसके मन में किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं हो। जिसमें स्वयं के स्वार्थपूर्ति हेतु कोई लक्ष्य न हो। जो पश्चाताप से स्वतंत्र हो। साधु वही है जिसे मृत्यु से भय नहीं हो तथा जो प्रेम, घृणा, हानि, लाभ, मान, अपमान से परे हो। ताओ धर्म में पुनर्जन्म और आत्मा की अमरता को स्वीकार किया गया है। लाओत्सी ने कहा है– जन्म न आरम्भ है और न मृत्यु अन्त अनादिकाल तक आत्मा अमर है। लाओत्सी के प्रमुख उपदेश इस प्रकार हैः –

1. मेरे पास तीन वस्तुएं है जिन्हें मैं दृढतापूर्वक पालन करता रहता हूं–1. नम्रता 2. दयालुता 3. मितव्ययता।
2. वह मनुष्य धन्य है जो साधुवचन बोलता है। साधु बातें सोचता है और साधु के प्रति मनन शील रहता है।
3. मधुर वचन यथार्थ नहीं होता तथा निष्कपट वचन मधुर नहीं होता है।
4. जो मनुष्य विद्वता का अभिमान नहीं करता है, वह सन्ताप से मुक्त है।
5. चाह से बढकर कोई विपत्ति नहीं है तथा असन्तोष से बढकर कोई दुःख नहीं है।
6. विनम्रता, पवित्रता और इच्छाओं को संयत रखना महान धर्म है।
7. निष्काम की प्रवृति को बढावा देना तथा अत्यधिक शान्ति की स्थापना मानवीय जीवन का पुनीत कर्तव्य है।
8. शान्ति, संन्यास और विनयशीलता मिट्टी, वायु और सूर्य के तुल्य है। इनके सहयोग से आध्यात्मिक जीवन का विकास होता है।
9. जिसका मन हर वस्तु के प्रति उदासीन है, वही सच्चा साधु है।
10. अच्छों के प्रति मैं अच्छा रहूंगा तथा बुरों के प्रति भी मैं अच्छा रहूंगा ताकि उन्हें अच्छा बनाने में सफल हो सकूं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

बहुविकल्पात्मक प्रश्न–

1. पारसी धर्म में ईश्वर को कहा गया है ?
   (अ) अहरिमान (ब) अंगरामेन्यु
   (स) स्पेनतामेन्यु (द) अहुरमजदा
2. पारसी धर्म के प्रमुख ग्रन्थ अवेस्ता कौनसा भाग नहीं है?
   (अ) यश्त (ब) वेन्दिदाद
   (स) विस्पेरद (द) सेवियर
3. कौनसा वर्ण पारसी धर्म में स्वीकृत नहीं है ?
   (अ) नूरिस्तान (ब) होरिस्तान
   (स) रोजिस्तान (द) फोरिस्तान
4. पारसी धर्म में अशुभ के देवता को कहा गया है ?
   (अ) अहरिमान (ब) अहुरमजदा

(स) सेवियर (द) स्पेनतामेन्यु

5. सिख धर्म में सिख शब्द का क्या अर्थ है ?

(अ) शिक्षा (ब) शिष्य

(स) सृष्टि (द) सृजन

6. सिख धर्म है ?

(अ) एकेवरवादी (ब) द्वैतवादी

(स) अनेकेवरवादी (द) सर्वेवरवादी

7. गुरू ग्रन्थ साहिब को व्यवस्थित रूप प्रदान किया ?

(अ) गुरू अर्जुनदेव ने (ब) गुरू गोविन्द सिंह ने

(स) गुरू नानक देव ने (द) गुरू अंगद ने

8. खालसा पंथ की स्थापना किसने की?

(अ) गुरू हरिराय ने (ब) गुरू हरिकृष्ण

(स) गुरू गोविन्दसिंह (द) गुरू हरगोविन्द सिंह

9. ताओ धर्म के प्रवर्तक है ?

(अ) लाओत्सी (ब) ताओ तेहकिंग

(स) चाल्मुर (द) कोजकी

10. ताओ का शाब्दिक अर्थ है ?

(अ) मार्ग (ब) मूलशक्ति

(स) मार्गदर्शन (द) आत्मशक्ति

11. ताओ धर्म के प्रमुख धर्मग्रन्थ का नाम है ?

(अ) ताओ तेह किंग (ब) कोजकी

(स) अवेस्ता (द) जिन्द

12. लाओत्सी ने तेह को कहा ?

(अ) प्रकाश (ब) आत्मसिद्धि

(स) स्वप्रकाश (द) आत्मप्रकाश

अतिलघुतरात्मक प्रश्न–

1. 'जरथुस्त्र' शब्द के अर्थ को स्पष्ट कीजिए ?
2. अवेस्ता के पांच भागों के नाम लिखिए ?
3. पारसी धर्म के चार वर्णो के नाम बताइए।
4. पारसी धर्म में आत्मा के लिए प्रमुख नाम को स्पष्ट कीजिए ?
5. ताओ धर्म के तीन प्रकारों का उल्लेख कीजिए ?
6. गुप्त ताओवाद किसे कहते है ?
7. दार्शनिक ताओवाद किसे कहते है?
8. ताओ का प्रकाशित या अभिव्यक्त रूप क्या कहलाता है ?
9. सिख धर्म में पांच ककार स्पष्ट कीजिए?
10. सिख धर्म के धार्मिक ग्रन्थ के बारे में बताइए।
11. सिख धर्म के अनुसार अशुभ की समस्या का प्रमुख कारण क्या है ?
12. सिख धर्म के पांच सोपानों को बताइए, जिनके द्वारा शाश्वत आनन्द की प्राप्ति होती है।

लघुत्तरात्मक प्रश्न–

1. सिख धर्म में अशुभ की समस्या को स्पष्ट कीजिए?
2. सिख धर्म में गुरू की भूमिका को स्पष्ट कीजिए?
3. सिख धर्म में ईश्वर के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए?
4. सिख धर्म में जगत सम्बन्धी विचार स्पष्ट कीजिए?
5. पारसी धर्म में अहरिमान के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए?
6. पारसी धर्म के मूल सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए?
7. पारसी धर्म और हिन्दू धर्म में समानताओं को स्पष्ट कीजिए?
8. ताओ धर्म में ताओ की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए?
9. ताओ धर्म में तेह की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए?
10. ताओ धर्म और कन्फ्यूसियस धर्म में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न –

1. पारसी धर्म में अशुभ की अवधारणा को विस्तार से स्पष्ट कीजिए।
2. पारसी धर्म में ईश्वर के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
3. गुरूनानक देव के प्रमुख उपदेशों की व्याख्या कीजिए।
4. ताओ धर्म में ताओ और तेह की अवधारणा की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

बहुविकल्पात्मक प्रश्नों के उत्तर–

1. (द)	2. (द)	3. (द)
4. (अ)	5. (ब)	6. (अ)
7. (अ)	8.(स)	9. (अ)
10.(अ)	11.(अ)	12.(ब)

अध्याय–10
धार्मिक सहिष्णुता एवं सर्वधर्म समभाव

धर्म (रिलिजन) की अनेकता की समस्या वर्तमान युग में विशेष रूप से महत्व रखती है, क्योंकि रिलिजन के नाम पर या उसका सहारा लेकर अनुयायियों के मध्य संघर्ष, तनाव विघटन दिखाई पड़ता है। वस्तुतः इस समस्या के मूल में धर्म के वास्तविक स्वरूप के प्रति आंशिक अथवा भ्रान्तिमूलक ज्ञान ही होता है। अंग्रेजी का रिलिजन शब्द का अर्थ ही है ''एक साथ बांधना''। भारतीय अवधारणा में धर्म का अर्थ है धारण करना। फिर भी धार्मिक संघर्ष अथवा तनाव सही मायने में जातीय एवं सांस्कृतिक संघर्ष को धर्म या रिलिजन के साथ जोड़ कर उसे व्यापक स्वरूप दिया जाना है। जिस प्रकार धार्मिक कुरूतियों ने नये धर्मों (रिलिजन) को जन्म दिया, उसी प्रकार धार्मिक संघर्षों ने ही धर्म समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया। यह धर्म समन्वय अनेक समयों में अनेक रूपों में होता आया है, किन्तु इन्हें सैद्धान्तिक रूप तथा परिभाषिक रूप देने का कार्य आधुनिक युग में ही हुआ है। इस दृष्टि से तीन अवधारणाएं प्रमुख हैः– धार्मिक एकता (Religious Unity), धार्मिक सहिष्णुता (Religious Tolerance) तथा धार्मिक बहुत्ववाद (Religious Pluralism)। धार्मिक एकता का तात्पर्य है, जब विभिन्न धर्म या धर्मावलम्बी एकमत या एक धर्म में समाहित हो जाएं। धार्मिक सहिष्णुता का तात्पर्य है, विभिन्न धर्मानुयायी परस्पर धार्मिक विरोधाभाव न रखें। धार्मिक बहुत्ववाद का तात्पर्य है, विभिन्न धर्मावलम्बी अन्य धर्मों के प्रति समभाव रखें। उक्त अवधारणाओं की यह स्थूल परिभाषा है। इनमें धार्मिक सहिष्णुता की अवधारणा समय की आवश्कता है।

(i) धर्म–सहिष्णुता (Religions Tolerance)

धर्म–सहिष्णुता का तात्पर्य है अन्य धर्मों के प्रति सहनशीलता का भाव अर्थात उनके प्रति द्वेष या विरोध का भाव न रखना। वर्तमान लोकतांत्रिक युग में विविध रूप से धार्मिक स्वतंत्रता की स्थापना के साथ अवधारणागत रूप से धार्मिक सहिष्णुता को विशेष महत्ता मिली है। धार्मिक सहिष्णुता और धार्मिक स्वतन्त्रता में धनात्मक संबंध अवश्य है, परन्तु दोनों एक नहीं है। प्रथम मुख्यतः वैचारिक अवधारणा है, जबकि द्वितीय विविध अवधारणा। यह अवश्य है कि एक ही अभिव्यक्ति दूसरे में होती है।

धार्मिक सहिष्णुता, सर्वधर्म समभाव नहीं है–धार्मिक सहिष्णुता धर्मनिरपेक्षता और सर्वधर्म–समभाव के मध्य की स्थिति की तरह है धार्मिक सहिष्णुता तथा उनकी ओर बढ़ने का एक कदम भी है। धर्म–सहिष्णुता में व्यक्ति धार्मिक बना रहता है, बस अन्य धर्मों के प्रति द्वेष भाव समाप्त कर लेता है। अन्य धर्मों के प्रति उसमें सब प्रकार की उदासीनता का भाव विकसित हो जाता है। धर्म–सहिष्णुता, धर्मनिरपेक्षता के उलट धार्मिक समभाव की तरह सापेक्षित अवधारणा है, जिसकी सार्थकता अन्य धर्मों के साथ होने पर ही है। धार्मिक समभाव तथा सहिष्णुता दोनों ही धार्मिक बहुत्वाद के अंग माने जा सकते हैं, किन्तु धार्मिक समभाव में अनेक धर्मों के समादर और समावेश का भी भाव है, जो कि धर्म सहिष्णुता में नहीं है।

धार्मिक सहिष्णुता की आवश्यकता–धर्म की सबसे बड़ी विडम्बना उसका न तो अलौकिक होना है और न ही आस्थापरक होना नहीं है वरन् उसकी विडम्बना है, उसका श्रेष्ठता की ग्रन्थि से ग्रस्त होना। प्रत्येक धर्म और उसका अनुयायी अपने धर्म, अपने धर्मग्रन्थ, अपने धर्मस्थल को श्रेष्ठ मानकर बैठ जाता है। इसी का दूसरा पहलू है–अन्य धर्मों के प्रति हिनता का भाव। विश्व में शायद ऐसा कोई व्यक्ति नहीं होगा, जो किसी अन्य के धर्म में दो निरर्थक, चार हास्यापद और आठ अन्धविश्वासपूर्ण मताग्रह न गिना दे। इसके बावजूद ऐसा कोई मत या सिद्धान्त नहीं होगा, जिसे तर्कतः सुसंगत या व्यवहारतः उपयोगी सिद्ध न किया जा सके। यह सब कुछ हमारी दृष्टि पर निर्भर करता है, अतः सबसे पहली आवश्यकता है दृष्टिकोण के परिवर्तन की। धर्म सहिष्णुता इसी आत्मश्रेष्ठता और परहीनता से मुक्ति की दिशा में बढ़ा कदम है।

प्रिस्टन किंग ने ठीक ही कहा है–'हम किसी व्यक्ति, समुदाय अथवा शासन की केवल इस प्रकार प्रशंसा नहीं कर सकते कि सहिष्णु है। ये सब निर्दयता और जन–संहार के प्रति सहनशील हो सकते हैं। इसी प्रकार हम व्यक्तियों की मात्र इस कारण भी निंदा नहीं कर सकते कि वे असहिष्णु हैं। इस प्रकार सब कुछ सहिष्णुता और असहिष्णुता पर निर्भर न होकर उनके लिए उपयुक्त विषयो पर भी निर्भर करता है।' यदि इस तर्क को स्वीकार करें, तो धार्मिक सहिष्णुता भी एक दृष्टि से उचित तो दुसरी दृष्टि से अनुचित हो सकती है, इसी प्रकार यदि यह सहिष्णुता कुरीतियों व अंधविश्वास के प्रति है, तो हानि रहित कर्मकाण्डीय विधानों के प्रति है, तो वह उचित है। धार्मिक सहिष्णुता की आवश्यकता सबसे ज्यादा ऐसे कर्मकाण्डीय व औपचारिक विधानों के कारण है, जो आज या तो निरर्थक हो गए हैं या फिर दूसरों के लिए बाधक बन गए है। यदि सभी धर्मों में सभी चीजें सार्थक और सकारात्मक ही होती, तो धर्म–सहिष्णुता की न तो आवश्यकता होती, न ही उसकी महत्ता।

धर्म–सहिष्णुता वस्तुतः धार्मिक असहिष्णुता के अभाव में ही अपनी महत्ता रूपाकिंत करती है। आखिर क्या कारण है कि इतनी वैज्ञानिकता और बौद्धिकता के युग में भी धार्मिक मामलों में इतनी असहिष्णुता बनी हुई है। इसके पीछे धार्मिक, शैक्षणिक, सामाजिक, मानसिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक–सभी तरह के कारण हो सकते है।

असहिष्णुता के कारण– सर्वप्रथम, तो प्रत्येक नवीन धर्म पुरातन धर्म की आलोचना के साथ प्रारंभ होता है। इस ऐतिहासिक विकास के क्रम में परस्पर आलोचना–प्रत्यालोचना का जो क्रम चलता है, वह धर्मग्रन्थों और धर्मगाथाओं तक में निबद्ध हो जाता है और फिर धर्मों के मध्य शाश्वत् रूप से बना रहने वाला अंतराल बन जाता है। यह अंतराल पट भी जाए, तो तमाम कड़वी यादे छोड़ जाता है। ऐसे ही अंतराल धर्मों के प्रचार–प्रसार प्रभाव बढ़ाने के क्रम में भी पेदा होते रहे है। विशेषतः धर्म–परिर्वतन पर बल देने वाले धर्मों के साथ ऐसा प्रायः घटित होता दिखाई दे सकता है।

धार्मिकता की दूसरी बड़ी विड़म्बना यह है कि यह परिवार से जन्म लेती है। धर्म किसी व्यक्ति का बौद्धिक चयन नही, इसका पारिवारिक संस्कार होता है। हममें में से अधिकांश व्यक्ति किसी धर्म–विशेष को केवल इस कारण मान रहे होते है कि हमारे माता–पिता ने वह धर्म अपना रखा होता है। पांच वर्ष का शासन चुननें के लिए तो वयस्क होने तक प्रतिक्षा की जाती है, किन्तु जीवन भर का मार्ग अपनाने के लिए कम से कम उम्र में संस्कार डाल दिये जाने के प्रयास किये जाते है। यह मात्र पारिवारिक विरासत बन कर रह जाता है और परिवार अपने घरों की चार दिवारो की तरह धर्म को भी पुरानी चार दिवारों तक में सिमटे रखने की हर सम्भव कोशिश करते रहते हैं। परिवार में न तो कोई दूसरे धर्म का व्यक्ति होता है, न ही उसके प्रति कोई आदर। समाज वैज्ञानिकों का मानना है कि जिस दिन विवाह में धर्म (रिलिजन) बाधा न रह जाये, उस दिन सही मायने में धार्मिक सहिष्णुता और धार्मिक समभाव विकसित होगा।

सामाजिक दृष्टि से भी व्यक्ति प्रायः अपने सम्प्रदायों और मतों के साथ अपने को जोड़ कर रखने के आदि होते है। शायद ही कभी एक धर्म का व्यक्ति दूसरे के धर्म के विधानें–त्यौहारों में कोई सक्रिय भाग लेता हो और यदि ऐसा करें भी, तो उसकी निष्ठा प्रायः राजनितिक मान ली जाती है। ऐतिहासिक रूप से गठित साम्प्रदायिक संघर्षों के कारण भी ऐसा धार्मिक ध्रुवीकरण प्रबल हुआ है । हमारी सामाजिक परम्परा में आर्थिक संबंध भले ही व्यापक हों, पर आन्तरिक संबंध प्रायः धर्म की सीमाओं में बंध कर रह जाते है। सामान्य काल में तो हम उदारता की बातें करते है, किन्तु आपातकाल में बस अपने धर्म के सदस्य बनकर रह जाते है।

इन्हीं परिस्थितियों में राजनैतिक कारण भी प्रभावी हो जाते है। इतिहास साक्षी है कि शासन के पास जो शक्ति रही है, उससें भी प्रायः धार्मिक भेद–भाव बढ़ा है। दूसरी और यदि शासन को शक्ति देने वाली जनता में भी बहुमत किसी एक वर्ग का हो, तो तुष्टकीरण बढ़ जाता है, फलतः प्रतिक्रियातमक असष्णिुता बढ़ती जाती है।

धार्मिक असहिष्णुता की मानसिक कारण में धर्म की आत्म श्रेष्ठता की ग्रंथि और अन्य के प्रति तुच्छता का भाव प्रायः सर्वाधिक मुखर कारण के रूम में सामने आता रहता है। संभव है, हमें अन्यों की कमियों के सापेक्ष अपने धर्म में भी कमियां दिखाई देने लगें, लेकिन जैसे ही कोई पराया उस पर आक्षेप करेगा, हम तत्काल उसकी प्रतिरक्षा में सन्नद्ध हो जाते है। आस्थापरक होने के कारण हम उन विसंगतियों के प्रति अंधे तथा आपतियों के प्रति उग्र हो जाते है।

सर्वधर्म–समभाववाद, धार्मिक बहुत्ववाद से घनिष्ठ रूप से जुड़ा अवश्य है, किन्तु उसका पर्याय नहीं है। इनमें प्रथम मुख्यतः पाश्चातयः अवधारणा है, जबकि द्वितीय मुख्यतः पूर्वी या भारतीय अवधारणा, धार्मिक बहुत्ववाद का बल धर्मों के विविधतापूर्ण सह–अस्तित्व पर है, जबकि धार्मिक समभाव का विविध धर्मों समादर है। प्रथम का बल धर्मों के सीमाकंन पर है, जबकि द्वितीय का बल धर्मों के समन्वयन पर है। धार्मिक बहुत्ववाद का जो संबंध धार्मिक स्वतंत्रता से है, वही संबंध धार्मिक समभाव का धार्मिक समानता से है।

(ii) सर्वधर्मसमभाव की सनातनी संस्कृति

धार्मिक सह–अस्तित्ववाद का दार्शनिक रूप से उद्‌भव पश्चिम में मूलतः आधुनिक युग में ही हुआ माना जाता है और पाश्चात्य दर्शन की दृष्टि से लगभग सही भी है। संसार के एकेश्वरवादी धर्मों में अन्य के प्रति समादर तो दूर सहिष्णुता तक का भाव सबसे कम पाया जाता है। इस दृष्टि से भारतीय उप महाद्वीप अपनी विविध विसंगतियों के बावजूद श्रेष्ठतमः दृष्टांत प्रस्तुत करता रहा है। सनातन धर्म के विकास का इतिहास स्वंय ही धार्मिक समभाव का इतिहास रहा है। जिसे हम धार्मिक एकता की अध्याय में देख भी चुके है। सनातन धर्म केवल स्वंय में आंतरिक रूप से भिन्न मतों का धारक नही रहा है, अपितु अन्य धर्मों के प्रति भी आदर परक रहा है। जैन धर्म के प्रथम प्रर्वतक ऋषभदेव को हिन्दू धर्म के चौबिस अवतारों में तथा बौद्धधर्म के प्रर्वतक गौतम बुद्ध को दस अवतारों में परिगणित किया गया है। भविष्य पुराण में ईसामसीह तथा हजरत मौहम्मद तक को ईश्वर रूप या ईश्वर दूत के रूप में प्रतिष्ठा दी गई है। उसके लिए कबीर भी पूज्य है और नानक भी । ''एकम् सद् विप्रा बहुधा वदंति' का उद्‌घोष करने वाले इस धर्म की एक प्रसिद्ध उक्ति है–

रूचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिल नानापथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसार्णवमिव।।

अर्थात् सबकी रूचियाँ भिन्न है, इसलिए सबके पंथ भिन्न है। हे ईश्वर! इस प्रकार सभी मानवों का तू ही गंतव्य है, ठीक वैसे ही जैसे सब नदियाँ एक सागर में जा मिलती है।

कन्फूशियस, शिन्तों तथा बौद्धधर्म भी धार्मिक समभाव के अनन्य दृष्टांत है। चीन, जापान व दक्षिणी एशियाई देशों में यह धर्म परस्पर इस प्रकार सह–अस्तित्व कायम किये हुये है कि वहां एक ही आदमी दो दो धर्म एक साथ मानते दिख सकता है। जापान में एक व्यक्ति जीवन में शिन्तों तथ मृत्यों के संबंध में बौद्ध धर्म अपनाते हुए दिख सकता है। आम जैनी को हम हिन्दु मंदिरों में जाते और हिन्दु पर्व त्यौहार मनाते सरलता देख सकते है। यह उनके सापेक्षवाद व स्याद्वाद् के अनुरूप ही है। बहाई धर्म में भी प्रायः यही विचारधारा है।

भारतीय और चीनी परिक्षेत्र इन मामलो में श्रेष्ठ दृष्टांत प्रस्तुत करते है। चीन में कन्फयूशियस और ताओ धर्म सहस्त्राब्दियों से बिना संघर्ष सह–अस्तित्व बनाए रहे, जबकि दोनो की धारणाएँ प्रायः परस्पर विपरीत है। भारत से गए बौद्ध धर्म को भी वहाँ बिना किसी दुराग्रह के स्वीकार किया गया। भारतीय परम्परा में हिन्दु तथा जैन धर्म ने इसके शिखर मानदण्ड स्थापित किए। हिन्दु धर्म प्रारम्भ से ही बहुत्ववादी और समन्वयवादी था, जिसके दृष्टान्त हम धार्मिक एकता के अध्याय में देख चुके हैं। जैन धर्म ने अपने अनेकांतवाद व सापेक्षिकतावाद से इस मार्ग को प्रशस्त किया।

सर्वधर्म–समभाव ने धर्मों के सह अस्तित्ववाद का मार्ग प्रशस्त किया है। इसे हमें बहुसंस्कृतिवाद के रूप में भी देखना चाहिए, क्योंकि धर्म का एक बड़ा भाग वहाँ की संस्कृति से जुड़ा होता है। सच कहें, तो धार्मिक संघर्ष का निदान या तो सर्वधर्म–समभाव है या फिर धर्म निरपेक्षता। सर्वधर्म–समभाव को हम धर्मनिरपेक्षता का ही भावात्मक पक्ष मान लेते है या फिर धर्मनिरपेक्षता को सर्वधर्म–समभाव का निषेधात्मक पक्ष। दोनो सम्मान महत्व है। राज्य के स्तर पर तो धर्मनिरपेक्षता रहे और व्यक्ति के स्तर पर सर्वधम–समभाव, यही श्रेष्ठ विकल्प है।

विभिन्न धर्मों में सार्वभौमिक जीवन दृष्टि– भारतीय अवधारणा में धर्म का अर्थ नैतिक कर्म से आबद्ध है और इस हेतु प्रत्येक प्राणी मात्र, अवस्था एवं परिस्थितिजन्य धार्मिक उत्तरदायित्व निर्धारित किये गये है। परन्तु पश्चिम में उक्त धारणा को आध्यात्म की ओर दिशा दे दी, जिससे पूजा पद्धति, प्रवर्तक की शिक्षाएं एवं उसका अनुसरण धर्म (रिलिजन) का आधार बनते गये। यद्यपि सभी धर्मो में मूल तत्व ईश्वर है। अध्यात्म की दृष्टि से प्रमुख रूप से धर्म को भारतीय सनातन विचारधारा एवं अब्रहमिक विचारधारा में विचारित किया जा सकता है। भारतीय विचारधारा में धर्म का अर्थ शाश्वत नैतिक नियम एवं सतत् विकासशीलता है। इसमें धर्म एवं कर्म की धारणाएं प्रमुख है। विश्व एवं मानव कल्याण भारतीय सनातन धर्म की सुरभी है इनमें प्रमुखतः हिन्दू (सनातन), सिख, जैन एवं बौद्ध मतों को सम्मिलित किया जाता है। दूसरी ओर अब्रहमिक विचार ऐकेश्वरवाद पर ही अवलम्बित है परन्तु उक्त में ईश्वर द्वारा पैगम्बर पर पवित्र पुस्तक, जिसमें मानव एवं सृष्टि संचालन के सभी नियम होते हैं, भेजी गई है। इस मत के अनुयायी अपने पैगम्बर एवं पवित्र पुस्तक जो कि ईश्वरीय कथन है के अनुरूप जीवन यापन करते है। इस विचार में प्रमुख रूप से यहूदी, मसीही, और इस्लाम आदि सम्मिलित है। उक्त प्रमुख आध्यात्मिक मतों के अतिरिक्त चीन–जापान में शीन्तों, ताओ, कन्फूशीवाद, ईरान का फारसी मत भी कुछ विद्वानों द्वारा धर्म (रिलिजन) की श्रेणी में लिया जाता है।

हिन्दू अथवा सनातन धर्म– हिन्दू धर्म नाम से किसी सम्प्रदाय को निरूपित नहीं किया जाता वरन् उक्त एक जीवन पद्धति का नाम है, जो सनातन काल से ही मानवकल्याण की दिशा मानव एवं विश्व को जीवन दर्शन देती आयी है। इसे वैदिक धर्म भी कहा जाता है परन्तु इसे केवल वैदिक विचार में ही आबद्ध नहीं किया जा सकता वरन् इसमें परिमार्जन ही, इसकी सनातनी स्वरूप को बनाए रखता है। इसलिये इसे साम्प्रदाय नहीं कहा जा सकता। इसे ''श्रुति–स्मृति–पुराणेक्त'' कहकर परिभाषित किया जाता है। उपनिषदों की दृष्टि से सम्पूर्ण जगत ब्रहा का ही एक रूप है और ये परम सत्ता ही सत्य है, परन्तु व्यक्तिगत मनोविज्ञान के आधार पर पर प्रत्येक व्यक्ति अपनी अभिरूचियों के आधार पर ईश्वर का प्रारंभिक स्वरूप बना लेता है परन्तु यह अपेक्षा की जाती है कि व्यक्ति अपने ईष्ट देवता, जिसे वह अपनी अभिरूची के अनुकूल पाता है, एक परम तत्त्व को ही देखे एवं समझे। सनातन (हिन्दू) धर्म के दो पक्ष है (1) विचार पक्ष एवं (2) आचार पक्ष । विचार पक्ष कर दृष्टि से इसके सांस्कृतिक गूढ़ दार्शनिक स्वरूप को देखा जाता है। प्रमुख छह दर्शन न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमींसा एवं उत्तर मीमांसा। ईश्वर हेतु इस जीवन पद्धति में तीन मार्ग ज्ञान, भक्ति, एवं कर्म तीन मार्ग बताए गये है। ज्ञाप मार्ग दर्शन एवं तर्क पर आधारित है। भक्ति मार्ग में प्रेम की अभिव्यक्ति हेतु ईश्वर से संबंध यथा पिता, भ्राता, माता अथवा प्रेमी के रूप में देख कर आसक्ति की अभिव्यक्ति होती है। कर्ममार्ग कर्मकाण्ड अथवा अनासक्ति का मार्ग है, विधि विधान का रास्ता है।

इस सांस्कृतिक जीवन में धर्म के आचरण पक्ष पर भी महत्व दिया गया है। अपने जीवन को धर्म अनुरूप जीने के लिये चार पुरूषार्थ, चार वर्ण एवं चार आश्रम का सिद्धान्त दिया गया है। चार पुरूषार्थ में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष, चार वर्ण जो सामाजिक व्यवस्था हेतु कार्य के आधार पर निर्धारित होते थे, वे है ब्राहाम्ण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र। इसी प्रकार आश्रम जीवनकाल को ब्रहाचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम है। जो आयु अनुरूप मनुष्य के लिये उत्तरदायित्व नियत करते

है। हिन्दु धर्म में मानव कल्याण का लक्ष्य स्पष्ट दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार पर्वत से विभिन्न नदियां निकल कर सागर में जाकर एक साथ समाहित हो जाती है। उपासना मार्ग पृथक पृथक हो सकते है, पर अंतिम लक्ष्य सत्य अर्थात ईश्वर की प्राप्ति होता है।

बौद्धधर्म

बौद्धधर्म भारतीय सनातनी परम्परा का महत्वपूर्ण धर्म है, जिसके प्रवर्तक कपिलवस्तु के राजकुमार सिद्धार्थ थे, जिन्हें ज्ञान प्राप्ति के बाद बुद्ध कहा गया। बुद्ध के अनुसार मानव जीवन दुःखों से भरा हुआ है। बौद्ध धर्म में चार आर्य सत्य माने गये है– (1) दुःख है (2) दुःख का कारण है (3) दुःख का निरोध है एवं (4) दुःख निरोध का मार्ग है। दुःख से मुक्ति के लिये बौद्ध अष्टांग मार्ग बताते है। बौद्ध धर्म के अनुसार, चौथे आर्य सत्य का मार्ग अष्टांग मार्ग है वहीं दुःख निरोध पाने का रास्ता है। गौतम बुद्ध कहते थे कि चार आर्य सत्य की सत्यता का निश्चय करने के लिए इस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

1. **सम्यक दृष्टि–** चार आर्य सत्य में विश्वास करना
2. **सम्यक संकल्प–** मानसिक और नैतिक विकास की प्रतिज्ञा करना
3. **सम्यक वाक–** हानिकारक बातें और झूठ न बोलना
4. **सम्यक कर्म–** हानिकारक कर्मों को न करना
5. **सम्यक जीविका–** कोई भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हानिकारक व्यापार न करना
6. **सम्यक व्यायाम–** अपने आप सुधरने की कोशिश करना
7. **सम्यक स्मृति–** स्पष्ट ज्ञान से देखने की मानसिक योग्यता पाने की कोशिश करना
8. **सम्यक समाधि–** निर्वाण पाना और स्वयं का गायब होना

मार्ग को तीन हिस्सों में वर्गीकृत किया जाता है वे त्रिरत्न कहलाते है– प्रज्ञा, शील और समाधि। शील का अर्थ है सात्विक कर्म करना।

बौद्धमत में की विशेषता उसका कर्म सिद्धान्त है उसके अनुसार '' अपने कर्मो के अन्तर के कारण मनुष्य एक समान नहीं होते। कुछ दीर्घायु, कुछ अल्पायु, कुछ स्वस्थ कुछ अस्वस्थ होते है।'' किन्तु कर्म का यह नियम यान्त्रिक रूप से कार्य नही करता वरन् मनुष्य स्वयं ही अपने कर्मो अपना भविष्य बनाता है। कर्म से ही मनुष्य निर्वाण की प्राप्ति करता है। निर्वाण के बाद पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति मिल जाती है। बौद्धधर्म का लक्ष्य भी मानव कल्याण, कर्म शुद्धि, दुःख निवारण एवं निर्वाण ही है।

जैन–

भारतीय सनातनी परम्परा में जैन मत का स्थान महत्वपूर्ण है। भारतीय सामजिक ढ़ांचे में इसे हिन्दु धर्म का ही एक अंग माना जाता है। ''जैन'' का अर्थ है – ''जिन द्वारा प्रवर्तित ''। ''जैन'' कहते हैं उन्हें, जो ''जिन'' के अनुयायी हों। ''जिन'' शब्द बना है ''जि'' धातु से। ''जि'' माने–जीतना। ''जिन'' माने जीतने वाला। जिन्होंने अपने मन को जीत लिया, अपनी वाणी को जीत लिया और अपनी काया को जीत लिया, वे हैं ''जिन''। जैन धर्म में अहिंसा को परम धर्म माना जाता है। जैन धर्म में श्रावक और मुनि दोनों के लिए पाँच व्रत बताए गए है। तीर्थंकर आदि महापुरुष जिनका पालन करते है, वह पंच महाव्रत कहलाते है –

- **अहिंसा–** किसी भी जीव को मन, वचन, काय से पीड़ा नहीं पहुँचाना।
- **सत्य–** हित, मित, प्रिय वचन बोलना।
- **अस्तेय–** बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण नहीं करना।
- **ब्रह्मचर्य–** मन, वचन, काय से मैथुन कर्म का त्याग करना।
- **अपरिग्रह–** पदार्थों के प्रति ममत्वरूप परिणमन का बुद्धिपूर्वक त्याग।

मुनि इन व्रतों का सूक्ष्म रूप से पालन करते है, वही श्रावक स्थायी रूप से करते है।

जैन धर्म में जिन या अरिहन्त और तीर्थंकर की आराधना करते हैं और उन्हीं के निमित्त मंदिर आदि बनवाते हैं। जगत् का न तो कोई हर्ता है और न जीवों को कोई सुख दुःख देनेवाला है। अपने अपने कर्मों के अनुसार जीव सुख दुःख पाते हैं। जीव या आत्मा का मूल स्वभान शुद्ध, बुद्ध, सच्चिदानंदमय है, केवल पुदगल या कर्म के आवरण से उसका मूल स्वरुप आच्छादित हो जाता है। जिस समय यह पौद्‌गलिक भार हट जाता है उस समय आत्मा परमात्मा की उच्च्व दशा को प्राप्त होता है।

जैन मत ''स्यादवाद'' के नाम से भी प्रसिद्ध है। ''स्याद'' का अर्थ है अनेकांतवाद अर्थात् एक ही पदार्थ में नित्यत्व और अनित्यत्व, सादृश्य और विरुपत्व, सत्व और असत्व, अभिलाष्यत्व और अनभिलाष्यत्व आदि परस्पर भिन्न धर्मों का सापेक्ष स्वीकार। इस मत के अनुसार आकाश से लेकर दीपक पर्यंत समस्त पदार्थ नित्यत्व और अनित्यत्व आदि उभय धर्म युक्त है।

जैन धर्म में 24 तीर्थकंर है, जो इसे स्थापित करने वाले है प्रथम ऋषभदेव जिन्हें आदिनाथ कहा जाता है और 24 वें महावीर स्वामी है। श्री मद्‌भाग्वत में ऋषभदेव को विष्णु का आंठवा अवतार बताया गया है। अर्थात उक्त मत हिन्दु सनातनी मत के साथ रचा बसा है। अहिंसा को सर्वोपरी मानने वाले जैन मत में चार कषाय है तो बंधन के कारण माने जाते है –क्रोध, मान, माया, जिनके कारण कर्मों का आस्रव जीव की ओर होता है।

सिख–

हिन्दु सनातनी परम्परा का मत सिख धर्म (सिखमत और सिखी भी कहा जाता है) एक एकेश्वरवादी धर्म है। इस धर्म के अनुयायी को सिख कहा जाता है। सिखों का धार्मिक ग्रन्थ श्री आदि ग्रंथ या ज्ञान गुरु ग्रंथ साहिब है। आमतौर पर सिखों के 10 सतगुरू माने जाते हैं, लेकिन सिखों के धार्मिक ग्रंथ में 6 गुरुओं सहित 30 भगतों की बानी है, जिन की सामान सिख्याओं (शिक्षाओं) को सिख मार्ग पर चलने के लिए महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सिखों के धार्मिक स्थान को गुरुद्वारा कहते हैं।

1469 ईस्वी में पंजाब में जन्मे नानक देव ने गुरूमत को खोजा और गुरूमत की सिख्याओं को देश देशांतर में खुद जा जा कर फैलाया था। सिख उन्हें अपना पहला गुरु मानते हैं। गुरूमत का परचार बाकि 9 गुरुओं ने किया। 10 वें गुरु गोबिन्द सिंह जी ने ये प्रचार खालसा को सोंपा और ज्ञान गुरु ग्रंथ साहिब की शिक्षाओं (सिख्याओं) पर अमल करने का उपदेश दिया। संत कबीर, धना, साधना, रामानंद, परमानंद, नामदेव इत्यादी, जिन की बाणी आदि ग्रंथ में दर्ज है, उन भगतों को भी सिख सत्गुरुओं के समान मानते हैं और उन कि शिक्षाओं पर अमल करने कि कोशिश करते हैं। सिख एक ही ईश्वर को मानते हैं, जिसे वे एक–ओंकार कहते हैं। उनका मानना है कि ईश्वर अकाल और निरंकार है। सिखों के प्रथम गुरु, गुरुनानक देव सिख पंथ के प्रवर्तक हैं। उन्होंने अपने समय के भारतीय समाज में व्याप्त कुप्रथाओं, अंधविश्वासों, जर्जर रूढ़ियों और पाखण्डों को दूर करते हुए जन–साधारण को धर्म के ठेकेदारों, के चंगुल से मुक्त किया। उन्होंने प्रेम, सेवा, परिश्रम, परोपकार और भाई–चारे की दृढ़ नीव पर सिख धर्म की स्थापना की। उदारवादी दृष्टिकोण से गुरुनानक देव ने सभी धर्मों की अच्छाइयों को समाहित किया। उनका मुख्य उपदेश था कि ईश्वर एक है, उसी ने सबको बनाया है। हिन्दू मुसलमान सभी एक ही ईश्वर की संतान हैं और ईश्वर के लिए सभी समान हैं। उन्होंने यह भी बताया है कि ईश्वर सत्य है और मनुष्य को अच्छे कार्य करने चाहिए ताकि परमात्मा के दरबार में उसे लज्जित न होना पड़े।

यहूदी–

यहूदी धर्म इस्राइल और हिब्रूभाषियों का राजधर्म है और इसका पवित्र ग्रंथ तनख– बाइबिल (ओल्ड टेस्टामेंट) का प्राचीन भाग माना जाता है। धार्मिक पैगम्बरी मान्यता मानने वाले धर्म इस्लाम और ईसाई धर्म का आधार इसी परम्परा और विचारधारा को माना जाता है। इस धर्म में एकेश्वरवाद और ईश्वर के दूत यानि पैगम्बर की मान्यता प्रधान है। अपने लिखित इतिहास की वजह से ये कम से कम 3000 साल पुराना माना जाता है। बाबिल (बेबीलोन) के निर्वासन से लौटकर इजरायली जाति मुख्य रूप से यरूसलेम तथा उसके आसपास के ''यूदा'' (Judah) नामक प्रदेश में बस गई था, इस कारण इजरायलियों के इस समय के धार्मिक एवं सामाजिक संगठन को यूदावाद (यूदाइज्म / Judaism) कहते हैं।

किसी भी प्रकार की मूर्तिपूजा का विरोध यहूदियो की विशेषता है। यहूदी मान्यताओं के अनुसार ईश्वर एक है और उसके अवतार या स्वरूप नहीं है, लेकिन वो दूत से अपने संदेश भेजता है। ईसाई और इस्लाम धर्म भी इन्हीं मान्यताओं पर आधारित है पर इस्लाम में ईश्वर के निराकार होने पर अधिक जोर डाला गया है। यहूदियों के अनुसार मूसा को ईश्वर का संदेश दुनिया में फैलाने के लिए मिला था जो लिखित (तनाख) तथा मौखिक रूपों में था। यहूदीमत के नबियों में हजरत मूसा, हजरत इब्राहिम तथा हजरत नूवा माने जाते है। यहूदी धर्मग्रंथ इब्रानी भाषा में लिखा गया तनख है, जो असल में ईसाइयों की बाइबल का पूर्वार्ध है। इसे पुराना नियम (ओल्ड टेस्टामेन्ट) कहते हैं। वह निम्नलिखित मौलिक सिद्धांतों पर आधारित है –

1. एक ही सर्वशक्तिमान् ईश्वर को छोड़कर और कोई देवता नहीं है।
2. ईश्वर एक न्यायी एवं निष्पक्ष न्यायकर्ता है।
3. ईश्वर इस जीवन में ही अथवा परलोक में भी पापियों को दंड और अच्छे लोगों को इनाम देता है।
4. ईश्वर, स्वर्ग, पृथ्वी तथा सभी चीजों का सृष्टिकर्ता है। सृष्टि ईश्वर का कोई रूपांतर नहीं है क्योंकि ईश्वर की सत्ता, सृष्टि से सर्वथा भिन्न है।
5. समस्त मानव जाति की मुक्ति हेतु अपना विधान प्रकट करने के लिये ईश्वर ने यहूदी जाति को चुन लिया है। यह जाति अब्राहम से प्रारंभ हुई थी (दे0 अब्राहम) ।
6. मसीह का भावी आगमन यहूदी जाति के ऐतिहासिक विकास की पराकाष्ठा होगी। मसीह समस्त पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य स्थापित करेंगे और मसीह के द्वारा ईश्वर यहूदी जाति के प्रति उपनी प्रतिज्ञाएं पूरी करेगा।
7. मूसा संहिता यहूदियों के आचरण तथा उनके कर्मकांड का मापदंड था किंतु उनके इतिहास में ऐसा समय भी आया जब वे मूसासंहिता के नियमों की उपेक्षा करने लगे। ईश्वर तथा उसके नियमों के प्रति यहूदियों के इस विश्वासघात के कारण उनको बाइबिल के निर्वासन का दंड भोगना पड़ा।

यहूदी धर्म की उपासना येरूसलेम के महामंदिर में केंद्रीभूत थी। मंदिर के धार्मिक अनुष्ठान तथा त्योहारों के अवसर पर उसमें आजतक भी यहूदी धर्मावलंबी सच्चे मसीह की राह देख रहे हैं। संत पॉल के अनुसार यहूदी जाति किसी समय ईसा को मसीह के रूप में स्वीकार करेगी।

ईसाई या मसीही–

ईसाई धर्म या मसीही धर्म या मसीहयत (christianity) तौहीदी और अब्राहीमी नाम से जाना जाने वाले इस पंथ के अनुयायी ईसाई कहलाते हैं। ईसाई धर्म के पैरोकार ऐसी मसीह की आज्ञाओं पर अमल करते हैं। ईसाईयों में बहुत से समुदाय हैं मसलन कैथोलिक, प्रोटैस्टैंट, आर्थोडोक्स, मॉरोनी, एवनजीलक आदि। ईसाई एकेश्वरवादी हैं, लेकिन वे ईश्वर को त्री–एक के रूप में समझते हैं– परमपिता परमेश्वर, उनके पुत्र ईसा मसीह (यीशु मसीह) और पवित्र आत्मा। अब्राहमी विचार के पंथों में यह मत के प्रवर्तक मसीह (यीशु) एक यहूदी थे जो इस्राइल इजराइल के गाँव बेत्लहम में जन्मे थे (4 ईसा पूर्व)। ईसाई मानते है कि उनकी माता मारिया (मरियम) कुवांरी (वर्जिन) थीं। ईसा उनके गर्भ में परमपिता परमेश्वर की कृपा से चमत्कारिक रूप से आये थे। ईसा के बारे में यहूदी नबियों ने भविष्यवाणी की थी कि एक मसीहा (अर्थात ''राजा'' या तारणहार) जन्म लेगा। कुछ लोग ये मानते हैं कि ईसा भारत भी आये थे। बाद में ईसा ने इजराइल में यहूदियों के बीच प्रेम का संदेश सुनाया और कहा कि वो ही ईश्वर के पुत्र हैं। इन बातों पर पुराणपंथी यहूदी धर्मगुरु भड़क उठे और उनके कहने पर इजराइल के रोमन राज्यपाल ने ईसा को क्रूस पर चढ़ कर मरने का प्राणदण्ड दे दिया। ईसाई मानते हैं कि इसके तीन दिन बाद ईसा का पुनरुत्थान हुआ या ईसा पुनर्जीवित हो गये। ईसा के उपदेश बाइबिल के नये नियम में उनके शिष्यों द्वारा रेखांकित किये गये हैं। इन उपदेशों के अनुसार परमपिता इस सृष्टि के रचयिता हैं और इसके शासक भी। ईसा मसीह स्वयं परमेश्वर थे जो पतन हुए (पापी) सभी मनुष्यों को पाप और मृत्यु से बचाने के लिए जगत में देहधारण होकर (देह में होकर) आए थे और परमेश्वर जो आत्मा हैं, ने एक देह में प्रगट हुए ताकि पापी मनुष्यों को नहीं परन्तु मनुष्यों के अन्दर के पापों को खत्म करें। वे इस पृथ्वी पर पहले ऐसे ईश्वर थे जो पापी, बीमार, मूर्खों और सताए हुए का पक्ष लिया और उनके बदले में पाप की कीमत अपनी जान देकर चुकाई ताकि मनुष्य बच सकें । हमारे पापों की सजा यीशु मसीह ने चूका दिए इसलिए हमें पापों से क्षमा मिलती है। यह पापी मनुष्य और पवित्र परमेश्वर के मिलन का मिशन था जो प्रभु यीशु के कुरबानी से पूरा हुआ । एक श्रृष्टिकर्ता परमेश्वर हो कर उन्होंने पापियों को नहीं मारा परन्तु पाप का इलाज किया। ईसाईयत की प्रमुख पुस्तक पवित्र बाइबिल है। यह पंथ प्रेम एवं क्षमा के आधार पर मानवता से पाप को समाप्त करने का लक्ष्य रखता है।

इस्लाम–

इस्लाम अब्राहमी श्रृंखला का एक एकेश्वरवादी धर्म है, जो इसके अनुयायियों के अनुसार, अल्लाह के अंतिम रसूल और नबी, मुहम्मद द्वारा मनुष्यों तक पहुंचाई गई अंतिम ईश्वरीय पुस्तक कुरान की शिक्षा पर आधारित है। मुसलमान एक ही ईश्वर को मानते हैं, जिसे वे अल्लाह (फारसी में खुदा) कहते हैं। एकेश्वरवाद को अरबी में तौहीद कहते हैं, जो शब्द वाहिद से आता है, जिसका अर्थ है एक। इस्लाम में ईश्वर को मानव की समझ से परे माना जाता है। मुसलमानों से ईश्वर की कल्पना करने के बजाय उसकी प्रार्थना और जय–जयकार करने को कहा गया है। ईश्वर एक और अनुपम, सनातन, सदा से सदा तक जीने वाला है, न उसे किसी ने जना और न ही वो किसी का जनक है एवं उस जैसा कोई और नहीं है।"

इस्लाम के अनुसार ईश्वर ने धरती पर मनुष्य के मार्गदर्शन के लिये समय समय पर किसी व्यक्ति को अपना दूत बनाया। यह दूत भी मनुष्य जाति में से होते थे और ईश्वर की ओर लोगों को बुलाते थे। ईश्वर इन दूतों से विभिन्न रूपों से सम्पर्क रखता था। इन को इस्लाम में नबी कहते हैं। जिन नबियों को ईश्वर ने स्वयं, शास्त्र या धर्म पुस्तकें प्रदान कीं उन्हें रसूल कहते हैं। मुहम्मद भी इसी कड़ी का भाग थे। उनको जो धार्मिक पुस्तक प्रदान की गयी उसका नाम कुरान है। सभी मुसलमान ईश्वर द्वारा भेजे गये सभी नबियों की वैधता स्वीकार करते हैं और मुसलमान, मुहम्मद को ईश्वर का अन्तिम नबी मानते है।

इस्लाम के 5 स्तंभ हैं–

1. साक्षी होना (शहादा)– इस का शाब्दिक अर्थ है गवाही देना। इस्लाम में इसका अर्थ मे इस अरबी घोषणा से है (अल्लाह् के सिवा और कोई परमेश्वर नहीं है और मुहम्मद अल्लाह के रसूल है) इस घोषणा से हर मुसलमान ईश्वर की एकेश्वरवादिता और मुहम्मद के रसूल होने के अपने विश्वास की गवाही देता है। यह इस्लाम का सबसे प्रमुख सिद्धांत है। हर मुसलमान के लिये अनिवार्य है कि वह इसे स्वीकारे।

2. प्रार्थना (सलात)– इसे फारसी में नमाज भी कहते हैं। यह एक प्रकार की प्रार्थना है जो अरबी भाषा में एक विशेष नियम से पढ़ी जाती है। इस्लाम के अनुसार नमाज ईश्वर के प्रति मनुष्य की कृतज्ञता दर्शाती है। यह मक्का की ओर मुँह कर के पढ़ी जाती है। हर मुसलमान के लिये दिन में 5 बार नमाज पढ़ना अनिवार्य है। विवशता और बीमारी की हालत में इसे नहीं टाला जा सकता है।

3. रोजे रखना (रमजान में)– इस के अनुसार इस्लामी कैलेंडर के नोवें महीने (रमजान) में सभी सक्षम मुसलमानों के लिये आवश्यक (फरज) सूर्योदय से पूरब (मगरिब) से सूर्यास्त तक व्रत रखना अनिवार्य है। इस व्रत को रोजा भी कहते हैं। रोजे में हर प्रकार का खाना–पीना वर्जित है। अन्य व्यर्थ कर्मों से भी अपने आप को दूर रखा जाता है। यौन गतिविधियाँ भी वर्जित हैं। विवशता में रोजा रखना आवश्यक नहीं होता। रोजा रखने के कई उद्देश्य हैं जिन में से दो प्रमुख उद्देश्य यह हैं कि दुनिया

के बाकी आकर्षणों से ध्यान हटा कर ईश्वर से निकटता अनुभव की जाए और दूसरा यह कि निर्धनों, भिखारियों और भूखों की समस्याओं और परेशानियों का ज्ञान हो।

4 दान (जकात)— यह एक वार्षिक दान है जो कि हर आर्थिक रूप से सक्षम मुसलमान को निर्धन मेसलमानों में बांटना अनिवार्य है। अधिकतर मुसलमान अपनी वार्षिक आय का पांचवा हिस्सा दान में देते हैं। यह एक धार्मिक कर्तव्य इस लिये है क्योंकि इस्लाम के अनुसार मनुष्य की पूंजी वास्तव में ईश्वर की देन है। और दान देने से जान और माल कि सुरक्षा होती हे।

5. तीर्थ यात्रा (हज)— हज उस धार्मिक तीर्थ यात्रा का नाम है जो इस्लामी कैलेण्डर के 12वें महीने में मक्का में जाकर की जाती है। हर समर्पित मुसलमान (जो हज का खर्च उठा सकता हो और विवश न हो) के लिये जीवन में एक बार इसे करना अनिवार्य है।

बहाई पंथ—

बहाई पंथ उन्नीसवीं सदी के ईरान में ई. 1844 मे स्थापित एक नया धर्म है जो एकेश्वरवाद और विश्वभर के विभिन्न धर्मों और पंथों की एकमात्र आधारशिला पर जोर देता है।

इसकी स्थापना बहाउल्लाह ने की थी और इसके मतों के मुताबिक दुनिया के सभी मानव धर्मों का एक ही मूल है। इसके अनुसार कई लोगों ने ईश्वर का संदेश इंसानों तक पहुँचाने के लिए नए धर्मों का प्रतिपादन किया जो उस समय और परिवेश के लिए उपयुक्त था। इस धर्म के अनुयायी बहाउल्लाह को पूर्व के अवतारोंकृष्ण, ईसा मसीह, मुहम्मद, बुद्ध, जरथुस्त्र, मूसा आदि की वापसी मानते हैं। समस्त पृथ्वी एक देश है और मानवजाति इसकी नागरिक है । बहाई धर्म के अनुयायी सम्पूर्ण विश्व के लगभग 180 देशों में समाज—नवनिर्माण के कार्यों में जुटे हुए हैं। बहाई धर्म में धर्म गुरु, पुजारी, मौलवी या पादरी वर्ग नहीं होता है। बहाई अनुयायी जाति, धर्म, भाषा, रंग, वर्ग आदि किसी भी पूर्वाग्रहों को नहीं मानते हैं।

इसके सिद्धांतों में प्रमुख हैं —ईश्वर एक है। सभी धर्मों का स्त्रोत एक है। विश्व शान्ति एवं विश्व एकता। सभी के लिए न्याय। स्त्री—पुरुष की समानता। सभी के लिये अनिवार्य शिक्षा। विज्ञान और धर्म का सामंजस्य। गरीबी और धन की अति का समाधान। भौतिक समस्याओं का आध्यात्मिक समाधान। सम्पूर्ण विश्व के बहाई अपना योगदान इस नई विश्व व्यवस्था में निम्नलिखित प्रयासों से कर रहे हैं। इस विश्वव्यापी कार्यक्रम को मनुष्य और समाज की ऐसी अवधारणा पर केंद्रित किया गया है जो अपनी प्रकृति में आध्यात्मिक है और मनुष्य को ऐसी क्षमता प्रदान करता है जो आध्यात्मिक और भौतिक विकास की प्रक्रिया में प्रखरता प्रदान करता है।

उपर्युक्त पंथों के अतिरिक्त भी बहुत से आध्यात्मिक आस्था एवं पूजा पद्धतियां के संसार में है परन्तु सभी पंथ का लक्ष्य मनुष्य को ईश्वर की दिशा में कल्याण की ओर ले जाना है। सभी मत ईश्वरीय सत्ता को किसी न किसी प्रकार से स्वीकारते है और अंतिम रूप से एकेश्वर के सिद्धान्त की ओर ले जाते है। नैतिक मूल्य से मानव को समूह में बांधे रखना एवं परस्पर प्रेम को स्थापित करना, मनुष्यों के मध्य भेद को कम करना तथा उनके जीवन संचालन को स्थाई स्वरूप प्रदान करना सभी मतों का लक्ष्य रहा है। पूजा अथवा उपासना पद्धतियों की भिन्नता, उनके लक्ष्य की भिन्नता का परिचायक नहीं है वरन् यह कथन सही है कि प्रत्येक पंथ या मत रूपी धारा ईश्वर रूपी सागर में मिलने की दिशा में मनुष्य को अग्रसर करती है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. अंग्रेजी का रिलिजन शब्द का अर्थ ही है ''एक साथ बांधना''। भारतीय अवधारणा में धर्म का अर्थ है धारण करना। फिर भी धार्मिक संघर्ष अथवा तनाव सही मायने में जातीय एवं सांस्कृतिक संघर्ष को धर्म या रिलिजन के साथ जोड़ कर उसे व्यापक स्वरूप दिया जाना है। जिस प्रकार धार्मिक कुरूतियों ने नये धर्मों (रिलिजन) को जन्म दिया, उसी प्रकार धार्मिक संघर्षों ने ही धर्म समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया।
2. धार्मिक सहिष्णुता और धार्मिक स्वतन्त्रता में धनात्मक संबंध अवश्य है, परन्तु दोनों एक नहीं है। प्रथम मुख्यतः वैचारिक अवधारणा है, जबकि द्वितीय विविध अवधारणा।
3. धर्म—सहिष्णुता में व्यक्ति धार्मिक बना रहता है, बस अन्य धर्मों के प्रति द्वेष भाव समाप्त कर लेता है।
4. धार्मिकता की दूसरी बड़ी विड़म्बना यह है कि यह परिवार से जन्म लेती है। धर्म किसी व्यक्ति का बौद्धिक चयन नही, इसका पारिवारिक संस्कार होता है
5. धार्मिक सहिष्णुता की आवश्यकता सबसे ज्यादा ऐसे कर्मकाण्डीय व औपचारिक विधानों के कारण है, जो आज या तो निरर्थक हो गए हैं या फिर दूसरों के लिए बाधक बन गए है।
6. धार्मिक बहुत्ववाद का बल धर्मों के विविधतापूर्ण सह—अस्तित्व पर है, जबकि धार्मिक समभाव का विविध धर्मों समादर है।
7. जैन धर्म के प्रथम प्रर्वतक ऋषभदेव को हिन्दू धर्म के चौबिस अवतारों में तथा बौद्धधर्म के प्रर्वतक गौतम बुद्ध को दस अवतारों में परिगणित किया गया है।
8. भारत में धर्म निरपेक्षता, जिसे पंथ निरपेक्षता के अनुरूप यदि माना जाए तो यह अर्वाचीन धारणा है। हमारी

धार्मिक एकता, सहिष्णुता, उदारता और समभाव की सतत् परम्परा इसका सुस्पष्ट प्रमाण है।

9. हिन्दू धर्म नाम से किसी सम्प्रदाय को निरूपित नहीं किया जाता वरन् उक्त एक जीवन पद्धति का नाम है, जो सनातन काल से ही मानवकल्याण की दिशा मानव एवं विश्व को जीवन दर्शन देती आयी है।

10. बुद्ध के अनुसार मानव जीवन दुःखों से भरा हुआ है। बौद्ध धर्म में चार आर्य सत्य माने गये हैः– (1) दुःख है (2) दुःख का कारण है (3) दुःख का निरोध है एवं (4) दुःख निरोध का मार्ग है।

11. बौद्धमत में की विशेषता उसका कर्म सिद्धान्त है उसके अनुसार '' अपने कर्मो के अन्तर के कारण मनुष्य एक समान नहीं होते।

12. अहिंसा को सर्वोपरी मानने वाले जैन मत में चार कषाय है तो बंधन के कारण माने जाते है –क्रोध, मान, माया, जिनके कारण कर्मों का आस्रव जीव की ओर होता है।

13. सिखों के प्रथम गुरु, गुरुनानक देव सिख पंथ के प्रवर्तक हैं। उन्होंने अपने समय के भारतीय समाज में व्याप्त कुप्रथाओं, अंधविश्वासों, जर्जर रूढ़ियों और पाखण्डों को दूर करते हुए जन–साधारण को धर्म के ठेकेदारों, के चंगुल से मुक्त किया।

14. इस्लाम अब्राहमी श्रृंखला का एक एकेश्वरवादी धर्म है, जो इसके अनुयायियों के अनुसार, अल्लाह के अंतिम रसूल और नबी, मुहम्मद द्वारा मनुष्यों तक पहुंचाई गई अंतिम ईश्वरीय पुस्तक कुरआन की शिक्षा पर आधारित है।

15. ईसाई एकेश्वरवादी हैं, लेकिन वे ईश्वर को त्री–एक के रूप में समझते हैं– परमपिता परमेश्वर, उनके पुत्र ईसा मसीह (यीशु मसीह) और पवित्र आत्मा।

अभ्यास के प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. रिलिजन शब्द का अर्थ है?
   (अ) एक साथ बांधना (ब) खोलना
   (स) पूजा करना (द) खेलना
2. सबसे पहले धार्मिकता जन्म लेती है ?
   (अ) परिवार से (ब) पड़ोस से
   (स) स्कूल से (द) किताब से
3. भारत से गये किस धर्म को चीन में स्वीकार किया ?
   (अ) बौद्ध (ब) जैन
   (स) ईसाई (द) यहूदी
4 निम्न में से कौनसा रिलिजन अब्रहामिक श्रेणी का नहीं है?
   (अ) सनातन (ब) इस्लाम
   (स) मसीही (द) यहूदी
5. जैन धर्म अनुसार कषाय कितने है ?
   (अ) चार (ब) तीन (स) दो (द) दस
6. एक औकांर के रूप में एकेश्वर कौनसा पंथ मानता है ?
   (अ) ईसाई (ब) बहावी
   (स) जैन (द) सिख
7. हजरत मूसा ने किस पंथ को बनाया ?
   (अ) यहूदी (ब) ईसाई
   (स) जैन (द) इस्लाम
8. बौद्ध धर्म में उल्लेखित आर्य सत्य कितने है ?
   (अ) दो (ब) चार
   (स) दस (द) पांच
9. ऋषभदेव जैन धर्म के कौनसे तीर्थकंर थे ?
   (अ) पहले (ब) दूसरे
   (स) सांतवें (द) चौबीसवें
10. पंथ में पुजारी, मौलवी, पादरी, ग्रंथी, धर्मगुरू नहीं होता ?
   (अ) सिख में (ब) हिन्दु में
   (स) बहावी में (द) इस्लाम में

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. धार्मिक समन्वय की अवधारणाएं कौनसी है ?
2. धार्मिक सहिष्णुता का तात्पर्य क्या है ?
3. धार्मिक बहुत्ववाद का क्या अर्थ है ?
4. चार पुरूषार्थ कौन कौन से है ?
5. बौद्ध धर्म के अनुसार आर्य सत्य कौनसे है ?
6. ''जिन'' शब्द का अर्थ क्या होता है ?
7. खालसा पंथ का प्रारंभ कौनसे सिख गुरू ने किया था ?
8. ओल्ड़टेस्टामेंट किस धर्म का धर्मग्रंथ है ?
9. एकेश्वरवाद को अरबी में क्या कहते है ?
11. बहाउल्लाह ने किस मत को प्रारंभ किया ?
12. राजा रखना किस धर्म हेतु आवश्यक है ?
13. किस धर्म के अनुयायी जकात निकालते है ?

14. सर्वधर्म समभाव क्या है ?
15. धार्मिक सहिष्णुता एवं सर्वधर्म समभाव समान है ? नहीं तो कोई एक कारण बताएं।
16. स्यादवाद किस धर्म की विशेषता है ?
17. सर्वधर्म समभाव का उदाहरण चीन कैसे है ?
18. किन्ही तीन अब्रहमिक अवधारणा के पंथों के नाम लिखे ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. हिन्दू एक धर्म नहीं जीवनशैली है कथन की पुष्टि करें ।
2. मसीही एवं इस्लाम में क्या समानताएं है कोई चार लिखे।
3. सभी धार्मिक मतो का लक्ष्य मानव कल्याण है किन्ही दो मतो का उदाहरण देकर पुष्ट करें।
4. धार्मिक सहिष्णुता की आवश्यकता क्यों है स्पष्ट कीजिये
5. अब्रहमिक सम्प्रदायों में पारस्परिक समानता उल्लेखित कीजिये ।
6. बौद्ध धर्म के अनुसार दुःख का निवारण कैसे संभव है ? उसके बताये मार्ग को बताईये।
7. धर्मबहुत्ववाद सें सर्वधर्म समभाव भिन्न है स्पष्ट कीजिये।
8. हिन्दुत्व एक जीवन शैली है न कि रिलिजन अपने शब्दों में सौदाहरण बताईये।
9. धार्मिकता की उत्पति जन्म से हो जाती है ? कथन से आप कितना सहमत है ? यदि हाँ तो इसके प्रभाव बताईये।
10. बहावी धर्म मानवतावाद की ओर एक कदम है, व्याख्या कीजिये।

निबंधात्मक प्रश्न–

1. धार्मिक असहिष्णुता के कारण तथा सहिष्णुता के उपाय पर विस्तृत व्याख्या कीजिये।
2. हिन्दू एक सम्प्रदाय नहीं है वरन् जीवन पद्धति है, कथन को स्पष्ट कीजिये एवं इस संस्कृति के धार्मिक समभाव के उदाहरणों को व्यक्त कीजिये।
3. धार्मिक समन्वय की प्रमुख अवधारणाऐं क्या है ? धार्मिक समभाव, धर्मनिरपेक्षता एवं बहुधर्मवाद से भिन्न है स्पष्ट कीजिये।
4. इस्लाम के उद्भव एवं उनकी प्रमुख शिक्षा को लिखिये तथा यह अन्य अब्रहमिक अवधारणा के सम्प्रदायों से कैसे भिन्न है उसे भी उल्लेखित कीजिये।
5. सिख पंथ कुरीतियों को दूर करने एवं भारतीय संस्कृति में परिष्कार के लिये बना। कथन की पुष्टि करते हुए सिख धर्म का परिचय दीजिये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों की उत्तर माला

1 (अ)	2 (अ)	3 (ब)	4 (स)	5 (अ)
6 (अ)	7 (अ)	8 (द)	9 (द)	10 (ब)

संदर्भ ग्रंथ

1. धर्म तत्त्व का दर्शन और मर्म– पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय (अखण्ड ज्योति संस्थान, मथूरा)
2. धर्म–दर्शन– डॉ. कृष्णा कांत पाठक (राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल)
3. धर्म–दर्शन– डॉ. रामनारायण व्यास (मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल)